है। रसबंध भी कषाय से होता है और असंवृत अनगार में कषाय की तीव्रता होती है।

कर्म–बंध के चार प्रकार हैं– प्रकृतिबंध, प्रदेशबंध, स्थितिबंध और अनुभागबंध। इनमें प्रकृति और प्रदेश बंध योग से होते हैं और स्थिति तथा अनुभागबंध कषाय से होते हैं। असंवृत अनगार का योग अशुभ होता है और कषाय तीव्र होते हैं। इसलिए वह चारों ही बंधों में वृद्धि करता है।

योग और कषाय की प्रवृत्ति प्रायः साथ ही होती है। दोनों के लिए एक शब्द का प्रयोग किया जाय तो 'लेश्या' शब्द का प्रयोग किया जा सकता है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि जैसी लेश्या होगी, वैसा ही कर्म बंधेगा।

असंवृत अनगार थोड़े प्रदेश वाले कर्म–दलिकों को बहुप्रदेशी दलिक बना लेता है। प्रदेश बंध योग से होता है और असंवृत अनगार में अशुभ योग विद्यमान रहता है।

असंवृत अनगार असातावेदनीय कर्म का बार–बार उपचय करता है। यहां यह आशंका की जा सकती है कि असातावेदनीय कर्म, सात कर्मों के अन्तर्गत वेदनीय कर्म में आ गया है। फिर उसे अलग क्यों कहा गया?

इसका उत्तर यह है कि असंवृत अनगार अत्यन्त दुःखी होता है, यह प्रकट करने के लिए असातावेदनीय कर्म का पृथक् उल्लेख किया है। इससे यह शिक्षा मिलती है कि असाता से बचने के लिए असंवृतपन का त्याग करना चाहिए।

यह सब वर्णन असंवृत अनगार को लक्ष्य करके किया गया है। जो पुरुष साधु होकर भी सुख की भ्रान्ति से आस्रव में प्रवृत्त होता है, उसके लिए शास्त्र कहता है– तू आस्रव की प्रवृत्ति में मत पड़। ऐसा करेगा तो दुःखी होगा। संसार के सुख की लालसा मिटने से पाप मिटता है। लेकिन आश्चर्य तो यह है कि संसार के सुख को दुःख रूप समझ लेने पर भी उसकी लालसा नहीं मिटती! इसी भ्रमणा के कारण पाप में पड़ना पड़ता है। उदाहरण के लिए अफीम समझिए। अफीमची सुख के लिए अफीम खाता है और समझता है कि मैं इस पर आधिपत्य रखूंगा लेकिन अफीम उसी पर कब्जा कर लेती है और वह उसके अधीन होकर दुःखी बन जाता है। जुआ, वेश्या सेवन आदि दुर्व्यसनों में भी सुख की लालसा से ही प्रवृत्ति की जाती है, लेकिन जुआरियों और वेश्यागामियों का जीवन स्पष्ट बतलाता है कि वे किस बुरी तरह आपदाओं में पड़कर घोर दुःख के भागी होते हैं। उनकी विवेकहीन प्रवृत्ति सुख के बदले दुःख के पहाड़ उनके सिर पर पटक देती है। अतएव सुख की

भ्रमणा में पड़कर दुःख के कारणभूत असंवृतपन को अंगीकार करना घोर अज्ञान है। उससे यत्नपूर्वक साधुओं को सदा बचते रहना चाहिए।

यह वर्णन करके भगवान् ने आस्रव द्वार की प्रवृत्ति से डराया है। क्या भगवान् डराते हैं? वे अभयंकर होते हैं, वे भय को भंजन करते हैं। मगर मुनि के निमित्त से कोई भयभीत हो जाय तो मुनि को प्रायश्चित्त लगता है। फिर भगवान् ने क्यों डराया है? यह प्रश्न किसी को उठ सकता है। मगर देखना यह चाहिए कि भगवान् का वास्तविक उद्देश्य क्या है? भगवान् ने किन बातों से डराया है? धर्म से डराने और पाप से डराने में बहुत अन्तर है। भगवान् ने यह सूत्र पाप से डराने के लिए कहे हैं, जिससे सामान्यलोग पाप से दूर रहें और अकल्याण से बच जाएं। वस्तु के स्वरूप का यथातथ्य वर्णन कर देना दोष नहीं है और करुणाभाव से ऐसा करना महान् गुण है! यह वर्णन असंवर से डराने वाला होते हुए भी सच्ची निर्भयता का कारण है, संसार के भयों से छुड़ाने वाला है, दुःखों से बचाने वाला है और परम कल्याण का कारण है। इस वर्णन का असली उद्देश्य असाधुता से बचाना है। अतएव यह दोषपूर्ण नही है, वरन् चतुर और करुणावान् वैद्य द्वारा प्रयुक्त चिकित्सा के समान मंगल–साधन करने वाला है।

भगवान् कहते है– गौतम! असंवृत अनगार अपार संसार रूपी अरण्य मे भ्रमण करेगा। गौतम स्वामी ने भगवान् से पूछा था कि असंवृत अनगार क्या मोक्ष जाएगा? उसका उत्तर भगवान् ने दिया– नहीं, वह अपार संसार में भ्रमण करेगा।

क्या गौतम स्वामी को यह मालूम नहीं था कि असाधु मोक्ष नहीं जाते? अगर मालूम था तो भगवान से उन्होंने किसलिए पूछा? कुछ लोगों का कथन था कि चारित्रभ्रष्ट भी मोक्ष जा सकता है। जो लोग चारित्रभ्रष्ट को भी मोक्ष मानते थे, उन्हे चारित्र का महत्व बताने के लिए, यह बात स्वयं न कह कर भगवान् के मुख से कहलाई है। अगर गौतम स्वामी स्वयं ही कह देते तो भी हमारे लिए यह बात मान्य ही होती, तथापि उसे विशेष प्रभावशाली बनाने के लिए उन्होंने सम्पूर्ण ज्ञानी भगवान् से कहलाना ही उचित समझा।

असंवृत अनगार जिस संसार में भ्रमण करता है, उसके लिए भगवान् ने अणाइयं अणवदग्गं और दीहमद्धं आदि विशेषण लगाये है। इन विशेषणों का अर्थ क्या है, यह संक्षेप में बतलाया जाता है।

कोई स्वजन नहीं रहता, ऐसे पापकर्म बांधता है। तीसरा अर्थ है– ऋणातीतम् अर्थात् ऋण से होने वाले दुःख की अपेक्षा भी अधिक दुःखदायी। जिसके सिर पर ऋण होता है, उसे शान्ति नहीं मिलती। कहावत है– 'ऋणकर्ता पिता शत्रुः' अर्थात् ऋण (कर्ज) करने वाला पिता अपने पुत्र का शत्रु है। जिस पर ऋण होता है, उसे घोर दुःख होता है। उसकी स्थिति सदैव बिगड़ी रहती है। यह घड़ी भर चैन नहीं लेने पाता। सदा संताप एवं अशान्ति के कारण ऋणी को बड़ी व्यग्रता रहती है। अतएव वहां संसार का 'अणाइयं' विशेषण ऋणातीतम् है, जिसका अर्थ है– ऋण के दुःख से भी अधिक दुःख वाला। ऐसे संसारमें असंवृत अनगार को भ्रमण करना है।

अणाइयं का चौथा अर्थ है– अणातीतम्। 'अण' का अर्थ 'पाप' है और अणातीत का अर्थ है– अतिशय पाप। सारांश यह है कि संसार में पाप तो अनेक हैं, मगर साधु होकर आस्रव का सेवन करना सब पापों से बढ़कर पाप है। इसलिए असंवृत अनगार अतिशय पापरूप संसार में भ्रमण करता है।

संसार का दूसरा विशेषण है– अणवयग्गं। यहां 'अवयग्गं' शब्द देशी प्राकृत भाषा का है, जिसका अर्थ होता है– अन्त। इसमें निषेध वाचक 'अण' लगा देने से 'अणवयग्ग' शब्द बना है। 'अणवयग्ग' का अर्थ अनन्त है।

अथवा 'अवयग्ग' शब्द का अर्थ है– जिसका अन्त समीप हो। उसमें निषेधवाची 'अण्' लगा देने से यह अर्थ होता है– जिसका अन्त समीप न हो।

अथवा– 'अणवयग्गं' का अर्थ 'अनवताग्रम्' है। जिसका परिमाण ज्ञात न हो, जिसके अन्त का पता न चले, वह 'अनवताग्र' कहलाता है।

तीसरा विशेषण– 'दीहमद्धं' है। अध्व का अर्थ मार्ग है, और दीह का अर्थ दीर्घ (लम्बा) है। जिसका मार्ग लम्बा हो, वह 'दीहमद्ध' कहलाता है। अथवा दीर्घकाल वाले को 'दीहमद्ध' कहते हैं।

चौथा विशेषण 'चाउरंत' है। चाउरंत का अर्थ है– चार विभाग वाला। देवगति, मनुष्यगति, तिर्यञ्च गति और नरकगति, इस प्रकार चार विभाग जिसमें हैं वह (संसार) चाउरंत (चातुरन्तक) कहलाता है।

इस प्रकार के विशेषणों वाले संसार–कान्तार में अर्थात् भव–वन में असंवृत अनगार बार–बार परिभ्रमण करता है।

इन सबका आशय यह है कि असंवृत अनगार ऐसे संसार रूपी वन में भ्रमण करता है, जिसमें दुःख ही दुःख है, जिसके अन्त का कोई प्रमाण नहीं है, जिसकी समाप्ति का पता नहीं है, जिसका मार्ग लम्बा है और जिसके चार गति रूप चार विभाग हैं।

संवृत अनगार सम्बन्धी प्रश्न

मूलपाठ–

प्रश्न– संवुडे णं भंते! अणगारे सिज्जइ, जाव–सवदुक्खाणं अंतं करेइ?

उत्तर– हंता, सिज्झई, जाव– अंतं करेइ।

प्रश्न– से केणट्ठेणं?

उत्तर– गोयमा! संवुडे अणगारे आउयवज्जाओ सत्तकम्मपडीओ धणियबंधणबद्धाओ सिढिलबंधणबद्धाओ पकरेइ, दीह कालट्ठिइयाओ हस्सकालट्ठिइयाओ पकरेइ, तिव्वाणु भावाओ मंदाणु भावाओ पकरेइ बहुप्पएसग्गाओ अप्पपसग्गाओ पकरेइ, आउयं च णं कम्मं ण बंधई। असायावेयणिज्जं च णं कम्मं नो भुज्जो भुज्जो उवचिणइ। अणादीयं च णं अणवदग्गं दीहमद्धं, चाउरंतसंसारकंतारं वीईवयइ, से तेणट्ठेणं गोयमा! एवं वुच्चइ– 'संवुडे अणगारे सिज्झइ जाव अंतं करेइ।'

संस्कृत– छाया– प्रश्न–संवृतो भगवन्! अनगारः सिद्ध्यति, यावत् सर्वदुःखानामन्त करोति?

मूलार्थ– प्रश्न– भगवन्! संवृत अनगार सिद्ध होता है? यावत् सब दुःखों का अन्त करता है?

उत्तर– हां, सिद्ध होता है, यावत् सब दुःखों का अन्त करता है।

प्रश्न– सो किस हेतु से भगवन्?

उत्तर– गौतम! संवृत अनगार आयु को छोड़ कर सात गाढ़ी बांधी हुई कर्म–प्रकृतियों को शिथिल बंध वाली करता है, दीर्घकालीन स्थिति वाली प्रकृतियों को अल्पकालीन स्थिति वाली वनाता है, तीव्र फल देने वाली प्रकृतियों को मन्द फल देने वाली बनाता है, बहुत प्रदेश वाली प्रकृतियों को अल्प प्रदेश वाली बनाता है, आयुष्य कर्म का बंध नहीं करता है, तथा असातावेदनीय कर्म का बार–बार उपचय नहीं करता है। इसलिए अनादि, अनंत लम्बे मार्ग वाले चातुरन्तक चार प्रकार की गति वाले संसार रूपी वन का उल्लंघन करता है। इसलिए हे गौतम! संवृत अनगार सिद्ध होता है यावत् सब दुःखों का अन्त करता है, ऐसा कहा जाता है।

व्याख्यान–असंवृत अनगार के विषय में कहा जा चुका है। प्रस्तुत प्रश्नोत्तर में संवृत अनगार की चर्चा की गई है। आस्रवद्वार का निरोध करके संवर की साधना करने वाला मुनि संवृत अनगार कहलाता है। गौतम स्वामी पूछते हैं– भगवन्! संवृत अनगार सिद्ध, बुद्ध, मुक्त होता है और निर्वाण पाता है? गौतम स्वामी के इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने कहा– हां, गौतम! पाता है।

संवृत अनगार छठे गुणस्थान से चौदहवें गुणस्थान तक होते हैं। छठे गुणस्थानवर्ती प्रमत्त और सातवें से चौदहवें गुणस्थान तक के अप्रमत्त होते हैं। यहां किस गुणस्थानवर्ती संवृत अनगार से प्रयोजन है?

इस सम्बन्ध में कहा गया है– संवृत अनगार चरमशरीरी और अचरमशरीरी के भेद से दो प्रकार के हैं। जो दूसरा शरीर धारण नहीं करेंगे, वह चरमशरीरी कहलाते हैं। जिन्हें दूसरी देह धारण करनी पड़ेगी वह अचरम शरीरी हैं। गौतम स्वामी और भगवान् के यह प्रश्नोत्तर चरमशरीरी की अपेक्षा से हैं। अचरमशरीरी के विषय में नहीं हैं। इसके लिए एक सूत्र की दो गति करनी चाहिए– एक परम्परा और दूसरी साक्षात्। अर्थात् साक्षात्– इसी भव से सिद्धि होगी और परम्परा से अगले किसी भव में सिद्धि प्राप्त होगी। चरमशरीरी इस भव से मोक्ष जाएंगे, अतएव यह सूत्र उन पर साक्षात् रूप से लागू होता है। अचरमशरीरी सात–आठ भव से मोक्ष जाएंगे, अतएव उनके लिए परम्परा से सिद्धि होगी, ऐसा समझना चाहिए।

इस समाधान से एक प्रश्न नया उपस्थित होता है। वह यह कि परम्परा से तो शुक्लपक्षी असंवृत अनगार भी मोक्ष प्राप्त करेंगे। फिर संवृत और असंवृत अनगार का भेद करने से क्या लाभ है?

एक बार सम्यक्त्व प्राप्त हो जाने पर कृष्णपक्षी, शुक्लपक्षी हो जाता है। प्रकाश की अपेक्षा से यद्यपि दोनों पक्ष समान से प्रतीत होते हैं। कृष्णपक्ष की प्रतिपदा को लगभग सारी रात उजेला रहता है और शुक्लपक्ष की प्रतिपदा को सारी रात अन्धेरा रहता है। फिर भी दोनों में अन्तर है। अन्तर यह है कि भले ही कृष्णपक्ष की प्रतिपदा उजेली है, मगर उसमें मलीनता रही हुई है और शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा में आज अन्धेरा है, मगर उसमें मलीनता का नाश आरम्भ हुआ है। इस प्रकार कृष्णपक्ष और शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा में भी पर्याप्त अन्तर है। इसी प्रकार बाह्य साधु और अन्तरंग साधु का अन्तर पहचानना चाहिए। जैसे शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा की रात में आज अन्धेरा है, लेकिन आगे प्रकाश ही होगा, उसी प्रकार छठे गुणस्थानवर्ती प्रमादी संवृत अनगार आज चाहे गिर गये हों तथापि परम्परा से वह मोक्ष जाएंगे ही, और परम्परा की सीमा सिर्फ सात–आठ भव ही है। सात–आठ भवों के भीतर उन्हें मुक्ति प्राप्त हो जायेगी। कहा भी है–

जहन्नियं चरित्ताऽऽराहणं आरहित्ता
सत्तट्ठभवग्गहणेहिं सिज्झइ

अर्थात्– जघन्य चारित्र की आराधना करने वाला सात–आठ भव ग्रहण करके सिद्ध हो जाता है।

इस प्रमाण से यह स्पष्ट है कि संवृत अनगार सात–आठ भव में सिद्धि प्राप्त कर लेता है, मगर असंवृत अनगार के लिए यह नियम लागू नहीं होता। असंवृत अनगार की परम्परा तो अपार्ध पुद्गल परावर्तन भी हो सकती है। अतएव संवृत और असंवृत का भेद स्पष्ट है। इस प्रकार उक्त सूत्र साक्षात् रूप से चरम शरीरी, अप्रमादी, संवृत अनगार के लिए लागू होता है और परम्परा से अचरम शरीरी संवृत अनगार के लिए।

असंवृत अनगार विराधक है, किन्तु प्रमादी संवृत अनगार आराधक है। यह भी दोनों में अन्तर है।

भगवान ने गौतम स्वामी को उत्तर दिया– संवृत अनगार सिद्ध होता है, बुद्ध होता है, निर्वाण प्राप्त करता है और सब दुःखों का अन्त करता है। इस पर गौतम स्वामी फिर पूछते हैं– भगवन्! आप ऐसा क्यों कहते हैं? इसके उत्तर में भगवान् कहते हैं– गौतम! संवृत अनगार आयु कर्म का बंध नहीं

करते। शेष सात कर्मों के गाढ़े बंधन को ढीला कर देते हैं। बहुत काल की स्थिति वाले कर्मों को अल्पकालीन स्थिति वाले बना देते हैं। करोड़ों सागरोपम की स्थिति वाले कर्मों को अन्तर्मुहूर्त मात्र में भस्म कर डालते हैं। जिन कर्मों का रस तीव्र होता है, उन्हें मंद रस वाला कर देते हैं। बहुत प्रदेश वाले कर्मों को कम प्रदेश वाले कर देते हैं। असाता वेदनीय कर्म को पुष्ट नहीं करते। पहले जिस संसार का वर्णन किया जा चुका है, उसमें भ्रमण नहीं करते। सभी उनके लिए स्वजन बन जाते हैं। उन्हें ऋण–मुक्त होने के सुख से भी अधिक सुख प्राप्त होता है। उनके पाप अपाप हो जाते हैं। वह अपार संसार को सहज पार कर जाते हैं। इसलिए संवुड अनगार सिद्ध होता है, बुद्ध होता है, मुक्त होता है और सब दुःखों का अन्त करता है।

असंयत जीव

मूल पाठ–

प्रश्न– जीवे णं भंते! असंजए अविरइए अप्पडिहय पच्चक्खायपावकम्मे इओ चुए पेच्चे देवे सिया?

उत्तर– गोयमा! अत्थेगइए देवे सिया, अत्थेगइए णो देवे सिया।

प्रश्न– से केणट्ठेणं जाव–इओ चुए पेच्चा अत्थेगइए देवे सिया, अत्थेगइए नो देवे सिया?

उत्तर– गोयमा जे इमे जीवा गामाऽऽगरणगर–निगम–रायहाणि–खेड–कब्बड–मडंबदोण–मुह–पट्टणाऽऽसम–सण्णिवेसेसु अकामतण्हाए, अकामछुहाए, अकामबंभचेरवासेणं, अकामसीताऽऽतव–दंसमसग–अकामअण्ण–हाणग–सेय–जल्लमल–पंक–परिदाहेणं, अप्पतरो वा भुज्जतरो वा कालं अप्पाणं परिकिलेसंति, अप्पाणं परिकिले सित्ता कालमासे कालं किच्चा, अन्नयरेसु वाण मंतरेसु, देवत्ताए उववत्तारो भवंति।

–स्वेद–जल्ल–मल–पंकपरिदाहेनाऽल्पतरं वा भूयस्तरं वा कालमात्मानं परिक्लेश्यन्ति, आत्मानं परिक्लेश्य कालमासे कालं कृत्वा अन्यतरेषु वानव्यन्तरेषु देवलोकेषु देवतया उपपत्तारो भवन्ति।

मूलार्थ– प्रश्न– हे भगवन्! असंयत, अविरत और पापकर्म का हनन तथा त्याग न करने वाला जीव इस लोक से चलकर–मर कर परलोक में देव होता है?

उत्तर– गौतम! कितनेक देव होते हैं, कितनेक देव नहीं होते।

प्रश्न– भगवन्! यहां से चलकर यावत् –पूर्वोक्त जीव, कोई देव होते हैं, कोई देव नहीं होते, इसका क्या कारण है?

उत्तर– गौतम! जो जीव ग्राम, आकर, नगर, निगम, राजधानी, खेट, कर्बट, मडम्ब, द्रोणमुख, पट्टन, आश्रम तथा सन्निवेश में अकाम तृषा से, अकाम क्षुधा से, अकाम ब्रह्मचर्य से, अकाम शीत आतप तथा डांस–मच्छरों के काटने के दुःख को सहन करने से, अकाम अस्नान, पसीना, जल्ल, मैल तथा पंक (कीचड़) से होने वाले परिदाह से, थोड़े समय तक या बहुत समय तक अपने आत्मा को क्लेशित करते हैं, वे आत्मा को क्लेशित करके, मृत्यु के समय पर मर कर वान व्यन्तर देवलोकों के किसी देवलोक में देवरूप से उत्पन्न होते हैं।

व्याख्यान– गौतम स्वामी ने असंवृत और संवृत अनगार की गति के सम्बन्ध में प्रश्न किये और भगवान् ने उन प्रश्नों के उत्तर भी दिये। लेकिन संसार में और भी जीव हैं जो संवृत या असंवृत अनगार नहीं हैं। वे असंयत और अविरत कहलाते हैं। वे इस भव के पश्चात् देवगति में जाते हैं या नहीं? यह गौतम स्वामी का प्रश्न है।

इस प्रश्न का अभिप्राय यह है कि मनुष्य गति मिलना कठिन है, लेकिन देवगति का मिलना उतना कठिन नहीं है। इसी अभिप्राय से गौतम स्वामी ने प्रश्न किया है कि– भगवन्! जो जीव असंयत हैं, असाधु हैं, वे यहां से मरकर देवगति प्राप्त करते हैं? असंयम वाला सम्यग्दृष्टि भी हो सकता है, इसलिए यहां स्पष्ट कर दिया है कि जिसने प्राणातिपात आदि के व्रत–प्रत्याख्यान नहीं धारे हैं, अथवा 'वि' अर्थात् विशेष प्रकार की 'राते' अर्थात् तल्लीनता होना, तात्पर्य यह कि जिसमें तप आदि के प्रति विशेष तल्लीनता नहीं है, वह अविरत कहलाता है।

जिसने भूतकालीन पाप को निन्दा–गर्हा आदि के द्वारा दूर कर दिया हो वह प्रतिहत–पाप–कर्मा कहलाता है। जिसने भविष्यकालीन पापों का

असत्य, चोरी आदि अठारह पाप समझने चाहिएं। जो मनुष्य पाप कर्मों को प्रतिहत और प्रत्याख्यात नहीं करता अर्थात् जो भूतकाल के पापों की आलोचना नहीं करता और भविष्य के पापों का त्याग नहीं करता, वह अप्रतिहत प्रत्याख्यातपापकर्मा कहलाता है।

प्रश्न में 'अस्संजए अविरइए' पाठ आया है। इसका अर्थ है, जिसने संयम धारण नहीं किया और जिसने तप विशेष को नहीं अपनाया है।

यहां शंका हो सकती है कि जब असंयमी कह दिया था, तब अविरत कहने की क्या आवश्यकता थी? इसका उत्तर यह है कि वर्तमान काल के पाप का निरोध न करने वाले का बोध कराने के लिए अविरत शब्द का प्रयोग किया है।

एक आचार्य इन शब्दों का अर्थ दूसरा लेते हैं। उनके मत के अनुसार मरणकाल से पहले तप आदि द्वारा जिसने पाप का नाश न किया हो, वह अप्रतिहतपापकर्मी कहलाता है, और मृत्युकाल आ जाने पर भी पाप का नाश न करने वाला अप्रत्याख्यातपापकर्मा है। तात्पर्य यह है कि जिसने न मृत्यु से पहले पापों का त्याग किया, न मृत्यु आने पर ही त्याग किया, वह अप्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मा कहलाता है।

अप्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मा का एक अर्थ और भी लिया जाता है। जिसने सम्यग्दर्शन की प्राप्ति करके पापकर्मों को नष्ट नहीं किया वह अप्रतिहतपापकर्मा कहलाता है। शुद्ध श्रद्धा धारण करना, पूर्व के पापों का नाश करना कहलाता है। और सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जाने पर सर्वविरति आदि अंगीकार करके पाप-कर्मों का निरोध न करने वाला अप्रत्याख्यातपापकर्मा कहलाता है। इस प्रकार जिसने न सम्यक् श्रद्धा धारण की और न व्रत धारण किये वह अप्रतिहत-प्रत्याख्यातपापकर्मा कहलाता है।

यहां तृष्णा–विजय की बात कही है। साधु अथवा श्रावक होकर संयम और व्रत जैसी कल्याणकारी वस्तु के वदले में तुच्छ वस्तु की अभिलाषा करना उचित नहीं है। देवयोनि मिलना बड़ी वात नहीं है। वह तो मिथ्यादृष्टि को भी मिल जाती है। अतएव इस प्रश्नोत्तर द्वारा यह भी सूचित किया गया है कि स्वर्ग की कामना मत करो। स्वर्ग तो मिथ्यादृष्टि और पशु भी पा सकते हैं। इस कथन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि जव देवलोक का ऐश्वर्य भी तुच्छ है तो मनुष्य लोक का वैभव कव उत्कृष्ट होगा?

गौतम स्वामी फिर प्रश्न करते हैं– जिनका मिथ्यात्व नहीं छूटा है, उन असंयतियों में से कोई देवता होता है और कोई नहीं, इसका क्या कारण है?

इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् कहते हैं। इस उत्तर में अनेक स्थानों के नाम आये हैं। उनका अर्थ यह है–

ग्राम– जहां थोड़ी बुद्धि वाला और बहुत बुद्धि वाला– दोनों प्रकार के मनुष्य रह सकते हों, वह ग्राम कहलाता है। एक जगह एक टीका में लिखा है कि जहां बसने से बुद्धि नष्ट हो जाय, वह ग्राम है। मगर ग्राम का यह अर्थ उपयुक्त नहीं जंचता, क्योंकि अधिकतर मस्तिष्क शक्ति की उत्पत्ति ग्रामों में होती है। असली तत्त्व ग्रामों में ही है। नागरिक लोग, ग्रामों में उत्पन्न पदार्थ ही खाते हैं। आमतौर पर यह ख्याल किया जाता है कि नगर के लोग चतुर होते हैं। लेकिन कच्चा लोहा खान से निकलता है और शाण पर चढ़ने से वह तीक्ष्ण हो जाता है, तो इसका अर्थ यह नहीं है कि वह शाण पर चढ़ा लोहा वहीं बना है। इसी प्रकार नगर में बुद्धि का संघर्ष होता है, इस कारण नगर–निवासियों की बुद्धि में तीक्ष्णता आ जाती है, मगर बुद्धि की उत्पत्ति ग्रामों में ही होती है।

आकर–खदान को 'आकर' कहते हैं। जहां लोहा आदि धातुएं निकलती हैं, वह भूभाग आकर कहलाता है।

नगर– न कर अर्थात् जहां कर (टैक्स) न लगे, वह स्थान नगर है। आज नगरों पर खूब कर लग गया है और नवीन–नवीन कर लगते जाते हैं, मगर प्राचीन काल में नगरों पर कर नहीं थे। इसलिए नगरों में खूब क्रय–विक्रय होता था और नागरिक लोग ग्रामीणों की भी सार–संभाल कर सकते थे। आज के नागरिकों पर इतना बोझ लदा है कि उन्हें अपनी ही सुध–बुध नहीं है। वे ग्राम्य जनता की क्या सुध ले सकेंगे!

निगम– जहां व्यापारी अधिक निवास करते हों, उस वस्ती का नाम निगम है। अर्थात् जहां माल का आना–जाना बना रहता हो और व्यापार खूब होता हो, वह निगम कहलाता है।

राजधानी– जहां स्वयं राजा स्थायी रूप से रहता हो, वह राजधानी है।

खेट– जिस छोटी बस्ती के चारों ओर धूल का कोट हो उसे खेट या खेड़ा कहते हैं।

कर्बट– कुत्सित नगर कर्बट कहलाता है। जिसकी गणना न ग्राम में की जा सके, न नगर में ही, वह कर्बट है। जैसे आजकल के कस्बे।

मडम्ब– जिस बस्ती के समीप दूसरी बस्ती न हो, जिससे दूसरी बस्तियां दूर हों, वह मडम्ब है। दूर का अर्थ यहां ढाई कोस लिया गया है।

द्रोणमुख– जहां के लिये जलमार्ग भी हो और स्थलमार्ग भी हो, वह बस्ती द्रोणमुख कहलाती है।

पट्टन–पाटन। जहां देश–देशान्तर से आया हुआ माल उतरता है, उसे पट्टन कहते हैं। पट्टन दो प्रकार के होते हैं– जलपट्टन और स्थल–पट्टन। जो जल के बीच में या किनारे पर बसा हो वह जलपट्टन और जो स्थल में हो जहां स्थल–मार्ग से आया माल उतरता हो, वह स्थल पट्टन है। जहां सब प्रकार के हाथी, घोड़े, रत्न आदि बहुमूल्य पदार्थ बिकते हों, उसे भी पट्टन कहते हैं।

आश्रम– जिस स्थान पर कंदमूल, फल, फूल खाने वाले तापस रहते हों, वह आश्रम कहलाता है।

सन्निवेश– जहां दूध, दही बेचने वाले लोग रहते हों, वह सन्निवेश कहलाता है। उसे घोष भी कहते हैं।

भगवान् कहते है कि इन स्थानों में से किसी भी स्थान में रहता हो, मगर जो अकाम निर्जरा करता है, वह देव होता है।

अकाम निर्जरा का साधारण अर्थ है– बिना इच्छा के निर्जरा करना– अर्थात् भूखो, प्यासो मरना। लेकिन यहां यह अर्थ संगत नही है। मोक्ष प्राप्ति के योग्य निर्जरा की अभिलाषा नही होना अकाम निर्जरा है। और मोक्ष प्राप्ति कामना से जो निर्जरा की जाती है, वह सकाम निर्जरा कहलाती है। मुझे स्वर्ग प्राप्त हो जाय, या मेरा अमुक लौकिक कार्य सिद्ध हो जाय, इस भावना से

अज्ञानतापूर्वक की जाने वाली निर्जरा अकाम निर्जरा है और ज्ञानपूर्वक की जाने वाली सकामनिर्जरा है।

जिसे सम्यग्ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ, वह पूर्वोक्त स्थानों में से किसी में भी रहता हुआ मिथ्यादृष्टि पुरुष निर्जरा आदि की अभिलाषा से रहित अकाम तृषा सहन कर रहा है। वह भूखा रहता है, मगर अकाम अर्थात् धर्म भावना से नहीं। स्त्रीसमागम नहीं करता है, मगर यों ही विना किसी प्रयोजन के। ब्रह्मचर्य पालने का उसका अभिप्राय कुछ नहीं है। वह धर्म समझकर ब्रह्मचर्य का पालन नहीं करता, मगर स्त्री होते हुए भी लज्जा आदि के कारण समागम नहीं करता और ब्रह्मचर्य रखता है। वह अकाम ब्रह्मचर्य है। वह रात्रि में ऐसे स्थान पर रहता है जहां स्त्री से भेंट न हो, वह अकाम ब्रह्मचर्यवास कहलाता है।

इस अकाम ब्रह्मचर्य के लिए या यों ही स्नान नहीं करता है, स्वेद (पसीना) जल्ल, मल आदि सहन करता है। यह सब अकामनिर्जरा है।

स्वेद का अर्थ है– पसीना। पसीने पर जो रज लग जाती है वह जल्ल कहलाती है। जल्ल का जम जाना मल है। इन सब कष्टों को सहन करना– मगर धर्मभाव से निर्जरा के लिए नहीं– वह अकाम निर्जरा है। इस प्रकार थोड़े काल तक या बहुत काल तक वह आत्मा को क्लेश पहुंचाता है, फिर भी उसके इन कार्यों से मोक्ष प्राप्त नहीं होता। इस अकाम–निर्जरा के कारण वह वान–व्यन्तर आदि देव के भव में जाकर जन्म लेगा।

यहां एक मिथ्यादृष्टि के विषय में ही प्रश्नोत्तर है। उववाई सूत्र में विस्तारपूर्वक वर्णन है। यहां सामान्य रूप से निर्जरा की इच्छा न रखने वाले और दुःख पड़ने पर अच्छे परिणाम रखने वाले का ही वर्णन किया है, लेकिन आगे कहा जायेगा कि अकाम निर्जरा नौवें ग्रैवेयक विमान तक होती है। कई ज्ञानी सकाम निर्जरा वाले भी देवलोक में जाते हैं और कई मिथ्यात्वी अकामनिर्जरा वाले भी देवलोक में जाते हैं। इन दोनों के देवलोक में जाने में क्या अन्तर है, यह बताने के लिए कहा है कि अकाम निर्जरा वाले वान–व्यन्तर देव भी होते हैं और सकाम निर्जरा वाले परलोक की उत्तम से उत्तम स्थिति प्राप्त करके मोक्ष की भी आराधना कर सकते हैं।

वान–व्यन्तरों का (स्थान)

मूलपाठ–

प्रश्न– केरिसा णं भंते! तेसिं वाणमतराणं देवाणं देवलोया पण्णत्ता?

उत्तर– गोयमा! से जहानामए इह मणुस्सलोगम्मि असोगवणे इ वा, सत्तवण्णवणे इवा चंपयवणे इ वा, चूयवणे इ वा , तिलगवणे इ वा, लाउवणे इ वा, निग्गोहवणे इ वा, छत्तोहवणे इ वा, असणवणे इ वा, सणवणे इ वा, अयसिवणे इ वा, कुसुंमवणे इ वा, सिद्धत्थवणे इ वा, बंधुजीवगवणे इ वा, णिच्चं कुसुमिय, माइय, लवइय, थवइय, गुलुइय, गोच्छिय, जमलिय, जुवलिय, विणमिय, पणमिय, सुविभत्त पिंडिमंजरिवडेंसगधरे सिरीए अतीव अतीव 2 उवसोभमाणे चिट्ठइ, एवामेव तेसिं वाणमंतराणं देवाणं देवलोगा जहण्णेणं दसवाससहस्सट्ठितीएहिं, उक्कोसेणं पलिओवमट्ठितीएहिं, बहूहिं वाणमंतरेहिं देवेहिं, तद्देवीहि य आइण्णा, विकिण्णा, उवत्थडा, संथड़ा, फुडा, अवगाढ़गाढ़ा, सिरीए अतीव अतीव उवसोभेमाणा उवसोभेमाणा चिट्ठंति । एरिसगा णं गोयमा! तेसिं च वाण मंतराणं दवाणं देवलोआ पन्नता से, तेणट्ठेणं गोयमा! एवं वुच्चइजीवेणं असंजए जाव दवे सिया।

सुविभक्तपिण्डी—मज्जर्यवतंसकधरं श्रिया अतीवातीवोभशोभमानम्— उपशोभमानं, तिष्ठति, एवमेव तेषां वानव्यन्तराणां देवानां देवलोका जघन्येन दशवर्षसहस्र स्थितिकैः उत्कृष्टेन पल्योपमस्थितिकैर्वहुमिर्वानव्यन्तरैदेवैः तद्देवीभिश्च आकीर्णाः, विकीर्णाः, उपस्तीर्णाः संस्तीर्णाः, स्कूटाः, अवगाढ़गाढ़ाः, श्चिया अतीवातीवोप शोभमाना उपशोभमानास्तिष्ठन्ति। ईदृशा गौतम! तेषां च वानव्यन्तर देवानां देवलोकाः प्रज्ञप्ताः, तत् तेनार्थेन गौतम! एव मुच्यते जीवोऽसंयतो यावद्—देवः स्यात्।

मूलार्थ— प्रश्न— हे भगवन्! उन वान—व्यन्तर देवों के देवलोक किस प्रकार के कहे गये हैं?

उत्तर— हे गौतम! जैसे यहां मनुष्यलोक में सदा फूला हुआ, मयूरित—पुष्प—विशेष वाला—मौर वाला, लवकित कौंपलों वाला, फूलों के गुच्छों वाला, लता—समूह वाला, पत्तों के गुच्छों वाला, यमल समान श्रेणी के वृक्षों वाला, युगल वृक्षों वाला, फल—फूल के भार से नमा हुआ, फल—फूल के भार से नमने की शुरूआत वाला, विभिन्न प्रकार की बालों और मंजरियों रूपी मुकुटों को धारण करने वाला, अशोकवन, सप्तपर्णवन, चम्पाका वन, आमों का वन, तिलक वृक्षों का वन, तूंबे की लताओं का वन, बड़ वृक्षों का वन, छत्रौघ वन, अशन वृक्षों का वन, सन का वन, अलसी के पौधों का वन, कुसुंब वृक्षों का वन, सफेद सरसों का वन तथा दुपहरिया वृक्षों का वन, अतीव अतीव शोभा से सुशोभित होता है, इसी प्रकार वाण—व्यन्तर देवों के देवलोक जघन्य दस हजार वर्ष की स्थिति वाले और उत्कृष्ट पल्योपम की स्थिति वाले, बहुत से वाण—व्यन्तर देवों और देवियों से व्याप्त, विशेष व्याप्त, उपस्तीर्ण— एक दूसरे के ऊपर आच्छादित, परस्पर मिले हुए, भोगे हुए या प्रकाश वाले, अत्यन्त अवगाढ़, शोभा से अतीव अतीव सुशोभित रहते हैं। हे गौतम! वाण—व्यन्तर देवों के स्थान देवलोक— इस प्रकार के कहे गये हैं। इस कारण हे गौतम! ऐसा कहा जाता है कि असंयत जीव यावत्—देव होता है।

व्याख्यान—अब गौतम स्वामी वाण—व्यन्तर देवों के देवलोक के विषय में प्रश्न करते हैं। व्यन्तरों का देवलोक कैसा है? वहां क्या कोई सुख है?

इस प्रश्न के उत्तर से पहले यह जान लेना आवश्यक है कि वाण—व्यन्तर देव किन्हें कहते हैं? इस सम्बन्ध में कहा गया है कि वन विशेष में उत्पन्न होने वाले अर्थात् बसने वाले देव वान—व्यन्तर कहलाते हैं।

दूसरे आचार्य के मत से वन में उत्पन्न होने वाले वान कहलाते हैं और वन में क्रीड़ा करने वाले व्यन्तर देव कहलाते हैं। वन में यद्यपि फूल—फल भी

उत्पन्न होते हैं, मगर यहां उनका ग्रहण नहीं करना चाहिए। यहां देव योनि के उन जीवों को ही लेना चाहिए जो वन में उत्पन्न होकर, वन में क्रीड़ा करते हैं।

वाण वयन्तरों के स्थान का वर्णन करने के लिए भगवान् ने मनुष्यलोक के वृक्षों के वनों का उदाहरण दिया है। यह आशंका की जा सकती है कि मनुष्यलोक में महल आदि उत्तम स्थान बहुत से हैं, उनकी उपमा न देकर सिर्फ वनों की उपमा क्यों दी है? वास्तव में वन की उपमा देने में प्रकृति सम्बन्धी बहुत विचार गर्भित हैं।

आजकल लोग प्रकृति से बहुत दूर हट गये हैं, इसलिए उन्हें कृत्रिम वस्तु बहुत प्रिय लगती है। लेकिन जिसने प्रकृति का अभ्यास किया है, जिसने प्रकृति के सौन्दर्य की अनुभूति की है, वही प्राकृतिक और कृत्रिम वस्तुओं का भलीभांति अन्तर समझ सकता है। एक आदमी घाम से व्याकुल और थका हुआ है। उसे एक ओर कलकल करता हुआ निर्झर और उसी के किनारे एक सुन्दर सघन छायादार वृक्ष मिलता है और दूसरी ओर राजमहल, वह किसे पसन्द करेगा?

'वृक्ष की छाया को!'

महल के लोभी को चाहे महल प्रिय लगे, लेकिन थके हुए निर्लोभ पथिक को तो वृक्ष की छाया ही अधिक प्रिय लगेगी। थके हुए को वृक्ष की गोद में जो आनन्द प्राप्त होगा, वह महल की कैद में नहीं हो सकता।

वृक्ष की छाया में आनन्द प्राप्त होने का एक कारण और भी है। मनुष्य कार्बनडाई ऑक्साइड वायु छोड़ता है और वृक्ष उसे ग्रहण करके उसके बदले

रही है। इसलिए आप नैसर्गिक वन के बदले कृत्रिम वन के चित्र की ओर आकृष्ट होते हैं।

मनुष्य– जीवन के लिए जो वस्तुएं अत्यन्त उपयोगी हैं, वह महल से नहीं निकलती हैं। बल्कि महल ऐसी वस्तुओं का विनाश करता है। ऐसी वास्तविक वस्तु वन में ही उपजती हैं। इसलिए वाण–व्यन्तर देवों के स्थान की उपमा चक्रवर्ती के महल से न देकर वन से दी गई है।

भगवान् कहते हैं– गौतम! वाण–व्यन्तर देवों का स्थान वैसा ही सुशोभित होता है, जैसा मनुष्यलोक में अशोक वृक्ष का वन शोभा देता है।

भगवान ने इस उपमा द्वारा यह सूचित किया है कि प्राकृतिक वस्तु जैसी शोभा देती है, कृत्रिम वस्तु वैसी शोभा नहीं दे सकती।

अशोक वृक्ष को लोकभाषा में आसापाला कहते हैं। अशोक वृक्ष की शोभा देखने से मन की चिन्ता और शोक भूल जाता है। अशोक वृक्ष की उपमा देकर भगवान् ने और भी अनेक उपमाएं दी हैं। जैसे– सप्तपर्ण (सादड़) के वृक्षों का वन, चम्पा का वन, आम्रवन, तिलक वृक्षों का तप, तूंबे की बेलों का वन, बड़ वृक्षों का वन, छत्रोध का वन, कुसुंभ वन, सरसों का वन, अशन वृक्षों का वन, सन का वन, अलसी का वन, बन्धुजीव का वन, यह सब शोभा देते हैं उसी प्रकार वाण–व्यन्तर देवों का देवलोक शोभा देता है। जैसे इन वनों में फल आते हैं, मौर आते हैं, कौंपलें आती हैं, फूलों के गुच्छे लगते हैं, यह लता समूह से व्याप्त होते हैं, इन वृक्षों के वन कतार में खड़े होते हैं, फूलों, फलों और लताओं के भार से झुके होते हैं, उस समय की शोभा अवर्णनीय होती है। ऐसे वन जिस प्रकार सुशोभित होते हैं, उसी प्रकार वाण–व्यन्तरों के देवलोक सुशोभित होते हैं।

भगवान् ने वन की शोभा देवलोक से इसलिए दी है कि वन का सौन्दर्य कृत्रिम नहीं हैं, प्राकृतिक है। कभी–कभी कृत्रिम वस्तु में सुन्दरता दिखलाई पड़ती है, वह सुन्दरता वास्तव में उस अकृत्रिम वस्तु की ही समझना चाहिए, जिसकी नकल कृत्रिम में उतारी गई है। लेकिन वह सुन्दरता सिर्फ देखने भर की होती है, वह कोई लाभ नहीं पहुंचा सकती। लाभ तो साक्षात् वनश्री ही पहुंचाती है। यदि संसार में वनस्पति न हो तो मनुष्यों का जीवन कठिन हो जाता। कई लोग अपने भ्रम के कारण समझते हैं कि हमें जंगल भला नहीं लगता और महल सुहावना लगता है। अगर यह सच हो तो महल में रहने वाला क्यों जंगल की शरण लेता है? शहर में जब प्लेग का प्रकोप होता है, तब लोग कहां जाते हैं?

'जंगलों को।'

उस समय घर में रहने के लिए आपको कुछ रकम दी जाय तो आप घर में रहना पसन्द करेंगे?

'नहीं!'

और अगर जंगल में रहने की फीस ली जाय, तो आप देंगे या नहीं!

'अवश्य देंगे।'

आप लोग बनावटी के चक्कर में पड़कर अकृत्रिम को भूल रहे हैं, लेकिन प्राकृतिक रचना ही वास्तव में सब प्रकार से सुन्दर और लाभदायक है।

बाह्य सुख की अपेक्षा से व्यन्तर देव सुखी हैं, क्योंकि उन्हें रोग–शोक नहीं होता। मनुष्य लोक के जीव इसलिए सुखी नहीं हैं कि मनुष्य प्रकृति के विरोधी है। प्रकृति से विरोध करने वाले को सुख कहां! सुख देने वाली प्रकृति है, मगर वह तभी सुख देती है, जब उसका विरोध न किया जाय।

भगवान् ने जिस समय वाण–व्यन्तर के देवलोक से इन वनों की उपमा दी, उस समय भारत में खूब वन थे। और उन वनों में मनुष्य उसी प्रकार विचरते थे, जैसे वाण व्यन्तर अपने देवलोक में विचरते हैं। लेकिन धीरे–धीरे भारतीयजन कृत्रिमता के मोह में फंस गये। परिणाम यह हुआ कि वे वन उजड़ गये। आज वह घर बड़ा माना जाता है, जिसके यहां कोयले जलते है। लकड़ी जलने से घर काला हो जाता है, कोयला जलने से काला नहीं होता। कोयलों के लिए हरे–हरे वृक्ष काट लिये जाते हैं, क्योंकि कोयले अधसूखी लकड़ी के बनते हैं। मनुष्य स्वास्थ्यदायक वृक्षों को कटवा डालता है और हवा को रोकने तथा दूषित करने वाले महल खड़ा करता है।

कृत्रिमता स्वयं एक प्रकार का विकार है। अतएव मनुष्य कृत्रिमता के साथ जितना अधिक सम्पर्क स्थापित करेगा, उतने ही अधिक विकार उसमें उत्पन्न होते जाएंगे। इसके विपरीत मनुष्य जीवन में जितनी अकृत्रिमता होगी, उतना ही वह अधिक आनन्दमय होगा। पहले मुनि महात्मा वन में ही ठहरते थे। ग्राम और नगर में सिर्फ भिक्षा के लिए जाते थे, रहते वन में ही थे। वन में उन्हें अद्भुत शान्ति मिलती थी। इसी कारण उनके मस्तिष्क में अपूर्व, उत्तम और हितकर विचार प्रादुर्भूत होते थे।

प्रश्न हो सकता है कि भगवान वीतराग थे और गौतम स्वामी भी केवलज्ञानी के समान थे, उन्होंने वन की सुन्दरता क्यों कही–सुनी? उन्होंने

संसार की बातें क्यों कहीं? गौतम स्वामी ने ऐसा प्रश्न क्यों किया? और भगवान् ने इस प्रकार की उपमाओं से भरा हुआ उत्तर क्यों दिया?

भगवान् ने मोह उत्पन्न करने के लिए यह उत्तर नहीं दिया है। उन्होंने अनन्त करुणा से प्रेरित होकर यह बताया है कि मनुष्यों! बनावटी चीजों के भोगोपभोग में उलझ कर प्राकृतिक पदार्थों को मत भूलो। प्रकृति के समान सुखदायक और कोई वस्तु नहीं है। साथ ही वन के समान जीवन को आनन्दमय बनाने वाला और कोई नहीं है।

हवा प्रायः शहर की ही गंदी होती है। ग्राम की हवा को भी नगर वाले ही दूषित बनाते हैं। नगर की अपेक्षा ग्राम कम गंदे होते हैं। आज तो ग्रामीणों ने भी अपना जीवन–क्रम बदल सा दिया है और ग्रामों में भी गंदगी का प्रवेश हो गया है। मगर कभी आपने यह सुना है कि अमुक वन की हवा बिगड़ी है और नगर की हवा नहीं बिगड़ी है? अगर कभी किसी वन की वायु में किसी प्रकार का विकार हुआ भी हो तो वह नगर की ही देन होगी।

एक भाई प्रश्न करते हैं कि भगवान् का समवसरण कृत्रिम है या अकृत्रिम? इसका उत्तर यह है कि उववाई सूत्र में समवसरण का विस्तृत वर्णन है। समवसरण में देव कृत्रिमता प्रकट करते हैं, अन्यथा समवसरण अकृत्रिम ही है। ग्रन्थों में कहा गया है कि देवकृत तीर्थंकरों का समवसरण भी दो ही बार होता है– एक बार केवल ज्ञान उत्पन्न होने के समय और दूसरी बार निर्वाण के समय। जैसी कृत्रिमता इन समयों पर देव प्रकट करते हैं, उस कृत्रिमता के बिना समवसरण जुड़ता ही न हो, सो बात नहीं है। यह आवश्यक नहीं कि जब तांबे के कोट आदि हों तभी समवसरण होता हो। उववाई सूत्र में वर्णन है कि भगवान् अमुक उद्यान में विराजमान हुए और धर्म कथा कही। समवसरण का सामान्य अर्थ है, उस विशद परिषद् का जुड़ना, जिसमें धर्म का उपदेश तीर्थंकर ने किया हो।

भगवान् सदैव अकृत्रिम अवस्था में ही रहते थे। चौबीसों तीर्थंकरों को वृक्ष के नीचे ही केवल ज्ञान हुआ था। किसी तीर्थंकर को वट वृक्ष के नीचे केवलज्ञान हुआ, किसी को खिरनी के नीचे और किसी को शाल्मली वृक्ष के नीचे। किसी भी तीर्थंकर को किसी महल में विराजमान होने पर केवल ज्ञान हुआ, ऐसा कहीं देखने में नहीं आता।

इस कथन का आशय यह नहीं है कि वृक्ष के नीचे ही केवल ज्ञान हो सकता है और अन्यत्र नहीं हो सकता। यह कथन उन मर्यादा पुरुष तीर्थंकर भगवान् के लिए है। उन्हें वृक्ष के सिवा दूसरी जगह केवलज्ञान नहीं होता।

वाण–व्यन्तर देवों के देवलोक में वह मिथ्यादृष्टि कम से कम दस हजार वर्ष की स्थिति भोगता है और अधिक से अधिक एक पल्योपम की।

वाण–व्यन्तरों का वह स्थान देवों और देवियों से व्याप्त होता है। उस देवलोक में बहुत से देव–देवी शोभायमान होते हुए रहते हैं।

पहले यह बतलाया गया है कि अकाम निर्जरा करने वाला, अकाम क्षुधा, तृषा, ब्रह्मचर्य आदि का पालन करता है। इस प्रकार एक ओर रूखा जीवन व्यतीत करने का चित्र है और दूसरी ओर वाण–व्यन्तरों के देवलोक का चित्र है। तात्पर्य यह है कि अकाम क्षुधा, तृषा आदि सहन करने का यह परिणाम निकला है। यद्यपि मिथ्यादृष्टि ने जो कष्ट सहे हैं, वह अज्ञानपूर्वक सहे है, ज्ञानपूर्वक नहीं, तथापि भूख–प्यास को सहन करने से उसे देवलोक की प्राप्ति हुई है।

आप प्रकाश देते हुए बिजली के लट्टू को देखते हैं। जो बिजली प्रकाश देती है, उसकी उत्पन्न होती हुई गैस दुर्गन्ध देती है ऐसा सुना जाता है लेकिन वही गैस प्रकाश देती है। अगर उस दुर्गन्ध से घृणा की जाय तो बिजली का प्रकाश नहीं हो सकता। आप कदाचित् घृणा करें भी, मगर जो आदमी उस गैस को उत्पन्न करता है वह यदि घृणा करने लगे तो किसी को प्रकाश न मिले। मतलब यह है कि उस दुर्गन्धयुक्त गैस से बिजली का उज्ज्वल प्रकाश निकलता है। इसी प्रकार भूख प्यास सहने वाले और अकाम निर्जरा करने वाले के लिए लोग कहते हैं, यह वृथा कायक्लेश कर रहा है, मगर ज्ञानी पुरुष जानते हैं कि यह कष्ट नहीं, गैस है जिससे वाण–व्यन्तर का विद्युत्प्रकाश उत्पन्न होगा।

बिजली पर पतंग मंडराते है। और अपनी जान दे देते हैं। यही बात आप के लिए भी है, आप बिजली को देखते हैं पर यह नहीं देखते कि यह प्रकाश किसके अधीन है? आप देवलोक के सुख को तो देखते हैं, परन्तु यह नहीं देखते कि यह सुख निकला कहां से है? देवलोक के सुख के उदगम को

सर्वथा निष्फल नहीं होता। उस कष्ट का फल यह देवलोक है। मगर यह ध्यान रखना चाहिए कि केवल कष्ट सहने मात्र से स्वर्ग नहीं मिलता है। केवल कष्ट सहन से ही स्वर्ग मिलता तो नरक में घोर कष्ट सहने वाले नारकी और बूचड़खाने में मारे जाने वाले पशु भी स्वर्ग ही पाते। स्वर्ग वास्तव में पुण्य से मिलता है और पुण्य शुभभाव से होता है। इस प्रकार गौतम स्वामी के प्रश्न का उत्तर समाप्त हुआ।

उपसंहार

मूलपाठ–

सेवं भंते! सेवं भंते! त्ति भगवं गोयमे समणं भगवं महावीरं वंदति, नमंसति, वंदित्ता, नमंसित्तत्ता, संजमेणं, तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ।

संस्कृत–छाया–तदेवं भगवन्। तदेवं भगवन्! इति भगवान् गौतमः श्रमणं भगवन्तं महावीरं वन्दते, नमस्यति, वन्दित्वा नमस्यित्वा संयमेन तपसाऽऽत्मानं भावयन् विहरति।

मूलार्थ– हे भगवन्! यह इसी प्रकार है, यह इसी प्रकार है, ऐसा कह कर भगवान् गौतम, श्रमण भगवान् महावीर को वन्दना करते हैं, नमस्कार करते है, वन्दना–नमस्कार करके संयम तथा तप से आत्मा को भावित करते हुए विचरते है।

व्याख्यान– भगवान् के वचन सुनकर गौतम स्वामी ने कहा– प्रभो! जैसा आप कहते है, वैसा ही है। आप अनन्त हैं और मैं तुच्छ हूं, इसलिए मैं आपके वचनो पर विश्वास करता हूं।

ऐसा कह कर गौतम स्वामी ने श्रमण भगवान् महावीर स्वामी की वन्दना की, नमस्कार किया और तप तथा संयम में विचरने लगे।

यहां वन्दना–नमस्कार करने का उल्लेख इसलिए किया गया है कि प्रश्न पूछने से पहले और उत्तर सुनने के पश्चात् वन्दना करना, विनय प्रदर्शित

करना है। बिना विनय के ज्ञान प्राप्त नहीं होता। अतः ज्ञान प्राप्त करने में विनय की अत्यन्त आवश्यकता है।

यह भगवती सूत्र के प्रथम शतक का प्रथम उद्देशक समाप्त होता है। मेरी समझ में जैसा आया, वैसा मैंने वर्णन किया। इस वर्णन में जो बातें शास्त्र के अनुकूल हों, उन्हें ग्रहण कीजिए और जो प्रतिकूल कही गई हों उन्हें त्याग दीजिए।

सेवं भंते सेवं भंते, गौतम बोले सइ।
श्री वीरजी का वचनां में सन्देह नई।।

प्रथम शतकः— द्वितीय उद्देशक

प्रश्नोत्थान

मूलपाठ—

रायगिहें नगरे समोसरणं। परिसा णिग्गया, जाव एवं वयासी—

संस्कृत— छाया— राजगृहे नगरे समवसरणं। परिषद्निर्गता, यावत्— एवमवादीत्।

मूलार्थ— राजगृह नगर में समवसरण हुआ। परिषद् निकली। यावत्— इस प्रकार फरमाया।

व्याख्यान— अब भगवती सूत्र के प्रथम शतक का दूसरा उद्देशक आरम्भ होता है। पहले उद्देशक के साथ दूसरे का सम्बन्ध बतलाते हुए कहा गया है कि पहले उद्देशक में चलन आदि धर्मों वाले कर्म का निरूपण किया गया है। दूसरे में, पहले उद्देशक के बचे हुए अंश का ही वर्णन किया जाएगा। उद्देशकों के नाम की जो संग्रह गाथा शतक के प्रारम्भ में कही गई है, उसमें यह बतलाया गया है कि द्वितीय उद्देशक में दुःख सम्बन्धी प्रश्न है। दुःख के इस कथन की प्रस्तावना के लिए यहां दुःख का ही पहले—पहले वर्णन किया जाता है।

दूसरे उद्देशक के आरम्भ में राजगृह नगर और गुणशील नामक उद्यान आदि का वर्णन प्रथम उद्देशक के समान ही समझ लेना चाहिए। गौतम स्वामी भगवान् को वन्दना करके प्रश्न पूछते हैं, यहां तक का समस्त पाठ पहले उद्देशक के समान ही यहां उच्चारण करना चाहिए।

इस प्रकार का उपोद्घात प्रत्येक उद्देशक के आरम्भ में किया जाता है। इसका कारण यह है कि जहां वचन होंगे वहां वक्ता भी अवश्य होगा। और जब वक्ता है तो वह किसी स्थान पर स्थित होकर ही भाषण करेगा।

अतएव इस उपोद्घात में स्थान का, समय का और वक्ता का सामान्य परिचय दे दिया जाता है। मीमांसक मत वाले वेद को अपौरुषेय मानते हैं। मगर जैन सिद्धान्त शास्त्र की अपौरुषेयता स्वीकार नहीं करता। कोई भी शास्त्र अपौरुषेय नहीं हो सकता। यह प्रकट करने के लिए भी प्रत्येक उद्देशक के आरम्भ में वक्ता, स्थान और समय का उल्लेख कर दिया गया है।

दुःखों का वेदन

मूलपाठ–

प्रश्न– जीवे णं भंते! सयकंडं दुखं वेएइ?

उत्तर– गोयमा! अत्थेगइयं वेएइ, अत्थेगइयं नो वेएइ।

प्रश्न– से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ 'अत्थेगइयं वेएइ अत्थेगइयं नो वेएइ?'

उत्तर– गोयमा उदिण्णं वेएइ, अणु दिण्णं नो बेएइ। से तेणट्ठेणं एवं वुच्चइ 'अत्थेगइयं वेएइ अत्थेगइयं नो वेएइ।' एवं चउव्वीसदंडएणं, जाव बेमाणिए।

प्रश्न– जीवा णं भंते! सयंकडं दुक्खं वेदेंति?

उत्तर– गोयमा! अत्थेगइयं वेदेंति, अत्थेगइयं नो वेदेंति।

प्रश्न– से केणट्ठेणं।

उत्तर– गोयमा! उदिण्णं वेदेंति, नो अणु दिण्णं वेदेंति। से तेणट्ठेणं, एवं जाव– बेमाणिया।

प्रश्न– जीवे णं भंते! सयंकडं आउयं बेएइ?

उत्तर– गोयमा! अत्थेगइयं बेएइ, अत्थेगइयं नो वेएइ। जहा दुक्खेणं दो दंडगा तहा आउएणं वि दो दंडगा– एगत्तपुहत्तिया, एगत्तेण जाव– पुहत्तेण वि तहेव।

संस्कृत– छाया– प्रश्न– जीवो भगवन्! स्वयंकृतं दुःखं वेदयति?

उत्तर गौतम! अस्त्येककं वेदयति, अस्त्येककं नो वेदयति।

प्रश्न– तत् केनार्थेन भगवन्! एवमुच्यते– अस्त्येककं वेदयति, अस्त्येककं नो वेदयति।

उत्तर– गौतम! उदीर्ण वेदयति, अनुदीर्ण नो वेदयति। तत् तेनार्थेन एवमुच्यते– अस्त्येककं वेदयति, अस्त्येककं नो वेदयति। एवं चतुर्विंशति–दण्डकेन, यावद् वैमानिकः।

प्रश्न– जीवा भगवन्! स्वयंकृत दुःखं वेदयन्ति?

उत्तर– गौतम! अस्त्येककं वेदयन्ति, अस्त्येककं नो वेदयन्ति।

प्रश्न– तत् केनार्थेन?

उत्तर– गौतम! उदीर्ण वेदयन्ति, नो अनुदीर्ण वेदयन्ति, तत् तेनार्थेन एवं, यावद्– वैमानिकाः।

प्रश्न– जीवो भगवन्! स्वयंकृतमायुः वेदयति?

उत्तर– गौतम! अस्त्येककं वेदयति, अस्त्येककं नो वेदयति। यथा दुःखेन द्वौ दण्डकौ तथाऽऽयुष्केणापि द्वौ दण्डकौ एकत्वपृथक्त्वितौ, एक्कत्वेन यावद् वैमानिकाः, पृथक्त्वेनाऽपि तथैव।

मूलार्थ– प्रश्न– भगवन्! जीव स्वयंकृत दुःख–कर्म भोगता है?

उत्तर– गौतम! कुछ भोगता है, कुछ नहीं भोगता।

प्रश्न– भगवन्! सो किस प्रकार आप कहते हैं– 'कुछ भोगता है कुछ नहीं भोगता।'

उत्तर– गौतम! उदीर्ण–उदय में आये हुए–कर्म को भोगता है, अनुदीर्ण कर्म को नहीं भोगता। इसलिए कहा गया है– 'कुछ भोगता है, कुछ नहीं भोगता।' इस प्रकार चौबीस दंडकों में, यावत्–वैमानिक तक समझना।

प्रश्न– भगवन्! जीव स्वयंकृत कर्म भोगते हैं?

उत्तर– गौतम! कुछ भोगते हैं, कुछ नहीं भोगते।

प्रश्न– सो किस कारण?

उत्तर– गौतम! उदीर्ण कर्म को भोगते हैं, अनुदीर्ण को नहीं भोगते, इस कारण ऐसा कहा है। इस प्रकार यावद् वैमानिकों तक समझना चाहिए।

प्रश्न– भगवन्! जीव स्वयंकृत आयु को भोगता है?

उत्तर– गौतम! कुछ को भोगता है, कुछ को नहीं भोगता। जैसे दुःख–कर्म–के विषय में दो दंडक कहे हैं, उसी प्रकार आयुष्य के सम्बन्ध में भी एकवचन और बहुवचन वाले दो दंडक कहने चाहिएं। एक वचन से यावत्–वैमानिकों तक कहना और बहुवचन से भी उसी प्रकार कहना चाहिए।

व्याख्यान– गौतम स्वामी भगवान महावीर से प्रश्न करते हैं– हे भगवन्! जीव क्या स्वयंकृत दुःख भोगता है?

गौतम स्वामी ने स्वयंकृत (अपने किये) कहकर दूसरे द्वारा किए हुए दुःख को भोगने की बात हटाई है। इस प्रश्न द्वारा उन्होंने अन्य अनेक मतों के विधान का निषेध करके जैन धर्म की मान्यता प्रकट की है। किसी-किसी मत में यह स्वीकार किया गया है कि कर्म दूसरा करता है और उसका फल दूसरा भोगता है। गौतम स्वामी ने यह प्रश्न उपस्थित करके इस मान्यता को हटाया है।

कदाचित् कोई यह आशंका करे कि दूसरे के किए कर्म, दूसरा नहीं भोगता, इसमें क्या प्रमाण है? इसके उत्तर में शास्त्रकार का कथन यह है कि अगर ऐसा हो तो समस्त लौकिक और लोकोत्तर व्यवहार गड़बड़ में पड़ जाएंगे। यज्ञदत्त के भोजन करने से देवदत्त की भूख नहीं मिटती, यह प्रत्यक्ष देखा जाता है। यज्ञदत्त के निद्रा लेने से देवदत्त की थकावट नहीं मिटती, यह भी प्रत्यक्ष सिद्ध है। देवदत्त के औषध सेवन से यज्ञदत्त का रोग नहीं मिटता, यह बात कौन नहीं जानता? जो भोजन करता है उसी की भूख मिटती है, जो सोता है उसी की थकावट दूर होती है और जो औषध का सेवन करता है वही निरोग होता है, यह बात इतनी प्रसिद्ध है कि बच्चा-बच्चा जानता है। यह बात कर्म के सम्बन्ध में भी समझी जा सकती है। कहा भी है-

स्वयंकृतं कर्म यदात्मना पुरा, फलं तदीयं लभते शुभाशुभम्।
परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटं, स्वयंकृतं कर्म निरर्थकं तदा।।

अर्थात्- स्वयं आत्मा ने जो कर्म पहले उपार्जन किये हैं, उन्हीं कर्मों का शुभ या अशुभ फल वह आत्मा भोगता है। अगर दूसरे के किए हुए कर्मों का फल आत्मा भोगने लगे तो अपने किये कर्म निष्फल हो जाएंगे।

कई लोग कहते हैं- लोक में यह देखा जाता है कि कोई कर्म करता है और दूसरा कोई उसका फल भोगता है। उदाहरणार्थ- इंग्लैण्ड और जर्मनी परस्पर युद्ध करते है, मगर उसका फल भारतवर्ष को भी भुगतना पड़ता है। इस सम्बन्ध में शास्त्रकार कहते हैं कि यह समझ की कमी है। धर्म शास्त्र के ज्ञाता यही मानते है कि कर्त्ता द्वारा जो किया जाता है, वही कर्म कहलाता है। जिसे कर्त्ता नहीं करता वह कर्म ही नहीं है।

क्रियते-इति कर्म।

अर्थात्- कर्त्ता द्वारा जो किया जाय, वह कर्म कहलाता है।

अगर नही किये हुए कर्म भोगे जाते है। तो किये हुए कर्म बिना फल के ही नष्ट भी हो जाएंगे। ऐसी स्थिति में बड़ी गड़बड़ी मचेगी। कल्पना कीजिए एक व्यक्ति ने शुभ कर्म किया और दूसरे ने अशुभ कर्म किया। शुभ

कर्म का फल शुभ और अशुभ कर्म का फल अशुभ है। अगर एक व्यक्ति दूसरे के कर्म का भी फल भोगता है तो उसे शुभ और अशुभ फल एक ही साथ भोगना पड़ेगा! दूसरे के कर्म का फल भोगने के कारण कोई भी प्राणी सुखी नहीं हो सकेगा, क्योंकि उसे दूसरों के अशुभ कर्म भोगने पड़ेंगे। इसी प्रकार कोई भी जीव अशुभ कर्म करके भी दुःख नहीं भोगेगा, क्योंकि वह दूसरों के शुभ कर्म से सुख प्राप्त कर लेगा। किसी भी मनुष्य को मुक्ति प्राप्त न हो सकेगी, क्योंकि उसे पर–कृत कर्मों का फल भोगना होगा। इस प्रकार उसके मोक्षसाधक सभी अनुष्ठान निष्फल हो जाएंगे। ऐसा होने से कृतकर्मनाश और अकृतकर्माभ्यगम दोष आएंगे अर्थात् किये कर्मों का फल न मिलना और बिना किये का फल मिलना, यह दोनों बाधाएं उपस्थित होंगी। अतएव यही मानना अनुभव और युक्ति के अनुकूल है कि जीव अपने किये हुए कर्मों का ही फल भोगता है, पराये किये का नहीं।

कभी मत समझो कि कर्त्ता दूसरा है और आपत्ति हमारे सिर आ पड़ी है। बिना किया कोई भी कर्म भोगा नहीं जाता। यह संभव है कि अभी तुमने कोई कार्य नहीं किया है और फल भोगना पड़ रहा है, मगर यह फल तुम्हारे ही किसी समय किये कर्म का फल है। प्रत्येक कर्म का फल तत्काल नहीं मिल जाता। इसलिए हमारे किस कर्त्तव्य का फल किस समय मिलता है, यह चाहे समझ में न आवे, तथापि यह सुनिश्चित है कि तुम जो फल आज भोग रहे हो वह तुम्हारे ही किसी कर्म का है।

हम अपने ही किये कर्म का फल भोगते हैं, यह जान लेने पर शान्ति ही रहती है, अशान्ति नहीं होती। अपनी आंख में अपनी ही उंगली लग जाय तो उलाहना किसे दिया जाय! उसे शान्तिपूर्वक सह लेने के सिवाय और क्या उपाय है? दूसरा उंगली लगाता तो उलाहना दिया जा सकता था। लेकिन ज्ञानी जन कहते हैं– अगर कभी दूसरे की उंगली आंख में लग जाय तो भी समभाव रखना चाहिए, क्योंकि दूसरा निमित्त मात्र है। वास्तत्र में तो जीव अपना किया कर्म ही भोगता है।

उक्त बातों को ध्यान में रखते हुए ही गौतम स्वामी ने अपने किये हुए कर्म के विषय में प्रश्न किया है। पहला प्रश्न दुःख के सम्बन्ध में किया गया है, अतः पहले यह देखना चाहिए कि दुःख किसे कहते हैं?

मगर इस प्रश्न का उत्तर देने से पूर्व एक बात पर और विचार कर लेना आवश्यक है। वह यह है कि दुःख अगर अपने ही किये भोगे जाते हैं तो सुख किस का किया भोगा जाता है? इसका उत्तर यह है कि संसार के दुःख तो

दुःख हैं ही, लेकिन संसार के सुख भी दुःख ही हैं। पर के संयोग से कभी सुख नहीं प्राप्त होता, दुःख ही होता है।

कहा जा सकता है कि संसार में साक्षात् सुख अनुभव किया जाता है, सभी सुख को जानते हैं, फिर उन्हें सुख न मानकर दुःख क्यों कहा गया है? इस सम्बन्ध में यहां इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि भोगोपभोग से प्राप्त होने वाला सुख, दुःख का कारण है। सुख भोगने से दुःख की दीर्घ परम्परा पैदा होती है। इसके अतिरिक्त वह सुख पराधीन है– भोग्य पदार्थों के, इन्द्रियों के और शारीरिक शक्ति के अधीन है। जहां पराधीनता है वहां दुःख है। उस सुख में निराकुलता नहीं है, व्याकुलता है, अतृप्ति है, भय है, उसका शीघ्र अन्त हो जाता है। उसकी मात्रा अत्यल्प होती है। इन सब कारणों से सांसारिक सुख, वास्तव में दुःखरूप है, दुःख–मूल है, दुःख–मिश्रित है। अतएव उसे सुख नहीं कहा जा सकता।

यहां आध्यात्मिक दृष्टि से वर्णन किया गया है। आत्मा की स्वाभाविक अनन्त शक्तियों का विकास तभी संभव है, जब संसार के असली दुःखमय स्वरूप को देखा और समझा जाय। अगर संसार के सुखाभास को सुख मान लिया, तो सांसारिक सुख का त्याग होना असंभव हो जायेगा। वास्तव में सांसारिक सुख, सुखाभास ही है। चन्दन का लेप करना, सुगन्धित पुष्पों की माला पहनना, सुन्दर वस्त्राभूषण धारण करना, यह सब दुःख है, इसमें सुख की भ्रान्ति हो रही है।

अगर वस्त्रों में सुख होता तो सर्दी में प्रिय और सुखद प्रतीत होने वाले वस्त्र गर्मी में भी प्रिय और सुखद प्रतीत होते। सर्दी में जो वस्तु सुखदायी है, वह गर्मी में सुखदायी क्यों न होगी? इससे पता चलता है कि वास्तव में बाह्य पदार्थों मे सुख नहीं है। उनमें सुख की कल्पना करना भ्रममात्र है। जिन वस्त्रों को आप सुखरूप मानते हैं, उनमें कभी आग लग जाय तो कैसे लगेंगे?

'दुःखरूप!'

भूख में लड्डू सुख देने वाले मालूम पड़ते हैं, लेकिन भूख मिट जाने पर वही लड्डू आपको जबरदस्ती मार–मार कर खिलाए जाएं तो कैसे लगेंगे?

'जहर सरीखे!'

अब जरा विचार करो कि जो लड्डू सुखदायी मालूम होते थे, वही थोड़े समय बाद दुःखदायी कैसे प्रतीत होने लगे? लड्डू में अगर सुख देने का स्वभाव है तो वह प्रत्येक स्थिति में सुख क्यों नहीं देता? इससे यह स्पष्ट है कि लड्डू में सुख की कल्पना करना भ्रम है। वास्तविक बात यह है कि जब

एक दुःख होता है तो उस दुःख के कारण दूसरा दुःख भी सुख प्रतीत होने लगता है। संसार में तो दुःख ही दुःख है। नरक से लेकर सवार्थसिद्ध विमान तक यही बात है। संसार की जिस वस्तु में जितना अधिक सुख माना जायेगा, उसके पीछे उतना ही अधिक दुःख लगा हुआ है। उदाहरणार्थ– चांदी के कड़ों में कम और सोने के कड़ों में अधिक सुख माना जाता है अतएव चांदी के कड़ों के गुम जाने की अपेक्षा सोने के कड़े गुम जाने में अधिक दुःख है। इस प्रकार जिसे जितना ज्यादा आनन्ददायक मानोगे, वह उतना ही अधिक दुःखद सिद्ध होगा।

सारांश यह है कि संसार के सुख भी वस्तुतः दुःख ही हैं। किंपाक फल दीखने में बहुत सुन्दर और खाने में बहुत स्वादिष्ट होता है, पर उसका खाना मृत्यु को आमंत्रण देना है। उसे आप सुख मानेंगे या दुःख?

'दुःख!'

इसी प्रकार कर्म–मात्र दुःखरूप है, चाहे वह सातावेदनीय हो, या असातावेदनीय हो।

गौतम स्वामी का प्रश्न है कि जीव अपने किये कर्म भोगता है या नहीं भोगता? इसके उत्तर में भगवान् ने फर्माया– किसी कर्म को भोगता है, किसी को नहीं भोगता।

इस संक्षिप्त उत्तर में वस्तुस्थिति स्पष्ट न होते देख गौतम स्वामी ने फिर पूछा– भगवन्! जीव किसी कर्म को भोगता है, किसी को नहीं भोगता; इसका क्या कारण है?

इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् फर्माते हैं– गौतम! कर्म की दो अवस्थाएं हैं– उदयावस्था और अनुदयावस्था। जो कर्म उदीरणा द्वारा या स्वाभाविक रूप से उदय में आये हैं, उन्हें जीव भोगता है और जो कर्म अब तक उदय में नहीं आये हैं, उन्हें नहीं भोगता। इसलिए सामान्य रूप में यही कहा जा सकता है कि जीव अपने किये कर्म भोगता भी है और नहीं भी भोगता है।

यहां यह आशंका हो सकती है कि जगत् में कर्मों के फल में कोई व्यवस्था नहीं देखी जाती। एक हिंसा करने वाला, झूठ बोलने वाला और चोरी करने वाला व्यक्ति सुखमय जीवन व्यतीत करता है और इसके विपरीत अच्छे काम करने वाला धर्मात्मा गरीबी और मुसीबत की जिन्दगी बिताता है। ऐसी स्थिति में यह कैसे माना जा सकता है कि कर्मों का फल अवश्य होता है, अथवा अच्छे कर्मों का अच्छा फल और बुरे कर्मों का बुरा फल मिलता है।

इस शंका का समाधान करने के उद्देश्य से ही गौतम स्वामी ने यह प्रश्न किया है और भगवान् ने उत्तर दिया है। पहले बतलाया गया है कि कर्म की दो अवस्थाएं हैं– उदयावस्था और अनुदयावस्था। चोरी करना, झूठ बोलना और दूसरों को सताना पाप–कर्म हैं और उनका फल अशुभ ही हो सकता है, मगर ऐसे पापी के पापकर्म अभी उदय अवस्था में नहीं आये हैं। वह अपने पहले किये हुए किसी शुभकर्म का फल इस समय भोग रहा है, इसी कारण सुखी मालूम होता है। वर्तमान में किये जाने वाले अशुभ कर्मों की जब उदय–अवस्था होगी, तब उसे इनका फल भी अवश्य भोगना पड़ेगा। यही बात दुःखी धर्मात्मा के विषय में लागू पड़ती है। इस समय अगर कोई धर्मनिष्ठ पुरुष दुःखी है तो समझना चाहिए कि वह पहले किये हुए किसी अशुभ कर्म का फल भोग रहा है। उसके वर्तमानकालीन धर्म कार्यों का फल अभी नहीं हो रहा है। पहले के कर्म उदयावस्था में हैं और वर्तमान–कालीन कर्म अनुदय–अवस्था में हैं। जब वह उदयावस्था में आएंगे तो उनका अच्छा फल उसे अवश्य प्राप्त होगा।

गौतम स्वामी फिर पूछते हैं– भगवान्! क्या चौबीस दंडकों के सभी जीव इसी प्रकार अपने किये कर्म भोगते हैं? इसके उत्तर में भगवान् फर्माते हैं– हां गौतम, इसी प्रकार भोगते हैं।

पहले प्रश्न में और इस प्रश्न में क्या अन्तर रहा? यह प्रश्न इसलिए किया गया है कि नरक के जीव को तो परमाधामी देव दुःख देते हैं, फिर क्या वहां पर भी जीव अपने ही किये दुःख भोगता है? भगवान् ने इस प्रश्न का उत्तर 'हां' में दिया है, इससे यह सिद्ध हुआ कि नरक के जीव भी अपने ही किये कर्मों का फल भोगते हैं। कोई भी जीव दूसरे के किये कर्म नहीं भोगता। परमाधामी जीव निमित्तमात्र है। वास्तव में असली कारण तो अपने–अपने कर्म ही है।

गौतम स्वामी ने पहला प्रश्न एक जीव की अपेक्षा से किया था, अब यह बहुत जीवों की अपेक्षा से कर रहे हैं। इस प्रश्न के उत्तर में भी भगवान् ने 'हां' कहा है। अर्थात् जो उत्तर एक जीव के सम्बन्ध में है, वही बहुत जीवों के सम्बन्ध में भी है। और वह उत्तर यही कि बहुत जीव (सभी जीव) अपने ही किये कर्म का फल भोगते है और उदय–प्राप्त कर्म का फल भोगते हैं, अनुदय–प्राप्त का फल नहीं भोगते। यह बात चौबीसों ही दंडकों के जीवों के लिये समान रूप से चरितार्थ होती है।

दुःख या कर्म सम्बन्धी प्रश्नोत्तर के पश्चात् गौतम स्वामी ने दूसरा प्रश्न किया कि – भगवन् ! जीव अपने किये आयुष्य को वेदता है ? इसका उत्तर भगवान् फर्माते हैं– हे गौतम! जीव अपने उपार्जन किये आयुष्य को वेदता है, पर–कृत को नहीं वेदता।

यहां यह शंका की जा सकती है कि आयु–कर्म आठ कर्मों के अन्तर्गत हैं। अतएव समुच्चय रूप से कर्मों के विषय में जो प्रश्नोत्तर किया जा चुका है, वह आयुकर्म पर भी लागू होता ही हैं। उसी प्रश्नोत्तर से यह सिद्ध हो जाता है कि जीव स्वयं कृत आयु को भोगते हैं। तथापि यहां अलग प्रश्नोत्तर आयुकर्म के विषय में क्यों किया गया है?

इसका समाधान यह है कि लोक–भ्रम निवारण के लिये विशेष रूप से यह प्रश्नोत्तर किया गया है। महाभारत आदि ग्रन्थों में यह कल्पना पाई जाती है कि आयु भी दी और ली जा सकती है। इसके अतिरिक्त कई अज्ञानी पुरुष अपनी आयु बढ़ाने के लिए बकरा मारते हैं और समझते हैं कि हमने उस की आयु ले ली है। इस प्रकार की मूढ़ता का निवारण करने के लिये भगवान् ने यह स्पष्ट कर दिया है कि अपनी आयु ही भोगी जाती है, दूसरे की आयु कोई नहीं भोग सकता। अपनी उपार्जन की हुई आयु में से किसी आयु का भोग होता है, किसी का नहीं होता। उदाहरणार्थ– कोई मनुष्य यहां मौजूद है लेकिन उसने स्वर्ग की आयु बांध ली है। वह पहले बंधी मनुष्य– आयु को भोग रहा है और अभी बंधी देव–आयु को नहीं भोग रहा है– आगे भोगेगा, क्योंकि उसका उदय अभी नहीं आया है। चौबीसों दण्डकों के लिए आयु के विषय में यही बात समझनी चाहिए।

नारकी जीव सब समान हैं?

मूलपाठ–

प्रश्न– नेरइया णं भंते! सव्वे समाहारा, सव्वे समसरीरा, सव्वे समुस्सासनीसासा?

उत्तर– गोयमा! णो इणंट्ठे समट्ठे।

प्रश्न– से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ 'नेरइया नो सव्वं समाहारा, नो सव्वे समसरीरा, नो सव्वे समुस्सासनीसासा?'

उत्तर– गोयमा! नेरइया दुविहा पन्नत्ता, तंजहा– महासरीरा य अप्पसरीरा य। तत्थ णं जे ते महासरीरा ते बहुतराए पोग्गले आहारेंति, बहुतराए पोग्गले परिणामेंति, बहुतराए पोग्गले उस्ससंति, बहुतराए पोग्गले नीससंती; अभिक्खणं आहोरेंति, अभिक्खणं परिणामेंति अभिक्खणं उस्ससंति, अभिक्खणं नीससंति। तत्थ णं जे ते अप्पसरीरा ते णं अप्पतराए पोग्गले आहारेंति, अप्पतराए पोग्गले परिणामेंति, अप्पतराए पोग्गले उस्ससंति अप्पतराए पोग्गले नीससंति, आहच्च आहारेंति, आहच्च परिणमोंति, आहच्च ऊससंति, आहच्च नीससंति; से तेणट्ठेणं गोयमा! एवं वुच्चइ–नेरइया सव्वे नो सव्वे समसरीरा, नो सव्वे समुस्सासनीसासा।'

संस्कृत– छाया–प्रश्न– नैरयिका भगवन्! सर्वे समाहाराः, सर्वे समशरीराः, सर्वे समोच्छ्वास– निःश्वासाः?

उत्तर– गौतम! नायऽमर्थः समर्थः।

प्रश्न– तत्केनार्थेन भगवन्! एवमुच्यते– 'नैरयिका नो सर्वे समाहाराः, नो सर्वे समशरीराः, नो सर्वे समोच्छ्वास–निःश्वासाः?'

उत्तर– गौतम! नैरयिका द्विविधाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा–महाशरीराश्च, अल्पशरीराश्च। तत्र ये ते महाशरीरास्ते बहुतरान् पुद्गलान् आहारयन्ति,

बहुतरान् पुद्गलान् परिणमयन्ति, बहुतरान् पुद्गलान् उच्छ्वसन्ति बहुतरान् पुद्गलान् निःश्वसन्ति। अभिक्षणमाहारयन्ति, अभिक्षणं परिणमयन्ति, अभिक्षणमुच्छ्वसन्ति, अभिक्षणं निःश्वसयन्ति; तत्र ये ते अल्पशरीरास्ते अल्पतरान् पुद्गलान् आहारयन्ति अल्पतरान् पुद्गलान् परिणमयन्ति, अल्पतरान् पुद्गलानुच्छ्वसन्ति, अल्पतरान् पुद्गलान् निःश्वसन्ति, आहत्य आहारयन्ति, आहत्य परिणमयन्ति, आहत्योच्छ्वसन्ति, आहत्य निःश्वसन्ति, तत् तेनार्थेन गौतम! एवमुच्यते– 'नैरयिका नो सर्वे समाहाराः, नोसर्वे समशरीरां, नो सर्वे समोच्छ्वासनिःश्वासाः'।

मूलार्थ– प्रश्न– भगवन्! सब नारकी समान आहार वाले, समान शरीर वाले तथा समान उच्छ्वास और निःश्वास वाले हैं?

उत्तर– गौतम! यह अर्थ समर्थ नहीं है– ऐसी बात नहीं है।

प्रश्न– भगवन्! इस प्रकार आप किस हेतु से कहते हैं कि– 'सब नारकी समान आहार वाले, समान शरीर और समान उच्छ्वास– निःश्वास वाले नहीं है?

उत्तर– गौतम! नारकी दो प्रकार के कहे गये हैं। वे इस प्रकार–बड़े शरीर वाले और छोटे शरीर वाले। इन में जो बड़े शरीर वाले हैं, बहुत पुद्गलों का आहार करते हैं, बहुत पुद्गलों को परिणमाते हैं, बहुत उच्छ्वास–निश्वास लेते हैं। बार–बार आहार करते हैं, बार–बार परिणमाते हैं, बार–बार उच्छ्वास तथा निश्वास लेते हैं। तथा उनमें जो छोटे शरीर वाले हैं, वे थोड़े पुद्गलों का आहार करते हैं, थोड़े पुद्गलों को परिणमाते हैं, थोड़ा उच्छ्वास–निश्वास लेते हैं, कदाचित् आहार करते हैं, कदाचित् परिणमाते हैं, कदाचित् उच्छ्वास तथा निश्वास लेते हैं। इसलिए हे गौतम! इस हेतु से ऐसा कहा जाता है कि– सब नारकी समान आहार वाले, समान शरीर वाले, समान उच्छ्वास तथा निःश्वास वाले नहीं हैं।

व्याख्यान– श्री गौतम स्वामी प्रश्न करते हैं कि– हे भगवन्! नैरयिक दुःख में पड़े हैं। उन सबका आहार समान है? वे समान शरीर वाले हैं? और उन सबका श्वास तथा निश्वास भी एक सरीखा है?

इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् कहते हैं– 'नहीं गौतम! ऐसी बात नहीं है। सब नैरयिकों का आहार आदि समान नहीं है।' तब गौतम स्वामी ने फिर प्रश्न किया– प्रभो! क्या कारण है? सब नारकियों का आहार वगैरह समान क्यों नहीं है? भगवान् फर्माते हैं– गौतम। मैंने और भूतकाल के सर्वज्ञों ने दो प्रकार के नारकीय देखे हैं और उनका कथन भी किया है। कोई नेरिये

महाशरीर वाले होते हैं, कोई अल्पशरीर वाले होते हैं। जब उनके शरीर में भिन्नता है तो आहार आदि में भिन्नता होना स्वाभाविक है।

बड़ा और छोटा शरीर अपेक्षा से है। छोटे की अपेक्षा कोई वस्तु बड़ी कहलाती है और बड़ी की अपेक्षा छोटी कहलाती है। नारकियों का छोटे से छोटा शरीर अंगुल के असंख्यातवें भाग जितना है और बड़े से बड़ा पांच सौ धनुष बराबर है। यह दोनों प्रकार के शरीर भविधारणीय शरीर की अपेक्षा से कहे गये है। उत्तर विक्रिया की अपेक्षा शरीर के परिणाम में अन्तर पड़ जाता है। सारांश यह है कि पूर्वोक्त परिणाम शरीर का स्वाभाविक परिमाण है।

उत्तर वैक्रिय शरीर अर्थात इच्छानुसार बड़ा या छोटा बनाया हुआ शरीर। जब इच्छापूर्वक बड़ा या छोटा शरीर बनाया जाता है तब वह छोटे से छोटा अंगुल के संख्यातवें भाग तक हो सकता है, इससे अधिक छोटा नहीं हो सकता। इसी प्रकार बड़े से बड़ा एक हजार धनुष का हो सकता है, इससे ज्यादा बड़ा नहीं हो सकता।

गौतम स्वामी ने जो प्रश्न किया है, उसमें पहले आहार की बात पूछी है, उसके बाद शरीर की बात पूछी है। मगर भगवान् ने पहले शरीर के सम्बन्ध मे निरूपण किया है। इस व्यतिक्रम का कारण यह है कि शरीर का परिमाण बताये बिना आहार आदि के विषय में ठीक और सुबोध उत्तर नही दिया जा सकता था। शरीर का परिमाण बता देने पर ही आहार, श्वासोच्छ्वास आदि का ठीक परिमाण बतलाया जा सकता था। इसी कारण शरीर की बात बाद मे पूछने पर भी पहले बतलाई गई है और आहार का प्रश्न यद्यपि पहला था, तथापि उसका उत्तर पीछे दिया गया है।

बड़े शरीर वाला नैरयिक बहुत पुद्गलों का आहार करता है और छोटे शरीर वाला कम पुद्गलो का। यहां भी यही बात देखी जाती है कि बड़े शरीर वाला अधिक खाता है और छोटे शरीर वाला कम। इसके लिए हाथी और शशक (खरगोश) का उदाहरण दिया जा सकता है।

आहार का यह परिमाण भी सापेक्ष ही समझना चाहिए। अर्थात् बड़े शरीर वाले के आहार की अपेक्षा छोटे शरीर वाले का आहार कम है और छोटे शरीर वाले के आहार की अपेक्षा बड़े शरीर वाले नारकी का आहार अधिक है।

यहां एक तर्क किया जा सकता है कि आपने इस लोक के प्राणियों का जो उदाहरण दिया है उससे कोई नैरयिक नियम सिद्ध नहीं होता। कभी-कभी यह देखा जाता है कि छोटे शरीर वाला बहुत आहार करता है

और वड़े शरीर वाला कोई प्राणी अल्प आहार करता है। ऐसी अवस्था में आप का दृष्टान्त कैसे घट सकता है?

इसका समाधान यह है कि वहुत–सी वातें प्रायिक कथन रूप होती हैं अर्थात् अहुत अधिकांश–को दृष्टि में रख कर कही जाती हैं। कहीं–कहीं यह वात अवश्य देखी जाती है कि वड़े शरीर वाला कम और छोटे शरीर वाला अविक आहार करता है। जुगलियों का शरीर अन्य मनुष्यों की अपेक्षा वड़ा होता है, लेकिन आहार उनका कम होता है। दूसरे मनुष्यों का शरीर जुगलियों की अपेक्षा छोटा होता है, मगर आहार उनका अविक होता है। इसी प्रकार अन्यत्र भी इस क्रम में देखा जाता है। ऐसा होने पर भी प्रायः यह सत्य ही है कि वड़े शरीर वाले का आहार अधिक होता है। अपवाद सभी जगह पाये जाते हैं, मगर सामान्य विधान भी होते ही हैं। प्रस्तुत कथन बहुतों की दृष्टि में रखकर ही किया गया है। अतएव वड़े शरीर वाला नारकी अधिक आहार करता है और छोटे शरीर वाला थोड़ा आहार करता है। कदाचित् नैरयिकों में भी आहार और शरीर का व्यतिक्रम कहीं पाया जाय तो भी बहुतों की अपेक्षा यह कथन होने से निर्दोष है।

नरक के उन जीवों को, जो छोटे शरीर में उत्पन्न होते हैं, महात्रास नहीं होता और कुछ साता भी मिलती है। महाशरीर वाले नारकियों को क्षुधा की वेदना भी अधिक होती है और ताड़ना तथा क्षेत्र आदि से उत्पन्न होने वाली पीड़ा भी अधिक होती है।

वड़े को जितनी ताड़ना होती है, उतनी छोटे को नहीं। यह कथन प्रसिद्ध ही है कि हाथी के पैर के नीचे और जीव तो दवकर मर जाते हैं, परन्तु चींटी प्रायः वच जाती है।

वड़े शरीर वालों का आहार भी वहुत होता है और परिणमन भी वहुत होता है। यह परिणमन आहार की अपेक्षा से है। इसी प्रकार वड़े शरीर वाले नैरयिक श्वास में वहुत पुद्गल ग्रहण भी करते हैं और निश्वास में वहुत पुद्गलों को छोड़ते भी हैं। वड़े शरीर वाले को वेदना ज्यादा होती है इस कारण उन्हें श्वासोच्छ्वास भी ज्यादा लेना पड़ता है। छोटे शरीर वाले को दुःख कम होता है, अतः उनका श्वासोच्छ्वास भी कम होता है।

इस वाक्य में 'जे' और 'ते' पद आये हैं। इनके संवंध में यह आशंका की जा सकती है कि अकेले 'जे' कह देने से काम चल सकता था, फिर 'ते' कहने की क्या आवश्यकता थी? इस शंका का उत्तर यह है कि भाषा के सौन्दर्य के लिए 'ते' पद का प्रयोग किया गया है।

भगवान् फर्माते हैं— हे गौतम! जिसका शरीर छोटा होता है, वह आहार कम लेता है और श्वासोच्छ्वास में भी कम पुद्गलों को ही ग्रहण करता है। इसके सिवाय कदाचित् आहार लेता है और कदाचित् नहीं भी लेता।

शंका— पहले उद्देशक में नारकी जीवों के वर्णन में कहा गया है कि नारकी जीव निरन्तर आहार करते हैं। यहां कहा जा रहा है कि कदाचित् आहार करते हैं, कदाचित् नहीं करते। दोनों कथन परस्पर विरोधी हैं। तब इनमें से किसे सत्य समझा जाय?

समाधान— यह सारा कथन बड़े शरीर की अपेक्षा से है। इसके सिवाय जब जीव अपर्याप्त शरीर में होते हैं, तब लोभ—आहार की अपेक्षा से आहार नहीं करते हैं, पर्याप्त शरीर वाले होने पर आहार करते हैं। इसी दृष्टिकोण से यह कहा गया है कि कदाचित् आहार करते हैं और कदाचित् आहार नहीं करते हैं।

उपर्युक्त सब कथन का आशय यह है कि सब नरक के जीव न तो समान आहार करते है न समान श्वासोच्छ्वास ही लेते हैं, क्योंकि उनका शरीर अपेक्षाकृत छोटा—बड़ा है।

समकर्मादि प्रश्नोत्तर

मूलपाठ—

प्रश्न— नेरइया णं भंते! सव्वे समकम्मा?

उत्तर— गोयमा! णो इणट्ठे समट्ठे।

प्रश्न— से केणट्ठेणं?

उत्तर— गोयमा! नेरइया दुविहा पन्नत्ता, तंजहा—पुव्वोववन्नगा य, पच्छोववन्नगा य। तत्थ णं जे ते पुव्वोवन्नगा ते णं अप्पकम्मतरागा, तत्थ णं जे ते पच्छोववन्नगा ते णं महाकम्मतरागा से तेणट्ठेणं गोयमा!

प्रश्न— नेरइया णं भंते! सव्वे समवन्ना?

उत्तर— गोयमा! नो इणट्ठे समट्ठे।

प्रश्न— से केणट्ठेणं तह चेव0?

उत्तर— गोयमा! जे ते पुव्वोववन्नगा ते णं विसुद्धवन्नतरागा, तत्थ णं जे ते पच्छोववन्नगा ते णं अविसुद्धवन्नतरागा, तहेव से तेणट्ठेणं एवं0—

प्रश्न— नेरइया णं भंते! सव्वे समलेस्सा?

उत्तर— गोयमा! णो इणट्ठे समट्ठे।

प्रश्न— से केणठ्ठेणं जाव 'नो सव्वे समलेस्सा?

उत्तर— नेरइया दुविहा पण्णत्ता, तंजहापुव्वोवन्नगा य पच्छोववन्नगा य; तत्थ णं जे ते पुव्वोववन्नगा ते णं विसुद्धलेस्सतरागा, तत्थ णं जे ते पच्छोववन्नग्गा ते णं अविसुद्धलेस्सतरागा, से तेणट्ठेणं0:—

संस्कृत छाया— प्रश्न— नैरयिका भगवन्! सर्वे समकर्माणाः?

उत्तर— गौतम! नायमर्थः समर्थः।

प्रश्न— तत्केनार्थेन?

उत्तर– गौतम! नैरयिका द्विविधाः प्रज्ञप्ता; तद्यथा–पूर्वोपपन्नकाश्च पश्चादुपपन्नकाश्च। तत्र ये ते पूर्वोपपन्नकास्तेऽल्पकर्मतरकाः तत्र ये ते पश्चादुपपन्नकास्ते महाकर्मतरकाः, तत् तेनार्थेन गौतम!

प्रश्न– नैरयिका भगवन्! सर्वे समवर्णाः?

उत्तर– गौतम! नायमर्थः समर्थः।

प्रश्न– तत् केनार्थेन–तथैव 0 ?

उत्तर– गौतम! ये ते पूर्वोपपन्नकास्ते विशुद्धवर्णतरकाः, तत्र ये ते पश्चादुपपन्नकास्तेऽविशुद्धवर्णतरकाः, तथैव तत् तेनार्थेनैवम्।

प्रश्न– नैरयिका भगवन्! सर्वे समलेश्याः?

उत्तर– गौतम! नायमर्थः समर्थः।

प्रश्न– तत्केनार्थेन, यावत्– 'नो सर्वे समलेश्याः!'

उत्तर– गौतम! नैरयिका द्विविधाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथापूर्वोपपन्नकाश्च, पश्चादुपन्नकाश्च। तत्र ये ते पूर्वोपपन्नकास्ते विशुद्धलेश्याः, तत्र ये ते पश्चादुपपन्नकास्तेऽविशुद्धलेश्याः। तत्तेनार्थेन–

मूलार्थ–प्रश्न– भगवन्! सब नारकी समान कर्म वाले हैं?

उत्तर– गौतम! यह अर्थ समर्थ नहीं है!

प्रश्न– भगवन्! किस कारण से?

उत्तर– गौतम! नारकी जीव दो प्रकार के कहे गये हैं। वह इस प्रकार– पूर्वोपपन्नक– पहले उत्पन्न हुए और पश्चादुपपन्नक–पीछे उत्पन्न हुए। इनमे जो नैरयिक पूर्वोपपन्नक है वे अल्प कर्म वाले हैं और पश्चादुपपन्नक है वे महाकर्म वाले है। इसलिए हे गौतम! इस हेतु से यह कहा जाता है कि– 'नारकी सब समान कर्म वाले नहीं है?'

प्रश्न– भगवन्! सब नारकी समान वर्ण वाले हैं?

उत्तर– गौतम! यह अर्थ समर्थ नहीं है।

प्रश्न– भगवन्! सो किस कारण से ?– (ऐसा कहा जाता है कि सब नारकी समान वर्ण वाले नही है?)

उत्तर– गौतम! नारकी दो प्रकार के है– पूर्वोपपन्नक और पश्चादुपपन्नक। उनमे जो पूर्वोपपन्नक है वे विशुद्ध वर्ण वाले और जो पश्चादुपपन्नक है वे अविशुद्ध वर्ण वाले है। इसलिए गौतम! ऐसा कहा गया है।

प्रश्न– भगवन्! किस कारण से कहा जाता है– यावद्– सब नारकी समान लेश्या वाले नहीं हैं?

उत्तर– गौतम! नारकी दो प्रकार के कहे गये हैं। यह इस प्रकार पूर्वोपपन्नक और पश्चादुपपन्नक। उनमें जो पूर्वोपपन्नक हैं वह विशुद्ध लेश्या वाले हैं, और उनमें जो पश्खदुपपन्नक हैं चह अविशुद्ध लेश्या वाले हैं। इस कारण ऐसा कहा जाता है कि सब नारकी समान लेश्या वाले नहीं हैं।

व्याख्यान– नारकियों के आहार आदि के सम्बन्ध में प्रश्न कर चुकने के पश्चात् अब गौतम स्वामी ने कर्म के विषय में प्रश्न किया है कि क्या सभी नारकियों के कर्म समान हैं? सभी नारकियों का वर्ण समान है? सभी नारकियों की लेश्या समान है? इन तीन प्रश्नों के उत्तर में भगवान् ने फरमाया है– गौतम! सब नारकियों के कर्म, वर्ण और लेश्या समान नहीं हैं। गौतम स्वामी ने इस असमानता का कारण पूछा, तब भगवान् ने उत्तर दिया कि– हे गौतम! नरक के जीवों के दो भेद हैं– प्रथम वे जो पहले उत्पन्न हुए हैं, और दूसरे वे जो बाद में उत्पन्न हुए हैं। जो जीव नरक में पहले उत्पन्न हो चुके हैं, उन्होंने नरक की बहुत–सी स्थिति भोग ली है, उनके बहुत से कर्मों की निर्जरा हो चुकी है। इस कारण वे अल्पकर्मी हैं। इसके विपरीत जो जीव बाद में उत्पन्न हुए हैं– हाल ही पैदा हुए हैं, उन्हें बहुत कर्म भोगने हैं, इसलिए वे बहुकर्मी हैं।

भगवान् का यह कथन भी अपेक्षा से ही समझना चाहिए। मान लीजिए, एक जीव दस हजार वर्ष की स्थिति बांधकर हाल ही नरक में उत्पन्न हुआ है। और दूसरा जीव कई सागर की स्थिति से, उससे बहुत पहले उत्पन्न हो चुका है। दस हजार की स्थिति वाला चाहे बाद में ही उत्पन्न हुआ है, फिर भी वह पूर्वोत्पन्न सागरोपम की स्थिति वाले नारकी की अपेक्षा लघुकर्मी ही होगा और पहले उत्पन्न होने वाला, सागरोपम की स्थिति वाला, दस हजार वर्ष की स्थिति वाले की अपेक्षा बहुकर्मी होगा। अगर दो जीव समान स्थिति बांधकर नरक में गये हैं तो उनमें से पहले उत्पन्न होने वाला लघु–कर्मी होगा और पश्चात् उत्पन्न होने वाला बहुकर्मी होगा, क्योंकि पहले उत्पन्न हुए नारकी ने अपने अधिक कर्म भोग लिये हैं और पश्चात् उत्पन्न होने वाले ने कम भोगे हैं।

यही बात वर्ण के विषय में है। जिसने स्थिति का कुछ भाग भोग लिया है, उसका वर्ण शुद्ध होता है और जो अभी–अभी उत्पन्न हुआ है, उसने नहीं भोगा, इस कारण उसका वर्ण अशुद्ध होता है। अतएव जो जीव नरक

में पहले उत्पन्न हो चुका है, उसका वर्ण शुद्ध है, जो बाद में उत्पन्न हुआ है उसका वर्ण पूर्वोत्पन्न की अपेक्षा अशुद्ध है।

लेश्या के सम्बन्ध में भी यही बात है। लेश्या से यहां भाव लेश्या को ही ग्रहण करना चाहिए; क्योंकि द्रव्य लेश्या वर्ण में आ चुकी है। इस प्रकार जो जीव नरक में पहले उत्पन्न हो चुका है उसकी भाव लेश्या पश्चात् उत्पन्न होने वाले जीव की अपेक्षा शुद्ध है और पश्चात् उत्पन्न होने वाले की भाव लेश्या पूर्वोत्पन्न की अपेक्षा अशुद्ध है।

उदाहरणार्थ– एक मनुष्य जेल गया और दूसरा बाद में गया। पहले जेल जाने वाला आरम्भ में घबराया होगा, मगर उसके कारावास के दिन व्यतीत होते जाते हैं, वैसे–वैसे उसे शान्ति मिलती है और उसकी लेश्या शुद्ध होती जाती है। लेकिन जो मनुष्य हाल ही में जेल गया है, उसे पहले वाले की भांति शान्ति नहीं हुई है; अतएव उसकी लेश्या अपेक्षाकृत अधिक अशुद्ध है।

यही बात नरक के जीव के लिए है। नरक के जीव की लेश्या भी अपेक्षाकृत ही शुद्ध और अशुद्ध बतलाई गई है। सामान्य रूप से तो नरक में अशुद्ध लेश्या ही पाई जाती है, मगर अधिक अशुद्ध की अपेक्षा कम अशुद्ध लेश्या को यहां शुद्ध लेश्या कहा है।

शुद्ध और अशुद्ध लेश्या किसे समझना चाहिए, इस बात पर संक्षेप में विचार किया जाता है। हमारे अन्तःकरण में जो भावना, वासना या इच्छा होती है, वह लेश्या कहलाती है।

सुना गया है कि वैज्ञानिक आजकल मन की भावनाओं का भी फोटो लेते हैं। कहा जाता है कि पहले फोटोग्राफरों को यह पता नहीं था कि मन के विकल्पों का चित्र खींचा जा सकता है, मगर एक घटना ऐसी घटी कि जिससे यह पता चल गया। एक अंगरेज सज्जन ने एक महिला का चित्र खींचा। उसमें महिला के साथ मुर्गी के बच्चे और बिल्ली का भी फोटो आ गया, क्योंकि महिला उनके सम्बन्ध में उस समय विचार कर रही थी। तभी यह पता लगा कि मन की भावनाओं का भी चित्र अंकित हो सकता है। मगर यह नहीं कहा जा सकता कि मानसिक भावना में किस कोटि की उग्रता हो तब उसका चित्र आता है, अन्यथा नहीं।

कहते हैं कि जिसके विचार अशुद्ध और क्रूर होते हैं, उसका फोटो भी भद्दा आता है। स्वार्थहीन, उदार तथा शुद्ध विचार वाले का फोटो साफ आता है।

जैन शास्त्रों में उन्हीं मानसिक भावों के लिए लेश्या का निरूपण किया गया है और उनकी शुद्धता–अशुद्धता को देखकर विशिष्ट ज्ञानियों ने उनके कृष्ण, नील आदि छह भेद भी बताये हैं। उत्तराध्ययन और प्रज्ञापना सूत्र में लेश्याओं का विस्तृत वर्णन पाया जाता है। वहां उनके वर्ण, गंध, रस आदि का भी निरूपण किया है।

जिसके मन में जैसे विचार होते हैं, वैसे ही परमाणु उससे आ चिपटते हैं। जिसके मन में किसी की हत्या करने की भावना होगी, उससे काले और काले में भी अत्यन्त भद्दे पुद्गल आ चिपटेंगे। तात्पर्य यह है कि खोटा परिणाम होने पर रंग भी खोटा हो जाता है।

विज्ञान की अनेक उपयोगी बातें जैन शास्त्र में पहले ही बतला दी गई है, लेकिन आज वह बातें शास्त्र के पन्नों में ही पड़ी हुई हैं। यह हम लोगों की कमजोरी या उपेक्षा है। आज धर्मशास्त्र को गहराई से अध्ययन करने वाले और साथ ही विज्ञान के पारंगत पंडित हमारे यहां नहीं हैं। अतएव उन सब शास्त्रीय बातों पर यथेष्ट वैज्ञानिक प्रकाश नहीं पड़ता।

लेश्याएं छह हैं– (1) कृष्ण (2) नील (3) कापोत (4) पीत (5) पद्म और (6) शुक्ल। इनमें से जब कोई मनुष्य कृष्ण लेश्या को त्याग कर नील लेश्या में आता है, तब शास्त्रकारों के कथनानुसार वह कापोत लेश्या की अपेक्षा अधिक अशुद्ध है, मगर कृष्ण लेश्या की अपेक्षा शुद्ध ही है। उसमें अपेक्षाकृत अधिक उदारता और शुभ विचार आ गये हैं। लेश्या के परिणामों की तरतमता समझाने के लिए एक उदाहरण इस प्रकार है–

छह आदमी एक साथ जा रहे थे। उन्हें भूख लगी तो वे इधर–उधर दृष्टि दौड़ाने लगे। उन्हें एक फला हुआ आम का वृक्ष दिखाई दिया। सबने आम खाने का निश्चय किया। यहां तक सबके विचारों में समानता है, मगर आगे उनके विचारों में अन्तर पड़ जाता है। छहों में इस प्रकार वार्तालाप होने लगा।

पहले ने कहा– अपने पास कुल्हाड़ी भी है और अपन इतने आदमी हैं कि दो–दो हाथ मारते ही आम का पेड़ कट कर गिर जायेगा। तब हम लोग मन चाहे आम खा लेंगे।

थोड़े से आम खाने हैं, मगर परम्परा तक वृक्ष काट गिराने से कितनी हानि होगी, इस बात का विचार इस आदमी को नहीं है।

दूसरे आदमी ने कहा– यह वृक्ष न जाने कितने दिन में लगकर तैयार हुआ है, अतएव इसे काट डालना ठीक नहीं है पेड़ तो हम लोगों को खाना नहीं है। आम खाने हैं। आम मोटी–मोटी डालियां काटने से भी मिल सकते है। इसलिए यह डालियां काट लेना चाहिए।

तीसरे ने कहा– पहले आदमी की अपेक्षा तुम्हारा कहना ठीक है, लेकिन वास्तव में तुम्हारा कहना भी ठीक नहीं। बड़ी–बड़ी डालियां काटने से लकड़ियों और पत्तों का ढेर लग जायेगा। आम छोटी–छोटी डालियों में लगे इसलिये छोटी डालियां ही काटना चाहिए। इससे लकड़ियों और पत्तों का ढेर भी नहीं लगेगा और अगले वर्ष तक वह डालियां फिर फूट निकलेंगी।

चौथे ने कहा– तुम्हारी बात भी ठीक नहीं जंचती। छोटी–छोटी डालियां काटने से भी लकड़ी–पत्तों का ढेर हो जायेगा और दूसरों को लाभ न पहुंचेगा। हमें फल खाने से मतलब है, इसलिए फलों के गुच्छे ही तोड़ लो।

पांचवें ने कहा– यह भी स्वार्थ बुद्धि की बात है। फल खाना क्या तुम्ही जानते हो, दूसरे नहीं? अगर तुम्हारी ही तरह पहले आने वालों ने विचार किया होता– सब कच्चे–पक्के फल तोड़ लिये होते– तो आज तुम्हें ये फल कहा से मिलते? इसलिए कच्चे फल रहने दो। पके–पके तोड़ लो।

छठे ने कहा– औरों से तुमने ठीक कहा है; पर आम का यह वृक्ष इतना बड़ा है। इसमें पके फल बहुत अधिक हैं। हम लोग सभी फल नहीं खा सकेंगे। फिर सब पके फल तोड़ने से क्या लाभ है? तुम लोग जितने फल खा सको उतने ले लो उससे अधिक लेने का तुम्हें क्या अधिकार है? आम का वृक्ष प्रकृति से ही इतना उदार है कि वह पके फल अपने ऊपर नहीं रखता। सर्व साधारण के उपभोग के लिए उन्हें त्याग देता है। सो तुम नीचे गिरे हुए पके फलो से ही काम चला सकते हो। अधिक फल बिगाड़ने से क्या लाभ है?

यहां छहों आदमियो के विचार आम खाने के होने पर भी छह प्रकार

निकलने पर नील लेश्या और नील लेश्या से निकलने पर कापोत लेश्या होती है। कापोत लेश्या से ऊंचे उठने पर तेजो (पीत) लेश्या, तेजो लेश्या से पद्म लेश्या और पद्म लेश्या से भी ऊपर शुक्ल लेश्या होती है। तेजो लेश्या से धार्मिकता आरम्भ होती है। इन लेश्याओं के भी अवान्तर भेद अनेक हैं, परन्तु मुख्य भेद यही है। लेश्याओं का यह वर्णन सुनकर आप अपनी कसौटी कीजिए। देखिए, आप किस लेश्या में हैं और किस प्रकार शुद्धता बढ़ाकर आत्म–शुद्धि प्राप्त करनी चाहिए। इसीलिए शास्त्रों में लेश्या का वर्णन किया गया है।

समवेदनादि प्रश्नोत्तर

मूलपाठ–

प्रश्न– नेरइया णं भंते! सव्वे समवेयणा?

उत्तर– गोयमा! णो इण्ट्ठे समट्ठे।

प्रश्न– से केणट्ठेणं?

उत्तर– गोयमा! नेरइया दुविहा पन्नता, तंजहा– सण्णिभूआ य, असण्णिभूआ य; तत्थ णं जे ते सण्णिभूआ ते णं महावेयणा, तत्थ णं जे ते असण्णिभूआ ते णं अप्पवेयणतरागा से तणट्ठेणं गोयमा!0

प्रश्न– नेरइया णं भंते! सव्वे समकिरिया?

उत्तर– गोयमा! णो इणट्ठे समट्ठे।

प्रश्न– से केणट्ठेणं?

उत्तर– गोयमा! नेरइया तिविहा पण्णत्ता। तंजहा– सम्मदिट्ठी, मिच्छदिट्ठी, सम्माभिच्छदिट्ठी; तत्थ णं जे ते समदिट्ठी तेसिं णं चत्तारि किरियाओ पन्नता। तंजहा– आरंभिया, परिग्गहिया, मायावत्तिया, अपच्चक्खाणकिरिया। तत्थ णं जे ते मिच्छदिट्ठी तेसिं नं पंच किरीयाओ कज्जंति, तंजहा– आरंभिया जाव मिच्छादंसणवतिआ। एवं सम्मा मिच्छादिट्ठीणं पि से तेणट्ठेणं गोयमा!0।

प्रश्न– नेरइया णं भंते! सव्वे समाउआ सव्वे समोववन्नगा?

उत्तर– गोयमा! णो इण्ट्ठे समट्ठे।

प्रश्न– से केणट्ठेणं?

उत्तर– गोयमा! नेरइया चउव्विहा पन्नता; तंजहा–अत्थेगइया समाउआ समोववन्नगा, अत्थेगइआ समाउआ विसमोववन्नगा, अत्थेगइआ विसमाउआ समोववन्नगा, अत्थेगइया विसमाउआ विसमोववन्नगा, से तेणट्ठेणं गोयमा !0।

संस्कृत–छाया–प्रश्न– नैरयिका भगवन्! सर्वे समवेदना?

उत्तर– गौतम! नायमर्थः समर्थः!

प्रश्न– तत्केनार्थेन?

उत्तर– गौतम! नैरयिका द्विविधाः प्रज्ञप्ताः। तद्यथा संज्ञिभूताश्च, असंज्ञिभूताश्च तत्र ये ते संज्ञिभूतास्ते महावेदनाः, तत्र ये ते ऽसंज्ञिभूतास्ते ऽल्पवेदनाः, तत्तेनार्थेन गौतम!०।

प्रश्न– नैरयिका भगवन्! सर्वेसमक्रियाः?

उत्तर– गौतम! नायमर्थः समर्थः।

प्रश्न– तत्केनार्थेन?

उत्तर– गौतम! नारकास्त्रिविधाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा–सम्यग्दृष्टिः, मिथ्यादृष्टिः, सम्यग्–मिथ्यादृष्टिः, तत्र ये ते सम्यग्दृष्टयस्तेषां चतस्रः क्रियाः प्रज्ञप्ताः तद्यथा–आरम्भिकी, पारिग्रहिकी, मायाप्रत्यया, अप्रत्याख्यानक्रिया। तत्र ये ते मिथ्यादृष्टयस्तेः पच क्रियाः क्रियन्ते, तद्यथा–आरम्भिकी यावद् मिथ्यादर्शनप्रत्यया, एवं सम्यग् मिथ्यादृष्टिनामपि, तत् तेनार्थेन गौतम? ०।

प्रश्न– नैरयिका भगवन्! सर्वे समायुष्काः, सर्वे समोपपन्नकाः?

उत्तर– गौतम! नायमर्थः समर्थ।

प्रश्न– तत् केनार्थेन?

उत्तर– गौतम! नारकाश्चतुर्विधाः प्रज्ञप्ताः। तद्यथाअस्त्येककाः समायुष्काः समोपपन्नकाः, अस्त्येककाः समायुष्काः विषमपन्नकाः, अस्त्येकका विषमायुष्काः समोपपन्नकाः अस्त्येकका विषमायुष्का विषमोपपन्नकाः। तत् तेनार्थेन गौतम!०।

मूलार्थ– प्रश्न–भगवन्! सब नारकी समान वेदना वाले हैं?

उत्तर– गौतम! यह अर्थ समर्थ नहीं है!

प्रश्न– भगवन्! किस कारण से?

उत्तर– गौतम! नारकी दो प्रकार के कहे गये हैं। वह इस प्रकार– संज्ञिभूत और असंज्ञिभूत। उनमें जो संज्ञिभूत हैं वे महावेदना वाले हैं। उनमें जो असंज्ञिभूत हैं वे अल्पवेदना वाले हैं। इस कारण गौतम! (ऐसा कहा जाता है कि सब नारकी समान वेदना वाले नहीं हैं।)

प्रश्न– भगवन्! सब नारकी समान क्रिया वाले हैं?

उत्तर– गौतम! यह अर्थ समर्थ नहीं है।

प्रश्न– भगवन्! सो किस कारण से?

उत्तर– गौतम! नारकी तीन प्रकार के कहे गये हैं। वे इस प्रकार सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टि (मिश्रदृष्टि) उनमें जो सम्यग्दृष्टि

है। उन्हें चार क्रियाएं कही गई हैं। वे इस प्रकार–आरंभिकी, पारिग्रहिकी, मायाप्रत्यया और अप्रत्याख्यानक्रिया। और जो मिथ्यादृष्टि हैं उन्हें पांच क्रियाएं होती हैं। वे इस प्रकार–आरंभिकी यावत् मिथ्यादर्शनप्रत्यया। इसी प्रकार सम्यग्मिथ्यादृष्टि को भी समझना चाहिए। इस कारण हे गौतम! ऐसा कहा जाता है कि सब नारकी समान क्रिया वाले नहीं हैं।

प्रश्न– भगवन्! सब नारकी समान आयुष्य वाले और समोपपन्नक (एक साथ उत्पन्न होने वाले) हैं?

उत्तर– गौतम! यह अर्थ समर्थ नहीं है।

प्रश्न– भगवन्! किस कारण से?

उत्तर– गौतम! नारकी चार प्रकार के कहे गये हैं। वह इस प्रकार–कोई कोई समान आयु वाले और एक साथ ही उत्पन्न होने वाले हैं, कोई–कोई समान आयु वाले परन्तु विषमोपपन्नक–आगे–पीछे उत्पन्न होने वाले हैं। कोई–कोई विषम आयु वाले और एक साथ उत्पन्न होने वाले हैं और कोई–कोई विषम आयु वाले तथा आगे–पीछे उत्पन्न होने वाले हैं। इस कारण गौतम! ऐसा कहा जाता है कि सब नारकी समान आयु वाले और एक साथ उत्पन्न होने वाले नहीं हैं।

व्याख्यान– लेश्या सम्बन्धी प्रश्नोत्तर के पश्चात् गौतम– स्वामी ने वेदना के विषय में प्रश्न किया है। वह पूछते हैं– भगवन्! क्या सभी नरक के जीवों को एक सरीखी वेदना होती है? भगवान् ने इस प्रश्न का उत्तर निषेध में दिया है। तब गौतम स्वामी फिर प्रश्न करते हैं– भगवन्! क्या कारण है कि नरक के सब जीवों को एक सरीखी वेदना नहीं होती? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने फर्माया है– नारकी जीवों में कोई संज्ञिभूत होते हैं और कोई असंज्ञिभूत होते है। संज्ञिभूत नारकियों को बहुत वेदना होती है और असंज्ञिभूत नारकियों को अल्प वेदना होती है।

यहां प्रश्न उपस्थित होता है कि सज्ञिभूत और असंज्ञिभूत किसे कहते है? इस सम्बन्ध मे टीकाकार का कथन है कि संज्ञी का अर्थ है– सम्यग्दर्शन अर्थात् शुद्ध श्रद्धा। सम्यग्दर्शन वाले जीव को संज्ञी कहते हैं और जिन्हें संज्ञीपन प्राप्त हुआ है, उसे संज्ञिभूत कहते है।

संज्ञिभूत का दूसरा अर्थ है– जो पहले असंज्ञी (मिथ्या–दृष्टि) थे और अब संज्ञी (सम्यग्दृष्टि) हो गये है, अर्थात् जिन्हें सम्यग्दर्शन रूप जन्म मिला है, नरक मे ही जो मिथ्यात्व छोड़कर सम्यग्दृष्टि हुए है, वे संज्ञी कहलाते हैं। संज्ञिभूत को बहुत वेदना होती है।

यह आशंका की जा सकती है कि सम्यग्दृष्टि को कम वेदना होनी चाहिए परन्तु यहां अधिक वेदना बतलाई गई है। इसका क्या कारण है? इस आशंका का समाधान यह है कि सम्यग्दृष्टि जब नरक में जाता है या नारकी को जब सम्यग् दर्शन हो जाता है तब वह अपने पूर्वकृत कर्मों का विचार करता है और सोचता है– 'अहो! मैं कैसे घोर संकट में आ पड़ा हूं! यह संकट अचानक ही आ गया है। भगवान् अर्हन्त का धर्म सब संकट टालने वाला और परमानन्द देने वाला है, उसका मैंने आचरण नहीं किया। इसी कारण यह अचिन्तित आपदा आ पड़ी है। मैं विषय रूपी विष के लालच में फंस गया, जो ऊपरी दृष्टि से अच्छे प्रतीत होते थे, मगर जिनका परिणाम अत्यन्त दारुण है! इन विषयों के जाल में फंस जाने के कारण ही मैंने अर्हन्त भगवंत के धर्म का आचरण नहीं किया। और अब इस घोर विपदा में पड़ा हूं।' इस प्रकार का पश्चात्ताप संज्ञिभूत नारकी को होता है जिससे उसकी मानसिक वेदना, ग्लानि और क्षोभ बढ़ जाता है और वह महान् वेदना का पात्र होता है।

असंज्ञिभूत को यह मालूम ही नहीं कि 'हम अपने कर्म का फल भोग रहे हैं।' अतएव उन्हें पश्चात्ताप नहीं होता और न मानसिक पीड़ा ही होती है। इसी कारण असंज्ञिभूत को कम वेदना होती है।

यह बात लोक व्यवहार में भी देखी जाती हैं। कोई कुलीन तथा बुद्धिमान् पुरुष अपने पूर्वजों की सुशिक्षा को जानता हो, उस पर श्रद्धा भी रखता हो और कुमार्ग से घृणा करता हो, तथापि कभी किसी के बहकाने–फुसलाने में आकर अगर कोई नीति–विरुद्ध काम कर डालता है, और कदाचित् उसे कारागार की सजा मिलती है तो उसके पश्चात्ताप की सीमा नहीं रहती। आत्मग्लानि की घोर वेदना से वह बेचैन रहता है। कारागार के कभी–कभी होने वाले कष्टों की अपेक्षा आत्मग्लानि और पश्चात्ताप का कष्ट उसके लिए बहुत अधिक और असह्य हो जाता है। इसके विपरीत जो अकुलीन और निर्लज्ज हैं, उनके लिए कारागार ससुराल बन जाता है। उन्हें न पश्चात्ताप होता है, न ग्लानि होती है। वे वहां मस्त और प्रसन्न रहते हैं। ऐसे लोगों को कारागार में कम कष्ट होता है।

तात्पर्य यह है कि सम्यग्दृष्टि को वेदना अधिक होती है, क्योंकि उसे पश्चात्ताप अधिक होता है और असंज्ञिभूत अर्थात् मिथ्यादृष्टि को कम वेदना होती है क्योंकि स्वकृत कर्म को न जानने से उन्हें पश्चात्ताप नहीं होता। यह एक आचार्य का अभिप्राय है।

बहुत से लोगों को अपने विषय में ही यह नहीं मालूम होता है कि – मैं सम्यग्दृष्टि हूं। इस बात को जानने के लिए अपने आत्मा को अपने ही गज से नापना चाहिए। जिस आत्मा को आरंभ, परिग्रह और संसार के विषय भोग अरुचिकर मालूम न हों– बुरे न लगें– समझना चाहिए कि वह मिथ्यादृष्टि है। और कषाय के उदय से चाहे आरंभपरिग्रह छूटे न हों, लेकिन उन पर आन्तरिक अरुचि बनी रहे, भीतर ही भीतर उनके प्रति घबराहट होती हो तो समझना चाहिए कि वह आत्मा सम्यग्दृष्टि है।

कुछ लोगों का यह कथन है कि सम्यग्दृष्टि नरक में नहीं जाता, मगर जिसने सम्यक्त्व प्राप्त करने से पहले ही नरकायु का बंध कर लिया हो, वह नरक में अवश्य जाता है। नरक में जाने पर भी वह शुक्ल पक्षी होता है और उसे अपने कृत कर्मों पर पश्चात्ताप होता है।

संज्ञिभूत और असंज्ञिभूत के विषय में किसी–किसी आचार्य का मत भिन्न है। उनका कहना है कि संज्ञिभूत का अर्थ यहां संज्ञी पंचेन्द्रिय ही है। अर्थात् जो नरक जाने से पूर्व संज्ञी पंचेन्द्रिय थे, उन्हें यहां संज्ञिभूत कहा गया है। संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव में तीव्र अशुभ परिणाम होते हैं इस लिए वह सातवें नरक तक जा सकते हैं। जो जीव आगे के नरक में जाते हैं उन्हीं को अधिक वेदना होती है और नरक में जाने से पहले जो असंज्ञी थे, उन्हें यहां असंज्ञिभूत कहा गया है। ऐसे जीव रत्नप्रभा नामक कम वेदना वाले नरक में ही उत्पन्न होते हैं, अतएव उन्हें कम वेदना होती है।

अथवा– यहां संज्ञिभूत का अर्थ पर्याप्त और असंज्ञिभूत का अर्थ अपर्याप्त भी है। जिसकी छह पर्याप्तियां पूर्ण हो गई हों वह पर्याप्त कहलाता है और जिसने अभी तक उन्हें पूर्ण न किया हो उसे अपर्याप्त कहते हैं। संज्ञिभूत अर्थात् पर्याप्त को अधिक वेदना होती है और असंज्ञिभूत अर्थात् अपर्याप्त को कम वेदना होती है।

विभिन्न आचार्यों द्वारा की गई इन भिन्न–भिन्न व्याख्याओं को जानने से यह शंका उठना स्वाभाविक है कि इनमें से किसे वास्तविक माना जाय? वास्तव में संज्ञिभूत का अर्थ क्या है? इस शंका का समाधान यह है कि पूर्वोक्त सभी अर्थ ठीक हैं। उनमें मिथ्या कोई नहीं है। जो अर्थ जिस अपेक्षा से किया गया है वह उस अपेक्षा से ठीक ही है। जैन धर्म अनेकान्तवादी है इसलिए एकान्त का हठ नहीं करना चाहिए।

गौतम स्वामी फिर प्रश्न करते हैं– क्या समस्त नारकी समान क्रिया वाले हैं? भगवान् ने उत्तर दिया– नहीं। गौतम स्वामी द्वारा कारण पूछने पर भगवान् ने फर्माया– गौतम! नारकी तीन प्रकार के हैं।

कुछ आदमियों को काल कोठरी में देखकर, देखने वाला समझने लगता है– इन सब की क्रिया समान ही है, क्योंकि इनका रहन–सहन और खान–पान समान है। इसी प्रकार नरक के जीवों की क्षेत्र–वेदना आदि समान दीखती है, अतः यह प्रश्न उपस्थित हुआ है कि क्या नारकी जीवों की क्रिया समान है?

भगवान् कहते हैं– नरक के जीव तीन प्रकार के हैं– एक सम्यक्–दृष्टि, दूसरे मिथ्यादृष्टि और तीसरे सम्यक् मिथ्यादृष्टि। नारकी जीव तीन प्रकार के हैं, इसलिए उनकी क्रियाएं भी एक सरीखी नहीं हैं।

'क्रिया' शब्द का अर्थ यहां कर्म–बंधन का कारण रूप क्रिया है। अर्थात् जिसे करने से आत्मा कर्म में लिप्त हो, वह क्रिया है।

क्रिया करने वाला कर्त्ता कहलाता है और कर्त्ता द्वारा किया जाने वाला कार्य क्रिया कहलाता है। कल्पना कीजिए, एक व्याध धनुष–बाण लेकर किसी पशु को मार रहा है। यहां व्याध कर्त्ता है, पशु कर्म है, मारना क्रिया है और धनुष बाण करण है। यहां नैरयिक कर्त्ता हैं। वे जिस कार्य द्वारा कर्म–पुद्गलों से लिप्त होते हैं, वह क्रिया है। यहां इसी क्रिया के सम्बन्ध में प्रश्न किया गया है।

कर्म को रोकने के लिए क्रिया रोकनी पड़ती है। क्रिया रोके बिना कर्म नहीं रुकते। इसीलिए श्रावक को 'क्रिया–कर्म–बंध–कुशल' कहा जाता है। जो व्यक्ति क्रिया–कर्म और बंध को जानने में कुशल होगा, वह अल्प क्रिया करेगा। श्रावक को ऐसा ही होना चाहिए।

भगवान् कहते हैं– सब नैरयिकों की क्रिया समान नहीं है। नारकियों में जो सम्यग्दृष्टि हैं उन्हें चार ही क्रियाएं लगती हैं।

कर्म–वंध के कारण रूप होने वाली क्रियाएं पांच हैं। उनमें पहली आरंभिया क्रिया है। पृथ्वीकाय आदि जीवों का हनन करना ही आरंभिया क्रिया है। हल कुदाली से पृथ्वी को खोदना, यही क्रिया है, ऐसा नहीं समझना चाहिए, कयोंकि नारकी जीवों के पास न हल है, न कुदाली है, फिर भी उन्हें यह क्रिया लगती है। आत्मा में प्रमाद–असावधानी आना ही क्रिया का प्रधान अंग है।

दूसरी पारिग्रहिकी क्रिया है। धर्मोपकरणों को, जो धर्म की साधना के लिए ही रखे जाते हैं, छोड़कर अन्य समस्त पर–पदार्थ परिग्रह हैं और उन पर ममता होना परिग्रह है। धर्मोपकरणों पर भी अगर मूर्छा होती है तो वह भी परिग्रह हो जाते हैं। इसीलिए शास्त्र में कहा है–

मुच्छा परिग्गहो वुत्तो

अर्थात्– मूर्छा ही परिग्रह है। इसलिए साधु को अपने शरीर पर भी ममता का भाव नहीं रखना चाहिए।

मूर्छा रखना ही परिग्रह है, इतना मात्र कह दिया जाय और 'धर्मोपकरणों के अतिरक्त' न कहा जाय तो क्या हानि है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि इससे व्यवहार में गड़बड़ी होती। साधु लोग ममत्व न करके रुपये–पैसे रखने लग जाते। इस प्रकार की गड़बड़ न उत्पन्न होने देने के लिए यह स्पष्ट किया है कि धर्मोपकरणों के अतिरिक्त साधु को और कोई भी पदार्थ नहीं रखना चाहिए। धर्मोकरण भी सकारण ही रखे जाते हैं। बिना धार्मिक प्रयोजन के रक्खी जाने वाली प्रत्येक वस्तु परिग्रह है। कदाचित् कोई यह कहे कि अमुक वस्तु मैंने रखी है, पर उसके ऊपर मुझे ममता नहीं है, तो उससे पूछना चाहिए कि धर्म के प्रयोजन में न आने पर भी उसे किस कारण रखा है? ममता के अभाव में उस वस्तु को रखने का कोई प्रयोजन नहीं हो सकता। इसलिए यह स्पष्ट कर दिया गया है कि धर्मोपकरण के सिवाय और सब पदार्थ परिग्रह हैं। अगर धर्मोपकरण में ममता हुई तो वह भी परिग्रह है। धर्मोपकरण की मर्यादा भी शास्त्र में बतला दी गई है। शास्त्र में, साधु के लिए शास्त्र रखना कहां लिखा है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि शास्त्र रखना जीत– आचार है। भगवान् ने कहा है कि पांच आचार्य मिलकर जिस आचार की स्थापना करे और जो लोक एवं लोकोत्तर व्यवहार के विरुद्ध न हो वह जीत व्यवहार कहलाता है। इस प्रकार से स्थापित किया हुआ आचार प्रामाणिक होता है।

तीसरी क्रिया मायाप्रत्यायिकी है। सरलता का भाव न होना– कुटिलता

कई लोगों का कथन है कि अगर हम जान–बूझकर कोई काम नहीं करते, अनजाने में कोई काम हो जाता है, तब क्रिया कैसे लग सकती है? इसका समाधान यह है कि गफलत के कारण क्रिया लगती है। गफलत न करके, अगर मर्यादा कर ली जाय तो क्रिया नहीं लगती। गफलत करने वाले को सजा मिलती ही है।

पांचवीं मिथ्यादर्शन क्रिया है। अजीव को जीव, जीव को अजीव, धर्म को अधर्म, अधर्म को धर्म, साधु को असाधु और असाधु को साधु समझना, इस प्रकार विपरीत दृष्टि होना मिथ्यादर्शन है। इसके निमित्त से लगने वाली क्रिया मिथ्यादर्शन क्रिया कहलाती है।

भगवान् फर्माते हैं– सम्यग्दृष्टि को पहली चार क्रियाएं लगती हैं, मिथ्यादर्शन की क्रिया नहीं लगती है।

यहां यह विचारणीय है कि नैरयिकों के पास हल, कुदाली आदि आरंभ के साधन विद्यमान नहीं हैं, फिर भी उन्हें आरंभिकी क्रिया क्यों लगती हैं? उन्हें इस क्रिया के लगने का कारण उपयोग का अभाव है। बाह्य परिग्रह भी उनके पास नहीं है, पर ममता के कारण पारिग्रहिकी क्रिया उन्हें लगती है। नरक के जीव घोर दुःख में पड़े हैं। वे मायाचार क्या करते हैं? मगर वे क्रोध करते हैं, इस कारण मायावत्तिया क्रिया उन्हें लगती है। उन्हें भोगविलास प्राप्त नहीं है और न प्राप्त होने की अनुकूलता ही है, लेकिन उनमें मोह विद्यमान है और अप्रत्याख्यानावरण कषाय का क्षयोपशम नहीं हुआ है, इस कारण वह प्रत्याख्यान नहीं कर सकते। अप्रत्याख्यान न करने से उन्हें अप्रत्याख्यान क्रिया लगती है।

शंका–शास्त्र में मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग को कमंबंध का कारण बतलाया है। मगर यहां आरंभ आदि को कर्मबंध का कारण कहा है। सो दोनों कथन परस्पर विरोधी क्यों न माने जाएं?

समाधान– दोनों कथनों में तात्विक विरोध तनिक भी नहीं है। एक जगह योग को कारण कहा है, दूसरी जगह आरम्भ–परिग्रह को कारण बतलाया है। यह दोनों योग के अन्तर्गत हैं। शेष दोनों ओर तीन–तीन रहे। एक ओर मिथ्यात्व, अविरति और कषाय हैं, दूसरी ओर मिथ्यादर्शन, अप्रत्याख्यान और माया हैं। इनमें लेशमात्र भी विरोध नहीं है। अतएव शब्दों का किंचित् भेद होने पर भी वस्तु दोनों जगह एक ही है।

नारकियों में जो सम्यग्दृष्टि हैं उनमें चार क्रियाएं होती हैं और जो मिथ्यादृष्टि हैं उनमें पांचों क्रियाएं होती हैं।

इसके पश्चात् गौतम स्वामी प्रश्न करते हैं– भगवन्! सब नारकी समान आयु वाले और साथ ही उत्पन्न हुए हैं? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् फर्माते हैं– नहीं गौतम! ऐसा नहीं है। तब गौतम स्वामी द्वारा कारण पूछने पर भगवान् उत्तर देते हैं–

गौतम! इस अपेक्षा से नारकी चार प्रकार के हैं। कई समान आयु वाले और साथ ही उत्पन्न हुए हैं, जैसे स्थिति दस–दस हजार वर्ष की है और उत्पन्न भी साथ साथ हुए हैं। यह समायु और समोपन्नक कहलाते हैं। दूसरे समान आयु वाले और विषम उत्पत्ति वाले हैं, जैसे आयु तो दस–दस हजार वर्ष की है मगर एक साथ उत्पन्न नहीं हुए हैं। तीसरे विषम आयु वाले और सम उत्पत्ति वाले हैं, जैसे एक साथ उत्पन्न होने वाले दस हजार वर्ष की और एक सागरोपम स्थिति वाले। चौथे विषम आयु वाले और विषम उत्पत्ति वाले है, अर्थात् जिनकी आयु भी समान नहीं हैं और उत्पत्ति भी एक साथ नहीं हुई है। इस चौभंगी के कारण सब नारकी समान आयु वाले और एक साथ उत्पन्न हुए नहीं है।

नारक जीवों के पहले दो भेद किये थे, फिर तीन भेद किये और यहां चार भेद किये गये हैं। इसमें पारस्परिक विरोध की संभावना नहीं करना चाहिए। प्रत्येक वस्तु में अनेक धर्म पाये जाते हैं। उन धर्मों के आधार पर उनकी जाति (समूह) को विभिन्न दृष्टियों से विभिन्न संख्यक भेदों में बांटा जा सकता है। जैसे, किसी कक्षा में पांच विद्यार्थी हों तो उन्हें प्रान्त के भेद से दो भागो में विभक्त किया जा सकता है, उम्र के लिहाज से उनके तीन भेद किये जा सकते है, वस्त्रों की अपेक्षा से चार भेद किये जा सकते हैं और व्यक्तित्व के आधार पर वह पांच है। यही बात यहां नारक जीवों के विषय में है।

असुर कुमार देव– सब समान हैं?

मूलपाठ–

प्रश्न– असुरकुमारा णं भंते! सव्वे समाहारा, समसरीरा?

उत्तर– जहा नेरइया तहा भाणियव्वा, नवरं–कम्मवण्ण–लेस्साओ परिवण्णेअव्वाओ पुव्वोववण्ण महाकम्मतरा, अविसुद्धवण्णतरा, अविसुद्धलेस्सतरा। पच्छोववराणा पसत्था, सेसं तहेव। एवं जाव थणियकुमारा णं।

संस्कृत–छाया– प्रश्न– असुर कुमारा भगवन्! सर्वे समाहाराः, समशरीराः?

उत्तर– यथानैरयिकास्तथा भणितव्याः, नवरम्–कर्म–वर्णलेश्याः परिवर्णयितव्याः– पूर्वोपपन्ना महाकर्मतराः, अविशुद्धवर्णतराः, अविशुद्धलेश्यातराः। पश्चादुपपन्नाः प्रशस्ता, शेषं तथैव। एवं यावत् स्तनित–कुमाराः।

मूलार्थ–प्रश्न–भगवन्! सब असुरकुमार समान आहार वाले और समान शरीर वाले हैं?

उत्तर– गौतम! असुर कुमारों का वर्णन नारकियों के समान कहना चाहिए। विशेषता यह है कि असुरकुमारों के कर्म, वर्ण और लेश्या नारकियों से विपरीत कहना चाहिए। अर्थात् पूर्वोत्पन्न असुर कुमार महाकर्म वाले, अविशुद्ध वर्ण वाले और अशुद्ध लेश्या वाले हैं। पश्चात् उत्पन्न होने वाले प्रशस्त हैं। शेष पहले के समान समझना चाहिए। इसी प्रकार स्तनित कुमारों तक जानना चाहिए।

व्याख्यान– पहले दंडक में नारकी के विषय में प्रश्नोत्तर हो चुके। अव असुरकुमारों के दूसरे दंडक के विषय में प्रश्नोत्तर आरम्भ होते हैं।

गौतम स्वामी पूछते हैं कि असुरकुमार जाति की अपेक्षा एक ही हैं तो क्या उन सबका आहार और शरीर भी समान है? इसके उत्तर में भगवान् ने फर्माया है– गौतम! ऐसा नहीं है। असुरकुमारों के विषय में भी सभी बातें

नैरयिकों के समान ही हैं। अन्तर केवल यह है कि असुरकुमारों का कर्म, वर्ण और लेश्या, नैरयिकों के कर्म, वर्ण और लेश्या से विपरीत समझना।

भगवान् ने संक्षेप में यह उत्तर दिया है। टीकाकार विषय को स्पष्ट करने के लिए कहते हैं कि यद्यपि असुरकुमारों के आहार का सूत्र नैरयिकों के आहार के सूत्र ही के समान है, तथापि नैरयिकों का आहार किस अपेक्षा से कहा है और असुरकुमारों का किस अपेक्षा से कहा है, यह भेद जानने योग्य है।

नारकी जीवों के समान असुरकुमार भी अल्पशरीर वाले और महाशरीर वाले हैं। महाशरीर वाले असुरकुमार बहुत पुद्गलों का आहार करते हैं, बार-बार आहार करते हैं और बार-बार उच्छ्वास लेते हैं। अल्पशरीर वाले असुरकुमार थोड़े पुद्गलों का आहार करते हैं, बार-बार आहार नहीं करते हैं और बार-बार उच्छ्वास भी नहीं लेते हैं।

असुरकुमारों का स्वाभाविक शरीर जघन्य अंगुल के असंख्यात् भाग का और उत्कृष्ट सात हाथ का है। उत्तर वैक्रिय की अपेक्षा जघन्य अंगुल के संख्यातवें भाग और उत्कृष्ट एक लाख योजन हैं।

असुरकुमारों का आहार मानसिक आहार समझना चाहिए। वे इच्छा करते हैं और उसी समय उनकी भूख मिट जाती है। उनका आहार सामान्यतया मनुष्य के समान नहीं होता। अल्प शरीर वालों का कम आहार और महाशरीर वालों का अधिक आहार अपेक्षाकृत समझना चाहिए।

शंका- कोई-कोई देव मनुष्य की तरह कवलाहार करते है और कोई-कोई रोम से भी आहार करते हैं। फिर यहां देवों को मानसिक आहार करने वाला क्यों कहा है?

समाधान- देवों का प्रधान आहार मानसिक ही होता है। वे विशेषतया मानसिक आहार ही करते है और शास्त्र में विशेष की बात ली जाती है। अतएव देवों को मानसिक आहारी कहा है।

अल्प शरीरी और महाशरीरी का अल्पाहार तथा महाआहार अपेक्षा से ही है। किसी असुरकुमार का शरीर सात हाथ का है और किसी का छह हाथ का। सात हाथ वाले की अपेक्षा छह हाथ वाले का आहार कम है, परन्तु पांच हाथ वाले की अपेक्षा छह हाथ वाले का अधिक है। इस प्रकार का कम अधिक होना अपेक्षाकृत ही है।

शंका- असुरकुमार का आहार चतुर्थ भक्त का और श्वासोच्छ्वास सात स्तोक में कहा है। फिर यहां बार-बार आहार और उच्छ्वास क्यों कहा?

समाधान– बार–बार का आहार भी अपेक्षाकृत ही समझना चाहिए। एक असुरकुमार चतुर्थ भक्त अर्थात् एक दिन के अन्तर से आहार करता है और दूसरा हजार वर्ष में एक बार आहार करता है। हजार वर्ष में एक बार आहार करने वाले की अपेक्षा एक दिन के अन्तर से आहार करने वाला बार–बार आहार करता है और पांच दिन में आहार करने वाला कदाचित् आहार करता है। लोक में भी ऐसा ही व्यवहार होता है। यही बात श्वासोच्छ्वास के सम्बन्ध में भी समझनी चाहिए। कोई सात स्तोक में श्वास लेता है और कोई एक वक्त में श्वास लेता है। पक्ष में एक बार उच्छ्वास लेने वाले की अपेक्षा सात स्तोक में श्वास लेने वाला बार–बार श्वास लेता है।

अथवा अल्पशरीरी का अल्पाहार और अल्पश्वास तथा कदाचित् आहार और कदाचित् श्वास अन्तराल की अपेक्षा से कहा है। अल्प शरीर वालों के आहार और श्वासोच्छ्वास में अन्तराल बहुत पड़ जाता है, इस अपेक्षा में यह कथन किया है।

अन्तराल का अर्थ है– बीच या आंतरा। एक आहार और दूसरे आहार के बीच का समय अन्तराल, आंतरा, व्यवधान या अन्तर कहलाता है।

यद्यपि महाशरीर वाले के आहार में भी अन्तराल है– एक दिन का अन्तर पड़ता है, परन्तु वह अन्तर अत्यल्प है, इसलिए नगण्य है। नगण्य होने के कारण ही अल्प शरीरी की अपेक्षा महाशरीरी का आहार अभीक्ष्ण आहार कहा है। यह बात आगम से भी सिद्ध है कि महाशरीर वाले का आहार बार–बार होता है और अल्पशरीर का आहार, अन्तराल बड़ा होने से बार–बार नहीं होता। यथा–प्रथम देवलोक के देव का शरीर सात हाथ का है। उनका आहार दो हजार वर्ष के अन्तर से और उच्छ्वास दो पक्ष के अन्तर से होता है। अनुत्तर विमान के देव का शरीर एक हाथ का है और उनका आहार तैंतीस हजार वर्ष के अन्तर से तथा श्वासोच्छ्वास तैंतीस पक्ष के अन्तर से होता है। इस अपेक्षा से प्रथम, देवलोक के देवों का शरीर बड़ा है इसलिए वे आहार और उच्छ्वास भी बार–बार लेते हैं। इनकी अपेक्षा अनुत्तर विमान के देवों का शरीर छोटा है, इसलिए वे आहार और उच्छ्वास भी अल्प लेते हैं। यही बात असुरकुमारों के विषय में है।

अथवा–पर्याप्त अवस्था में महाशरीर वाले असुरकुमार लोमाहार की अपेक्षा बार–बार आहार लेते हैं और अपर्याप्त अवस्था में अल्पशरीर वाले असुरकुमार लोमाहार नहीं करते हैं, किन्तु ओजाहार ही करते हैं, इस अपेक्षा

से भी महाशरीर वाले बार–बार आहार करते है और अल्पशरीर वाले कदाचित् आहार करते हैं।

भगवान् ने असुरकुमारों के कर्म, वर्ण और लेश्या की असमानता निरूपण करते हुए यह भी बतलाया है कि इनके कर्म आदि नारकियों से उल्टे होते हैं। इसका आशय यह है कि नैरयिकों में जो प्रथमोत्पन्न हैं, वे विशुद्ध कर्म, वर्ण और लेश्या वाले हैं और पश्चात् उत्पन्न होने वाले अशुद्ध कर्म आदि वाले हैं। लेकिन असुरकुमारों में इससे विपरीत है। जो असुरकुमार पहले उत्पन्न हुए हैं उनके कर्म, वर्ण और लेश्या अशुद्ध हैं तथा बादमें उत्पन्न होने वालों के विशुद्ध हैं।

इस विपरीतता का कारण यह है कि पहले उत्पन्न होने वाले असुरकुमार अहंकार में चूर होकर नरक के जीवों को बहुत त्रास देते हैं। त्रास सहन करने से नरक के जीव तो कर्मों की निर्जरा करते हैं, लेकिन असुरकुमार नये–नये कर्म बांधते हैं। वह अपनी तीव्रतर भावना के कारण अपनी अशुद्धता बढ़ाते हैं। उनका पुण्य क्षीण हो जाता है। पुण्य क्षीण होने से और कर्म के बंध से उनका कर्म, वर्ण और लेश्या अशुद्ध हो जाती है।

अथवा–बद्धायुष्क की अपेक्षा से देखा जाय तो पूर्वोत्पन्न असुरकुमार नारकी जीवों को त्रास देने के कारण तिर्यंच गति का आयुष्क बांधते हैं। इसलिए वे अशुद्ध कर्म, वर्ण और लेश्या वाले हैं। बाद में उत्पन्न हुए असुरकुमारों ने अभी परलोक का आयुष्य नही बांधा है। वे अपने साथ जो शुभ कर्म ले गये है, वह भी कम नहीं हुए हैं, इस कारण वे विशुद्ध कर्म, वर्ण और लेश्या वाले होते हैं।

असुरकुमारों की वेदना भी नारकी जीवों के समान, एक सी नही होती। उनमें भी दो भेद है– संज्ञिभूत और असंज्ञिभूत। संज्ञिभूत चारित्र के विराधक होते है और चारित्र की इस विराधना के कारण उन्हें मानसिक वेदना पश्चात्तापजन्य, बहुत होती है। इसलिए संज्ञिभूत (सम्यग्दृष्टि) महावेदना वाले होते है। असंज्ञिभूत अर्थात् मिथ्यादृष्टियों को यह वेदना नही होती। इस कारण वह अल्पवेदना वाले होते हैं।

अथवा–पूर्वभव में जो संज्ञी (समनस्क) थे, वे संज्ञिभूत कहलाते हैं। या जो पर्याप्त अवस्था प्राप्त कर चुके हैं वे संज्ञिभूत कहलाते हैं। इन्हे शुभ वेदना की अपेक्षा महावेदना होती है और असंज्ञी–भूत को अल्प वेदना होती है। शेष सब नैरयिकों की तरह नागकुमार आदि के विषय में भी यथायोग्य समझना चाहिए।

पृथ्वीकायिक जीव सब समान हैं?

मूलपाठ–

पुढविक्काइयाणं आहार–कम्म वन्नलेस्सा जहा नेरइयाणं।

प्रश्न– पुढविक्काइया णं भंते! सव्वे समवेयणा?

उत्तर– हंता, समवेयणा।

प्रश्न– से केणट्ठेणं भंते समवेयणा?

उत्तर– गोयमा! पुढविक्काइया सव्वे असन्नी असन्निभूअं अणिदाए वेयणं वेदेंति, से तेणट्ठेणं0।

प्रश्न– पुढविक्काइया णं भंते! सव्वे समकिरिया?

उत्तर– हंता, समकिरिया।

प्रश्न– से केणट्ठेणं?

उत्तर– गोयमा! पुढविक्काइया सव्वे मायी मिच्छादिट्ठी। ताणं णिअइआओ पंच किरीयाओ कज्जंति, तंजहा–आरंभिया जाव मिच्छादंसणवत्तिया से तेणट्ठेणं0। समाउआ, समोववन्नगा जहा नेरइआ तहा भाणियव्वा।

संस्कृत छाया– पृथिवी कायिकानामाहार–कर्म–वर्णलेश्या यथा नैरयिकाणाम्।

प्रश्न– पृथिवीकायिका भगवन्! सर्वे समवेदनाः?

उत्तर– हन्त, समवेदनाः।

प्रश्न– तत्केनार्थेन भगवन्! समवेदनाः?

उत्तर– गौतम! पृथिवीकायिकाः सर्वेऽसंज्ञिनोऽसंज्ञिभूता अनियतेन वेदनां वेदयन्ति, तत्तेनार्थेन0।

प्रश्न– पृथिवीकायिका भगवन्! सर्वे समक्रियाः?

उत्तर– हन्त, समक्रियाः।

प्रश्न– तत्केनार्थेन?

उत्तर– गौतम! पृथिवीकायिकाः सर्वे मायिनो मिथ्या–दृष्टयः। तैर्नियतिकाः पञ्च क्रियाः क्रियन्ते, तद्यथा–आरम्भिकी यावद् मिथ्यादर्शनप्रत्यया। तत्तेनार्थेन0। समायुष्काः, समोपपन्नकाः, यथा नैरयिकास्तथा भणितव्याः।

मूलार्थ– पृथिवीकाय के जीवों का आहार, कर्म, वर्ण और लेश्या नारकियों के समान समझना चाहिए।

प्रश्न– भगवन्! पृथिवीकायिक सब समान वेदना वाले हैं?

उत्तर– हां गौतम! समान वेदना वाले हैं।

प्रश्न– भगवन्! किस कारण से समान वेदना वाले हैं? (ऐसा कहा जाता है)

उत्तर– गौतम! सब पृथिवीकायिक जीव असंज्ञी हैं और असंज्ञिभूत वेदना को अनिर्धारित रूप से वेदते हैं, इस कारण हे गौतम! ऐसा पूर्वोक्त कहा गया है।

प्रश्न– भगवन्! सब पृथिवीकायिक समान क्रिया वाले हैं?

उत्तर– हां, समान क्रिया वाले हैं।

प्रश्न– भगवन्! किस कारण से? (ऐसा कहा जाता है?)

उत्तर– गौतम! सब पृथिवीकायिक मायी और मिथ्यादृष्टि है। इसलिए उन्हें नियम से पांचों क्रियाएं होती हैं। वे पांच क्रियाएं यह है– आरंभिकी, यावत् मिथ्यादर्शन–प्रत्यया। इस कारण गौतम! पूर्वोक्त अनुसार कहा जाता है। जैसे समायुष्क और समोपपन्नक नारकी कहे है, उसी प्रकार पृथ्वीकायिक भी कहने चाहिएं।

व्याख्यान–असुर कुमार आदि के वर्णन के पश्चात् यहां पृथ्वीकायिक जीवों के आहार आदि का वर्णन किया गया है। श्री गौतम पूछते हैं– भगवन्! क्या पृथ्वीकाय के सब जीव समान आहारी है? भगवान् ने उत्तर दिया– नहीं। क्योंकि पृथ्वीकाय के जीवों के भी दो भेद है– महाशरीरवान् और अल्पशरीरवान्! महाशरीरी का आहार आदि बार–बार होता है और अल्पशरीरी का कदाचित् होता है। इत्यादि समस्त वर्णन और कर्म, वर्ण तथा लेश्या आदि का वर्णन नैरयिकों के समान ही समझना चाहिए। यह बात सूत्र में, संक्षेप में प्रकट कर दी गई है।

समाधान– अंगुल के असंख्यातवें भाग वाले शरीर में भी तरतमता से असंख्य भेद हैं। अतएव एक दूसरे की अपेक्षा से उनमें कोई महाशरीर हैं, कोई अल्पशरीर हैं। हाथी की अपेक्षा चिउंटी का शरीर अत्यन्त अल्प होता है फिर भी उनमें किसी का बड़ा और किसी का छोटा शरीर जैसे प्रत्यक्ष देखा जाता है, उसी प्रकार पृथ्वीकाय के जीवों का शरीर दो प्रकार का है।

इस सम्बन्ध में आगम का प्रमाण है। पन्नवणा सूत्र में कहा है– पृथ्वीकाय के जीवों की गणना अगर पृथ्वीकायिक से की जाय तो पृथ्वीकायिक चतुःस्थान पतित है। अर्थात् अनन्त भागहीन, अनन्त भाग अधिक, अनन्त गुणहीन, अनन्त गुण अधिक, इन्हें छोड़कर संख्यात भाग हीन, असंख्यात भाग हीन, संख्यात गुण अधिक और असंख्यात गुण अधिक इन चारों स्थानक वाले हैं। इन्हें चतुःस्थान पतित (चौठाण वडिया) कहते हैं। तात्पर्य यह है कि यद्यपि सब पृथ्वीकायिक अंगुल के असंख्यात भाग शरीर वाले हैं, लेकिन उनमें किसी का शरीर संख्यात भाग हीन है, किसी का असंख्यात भागहीन है। इसी प्रकार किसी का शरीर संख्यात भाग अधिक है, किसी का असंख्यात भाग अधिक है। इस अपेक्षा से पृथ्वीकायिक अल्पशरीरी भी हैं और महाशरीरी भी हैं।

महाशरीर वाले पृथ्वीकायिक लोम–आहार द्वारा बहुत पुद्गलों का आहार करते हैं और बार–बार श्वासोच्छ्वास लेते हैं। अल्पशरीर वाले कम आहार करते हैं और कम श्वासोच्छ्वास लेते हैं। कदाचित् आहार लेते हैं और कदाचित् आहार नहीं लेते हैं। यही बात पर्याप्त और अपर्याप्त अवस्था की अपेक्षा से भी कही जा सकती है।

पृथ्वीकायिकों के कर्म, वर्ण और लेश्या का वर्णन नारक जीवों के समान ही समझना चाहिए। वेदना के विषय में कुछ अन्तर है, अतएव उसके लिए अलग प्रश्नोत्तर किये गये हैं।

गौतम स्वामी पूछते हैं– भगवन्! पृथ्वीकायिक समान वेदना वाले हैं? इसके उत्तर में भगवान् ने फर्माया–हां गौतम! समान वेदना वाले हैं। तदनन्तर कारण पूछने पर भगवान् ने उत्तर दिया– सब पृथ्वीकायिक असंज्ञी हैं और असंज्ञी जीवों को होने वाली वेदना को वेदने वाले हैं। उनकी वेदना निर्धारण रहित होती है अर्थात असंज्ञी होने के कारण मूर्छित या उन्मत्त पुरुष के समान वे गाफिल होकर कष्ट भोगते हैं। उन्हें यह पता नहीं चलता कि कौन मुझे पीड़ा दे रहा है, कौन मारता है, कौन काटता है और किस कर्म के उदय से यह वेदना हो रही है?

पृथ्वीकाय के जीवों की वेदना के विषय में आचारांग सूत्र में कहा है कि जैसे गूंगे और अंधे को कोई मारे या काटे तो वह यह नहीं कह सकता या देख सकता कि कौन मुझे मार या काट रहा है। उसी प्रकार पृथ्वीकाय के जीव भी दुःख सहन कर रहे हैं।

शंका– यहां सब पृथ्वीकाय के जीवों की वेदना समान बतलाई है, पर यह कैसे संभव है? यहां के किसी पृथ्वीकायिक का छेदन–भेदन किया जाता है पर सुमेरु पर्वत में जो जीव हैं, उनका छेदन–भेदन नहीं होता। ऐसी दशा में सबकी वेदना समान कैसी मानी जाय?

समाधान– यह कथन सामान्य जाति की अपेक्षा से है। मनुष्यों में से किसी के कान, हाथ छोटे होते हैं, किसी के बड़े। मगर सामान्य की अपेक्षा से यही कहा जाता है कि मनुष्य समान कान वाले होते है। इसी प्रकार पृथ्वीकायिकों के विषय में भी जाति की अपेक्षा से ही यह कहा गया है कि सभी पृथ्वीकायिक असंज्ञी हैं अतः सब समान वेदना वेदते है।

इससे आगे क्रिया का प्रश्न आता है। सभी पृथ्वीकायिक मायी मिथ्यादृष्टि रूप में उत्पन्न हुए है, इसलिए सभी पांचों क्रिया वाले हैं।

पृथ्वीकाय के जीव बिना हटाये, एक स्थान से दूसरे स्थान पर हट भी नही सकते, फिर भी वे पांचों क्रियाएं करते है। यद्यपि वे स्वय अव्यक्त चेतना की दशा में पड़े हुए हैं, लेकिन भगवान् उन्हें भी व्यक्त रूप मे देख रहे हैं। उनके आरंभिया क्रिया है और आरंभ का कारण भी मौजूद है। वे श्वासोच्छ्वास और आहार लेते है। और इन क्रियाओं मे आरभ होता है। यद्यपि तेरहवे गुण स्थान वाले भी श्वास लेते है, तथापि वे आरभी नहीं कहलाते। इस लिए यह विचारणीय है कि आरंभ और अनारभ का अर्थ क्या है? वास्तव मे जब तक प्रमाद और कषाय नहीं छूटते, तब तक चाहे कोई चले–फिरे नही, तब भी वह आरंभी है और प्रमाद एवं कषाय के नष्ट हो जाने पर, चलने–फिरने की क्रिया मौजूद होते हुए भी अनारंभी है। काया को एक जगह पकड़ बैठने से ही काम नही चलता। प्रमाद और कषाय पर विजय प्राप्त करना ही महत्व की बात है। उसी से निरारंभ अवस्था प्राप्त होती है।

पृथ्वीकाय के जीव मायी–मिथ्यादृष्टि होते हैं अतएव उनके पांचों क्रियाएं है। पृथ्वीकाय मे प्रायः मायी–मिथ्यादृष्टि ही उत्पन्न होते हैं। इसका प्रमाण यह है–

उम्मग्गदेसओ मग्गणासओ, गूढ हियय–माइल्लो।
सढशीलो य ससल्लो, तिरिआउं बंधए जीवो।

अर्थात्– उन्मार्ग का उपदेश देने वाला, सन्मार्ग का नाश करने वाला, गूढ़ हृदय वाला अर्थात् हृदय में गांठ रखने वाला, मायावी, शठ स्वभाव वाला, और शल्य वाला जीव पृथ्वीकाय आदि तिर्यञ्च योनि की आयु बांधता है।

पृथ्वीकाय के जीव इस समय मायाचार करते दिखाई नहीं देते, लेकिन माया के कारण ही वे पृथ्वीकाय में आये हैं। इसलिए वे मायी मिथ्यादृष्टि हैं।

जीव किसी भी योनि में हो, अगर वह मिथ्यादृष्टि है तो उसे शास्त्र मायी मिथ्यादृष्टि ही कहता है। इसलिए माया का दूसरा अर्थ अनन्तानुवन्धी कषाय समझना चाहिए। जिसे अनन्तानुबंधी कषाय का उदय होता है वह मिथ्यादृष्टि ही होता है। जहां मिथ्यात्व है वहां अनन्तानुबन्धी कषाय है और जहां अनन्तानुबंधी कषाय है वहां मिथ्यात्व है। यह दोनों साथ रहते हैं।

कई लोग अपने आपको सम्यग्दृष्टि और दूसरे को मिथ्यादृष्टि ठहराते हैं, सिर्फ इसीलिए कि दूसरा उनके समूह में नहीं है। मगर भगवान् फर्माते हैं–

मायी मिच्छादिट्ठी आमायी सम्मदिट्ठी।

अर्थात् जिसमें माया है वह मिथ्यादृष्टि है और जिसमें माया नहीं है– सरलता है वह सम्यग्दृष्टि है।

द्वीन्द्रिय आदि जीव समान हैं?

मूलपाठ—

जहा पुढिविक्काइया तहा जाव जाव—चउरिंदिया। पंचिंदिय—तिरिक्खजोणिया जहा णेरइया, णाणत्तं किरियासु।

प्रश्न— पंचिदियातिरिक्खजोणिया णं भंते! सव्वे समकिरिया?

उत्तर— गोयमा! णो इणट्ठे समट्ठे।

प्रश्न— से केणट्ठेणं भंते। एवं वुच्चइ?

उत्तर— गोयमा! पंचिंदिय तिरिक्खजोणिया तिविहा पण्णत्ता, तं जहा—सम्मदिट्ठी, मिच्छादिट्ठी सम्मामिच्छादिट्ठी। तत्थ णं जे ते सम्मदिट्ठी ते दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—असंजया य, संजयासंजया य; तत्थ णं जेते संजयासंजया तेसिं णं तिण्णिं किरियाओ कज्जंति, तं जहा—आरंभिआ, परिग्गहिआ, मायावत्तिआ; असंजयाणं चत्तारि, मिच्छादिट्ठीणं पंच, सम्मामिच्छादिट्ठीणं पंच।

संस्कृत— छाया— यथा पृथिवीकायिकास्तथा यावच्चतुरिन्द्रियाः। पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिका तथा नैरयिकाः, नानात्वं क्रियासु।

प्रश्न— पञचेन्द्रियतिर्यग्योनिका भगवन्! सर्वे समक्रियाः?

उत्तर— गौतम! नायमर्थः समर्थः।

प्रश्न— तत्केनार्थेन भगवन्? एवमुच्यते?

उत्तर— गौतम! पञचेन्द्रियतिर्यग्योनिकास्त्रिविधाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—सम्यग्दृष्टिः, मिथ्यादृष्टिः, सम्यग्—मिथ्यादृष्टि, तत्र ये ते सम्यग्दृष्टयः ते द्विविधाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—असंयताश्च, संयतासंयताश्च। तत्र ये ते संयतासंयतास्ते तिस्रः क्रियाः क्रियन्ते, तद्यथा—प्रारम्भिकी, पारिग्रहिकी, मायाप्रत्यया, असंयतानां चतस्रः मिथ्यादृष्टीनां पञ्च; सम्यग्—मिथ्यादृष्टीनां पञ्च।

मूलार्थ– जैसे पृथ्वीकायिक कहे वैसे ही अप्काय आदि द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय समझना चाहिए। पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनि वाले नारकियों के समान हैं, सिर्फ क्रियाओं में भिन्नता है।

प्रश्न– भगवन्! सब पंचेन्द्रिय तिर्यंच–योनिक समान क्रिया वाले हैं?

उत्तर– गौतम! यह अर्थ समर्थ नहीं है।

प्रश्न– भगवन्! किस कारण से ऐसा कहते हैं?

उत्तर– गौतम! पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनि वाले तीन प्रकार के हैं– सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि और सम्यग्–मिथ्या–दृष्टि। उनमें जो सम्यग्दृष्टि हैं वे दो प्रकार के हैं– असंयत और संयतासंयत। उनमें जो संयतासंयत हैं उन्हें तीन क्रियाएं होती हैं, वे इस प्रकार– आरंभिकी, पारिग्रहिकी और माया प्रत्यया। उनमें जो असंयत हैं, उन्हें चार क्रियाएं और जो मिथ्यादृष्टि तथा सम्यग्–मिथ्यादृष्टि हैं और उन्हें पांच क्रियाएं होती हैं।

व्याख्यान– अपकाय, वायुकाय, तेजस्काय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय और चौइन्द्रिय का वर्णन पृथ्वीकाय के समान ही समझना चाहिए। तात्पर्य यह है कि इनमें सिर्फ अल्पशरीर और महाशरीर का भेद है। उनका वर्णन पृथ्वीकाय के ही समान है।

शंका–मिथ्यादृष्टि को पांच क्रियाएं लगती हैं, सम्यग्दृष्टि को नहीं। द्वीन्द्रिय जीवों में सम्यग्दृष्टि भी होते हैं, फिर उन्हें पांच क्रियाएं क्यों कही हैं?

समाधान–द्वीन्द्रिय जीव सिर्फ अपर्याप्त अवस्था में थोड़े समय के लिए सम्यग्दृष्टि होते हैं और सम्यग्दर्शन की मात्रा भी अत्यल्प होती है और वह भी गिरती अवस्था में है। पहले का सम्यक्त्व नष्ट हो रहा है। अतएव ऐसे सम्यग्दर्शन की विपक्षा नहीं की गई है और इसी कारण पांच क्रियाएं कही गई हैं।

ये जीव एक ही समान वेदना वेदते हैं। यद्यपि प्रत्यक्ष में वेदना का भेद दिखाई देता है, फिर भी सामान्य रूप से अनिहा रूप वेदना एक ही है। पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनि वाले जीवों का वर्णन नारक जीवों के समान है। लेकिन इनकी क्रियाओं में भिन्नता है। पंचेन्द्रिय तिर्यंचों के सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि और मिश्रदृष्टि के भेद से तीन भेद हैं। सम्यग्दृष्टि भी दो प्रकार के हैं। एक असंयत, दूसरे संयतासंयत, संयतासंयत अर्थात् एकदेश संयत के तीन क्रियाएं होती हैं, आरंभिया, परिग्गहिया और मायावत्तिया। असंयतों को चार क्रियाएं लगती हैं। मिथ्यादृष्टि और मिश्रदृष्टि वालों को पांचों क्रियाएं लगती हैं।

श्रावक को आरंभिकी, पारिग्रहिकी और मायाप्रत्यया क्रिया लगती है। तेरहपंथी सम्प्रदाय की मान्यता है कि श्रावक का लेनदेन खान–पान आदि

सब एकांत अव्रत में है और अव्रत पाप में है। अतएव श्रावक का लेनदेन, खाना–पीना आदि सब एकान्त पाप रूप है। इसीलिए श्रावक को भोजन आदि देना एकान्त पाप है। उनके कथनानुसार सिर्फ तेरहपंथी साधुओं को आहार देने से व्रत निपजता है। तेरहपंथी साधुओं के सिवाय और सबको देना पाप है।

इस प्रकार अव्रत का नाम लेकर वे श्रावक के सभी कामों में एकान्त पाप कहते हैं मगर उनसे पूछना चाहिए कि अव्रती को पुण्य होता है या नहीं? और वह स्वर्ग जाता है या नहीं? इसके उत्तर में वे कहते हैं– अव्रती स्वर्ग तो जाते हैं मगर अव्रत सेवन से नहीं। वरन् वह जो तप करता है, अकाम कष्ट सहन करता है और वस्तुओं का त्याग करता है, इस कारण स्वर्ग जाता है। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि उसने जो तप किया है, कष्ट सहन किया है, वह सब व्रत में समझा जाए या अव्रत में? और वह किस चौकड़ी का क्षयोपशम करता है? इन प्रश्नों का उनसे कुछ भी उत्तर नहीं बन पड़ता। अगर उसका कष्ट सहन भी अव्रत में है तो अव्रत से स्वर्ग नहीं मिलता, अतएव उसे स्वर्ग भी नहीं मिलना चाहिए।

तेरहपंथी भाई श्रावक को अव्रत कैसे लगाते है, यह समझ में नही आता। समझ में आने योग्य बात भी तो नहीं है। भगवान् ने संयतासंयत तिर्यंच पञ्चेन्द्रिय को भी तीन ही क्रियाएं बतलाई है मगर तेरहपंथी मनुष्य श्रावक को भी अव्रत की क्रिया लगाते हैं! अगर यह कहा जाय कि श्रावक स्वस्त्री का आगार रखता है, इसलिए वह अव्रती है तो फिर भगवान् ने श्रावक को तीन ही क्रियाएं क्यों बतलाई हैं? भगवान् ने उसे अव्रत की क्रियाए क्यो नही बतलाई? कदाचित् वे यह कहें कि श्रावक में पूर्ण रूप से अव्रत नही पाया जाता, इसलिए अव्रत की क्रिया नहीं बतलाई गई है। उसमे तीन क्रियाए पूरी है, चौथी अधूरी है। श्रावक ने जितना त्याग किया है उतना व्रत मे है, अतएव उसे चौथी क्रिया नहीं बतलाई। इस पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि श्रावक ने अप्रत्याख्यानावरण का क्षयोपशम किया है, वह क्या कहलाया? श्रावक मे एक देश व्रत होने से अगर अव्रत की क्रिया नही लगती तो माया की क्रिया भी नही लगनी चाहिए क्योंकि श्रावक ने माया भी एक देश से ही है। मगर माया की क्रिया तो दसवे गुण स्थान तक लगना कहा है। किञ्चित् लोभ रहने से भी क्रिया बतलाई है, फिर एक देश से चौथी क्रिया लगने पर भी श्रावक को अव्रत क्रिया क्यो नही बताई?

तेरहपंथी पूछते हैं– श्रावक ने जितने अंशों में त्याग किया है, उतने अंशों में व्रत है, मगर जितने अंशों में त्याग नहीं किया, उतने अंश किसमें गिनने चाहिएं? इसका उत्तर यह है कि त्यागने से जो शेष रह गया है वह परिग्रह में शामिल है, क्योंकि श्रावक में परिग्रह की क्रिया विद्यमान है। इस विषय का विशेष विचार 'सद्धर्ममण्डन' नामक ग्रन्थ में किया गया है।

तात्पर्य यह है कि अनन्तानुबन्धी चौकड़ी का उदय होने पर पांच, अप्रत्याख्यानावरण चौकड़ी के उदय में चार, प्रत्याख्यान चौकड़ी की विद्यमानता में तीन क्रियाएं लगती हैं। जब कषाय की निवृत्ति हो जाती है तब क्रिया की भी निवृति हो जाती है।

गौतम स्वामी प्रश्न करते हैं भगवन्! तिर्यंच पञ्चेन्द्रिय विवेकहीन और विकल माने जाते हैं, इसलिए क्या सब पञ्चेन्द्रिय तिर्यंच जीव समान क्रिया वाले हैं? वे सब समान कर्मबंध करते हैं या कम–ज्यादा? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने फरमाया है– हे गौतम! सब पंचेन्द्रिय तिर्यंच समान क्रिया वाले नहीं हैं, क्योंकि उनके तीन भेद हैं– उनमें कोई सम्यग्दृष्टि है, कोई मिथ्यादृष्टि है, कोई मिश्रदृष्टि है। सम्यग्दृष्टि भी दो प्रकार के हैं, कोई संयतासंयत हैं और कोई असंयत हैं। संयतासंयत के पूर्वोक्त तीन, असंयत सम्यग्दृष्टि के चार तथा मिथ्यादृष्टि और मिश्रदृष्टि के पांचों क्रियाएं लगती हैं।

मनुष्य का वर्णन

मूलपाठ–

मणुस्सा जहा नेरइया, नाणत्तं–जे महासरीरा ते वहुतराए पाग्गले आहारेंति, ते आहच्च आहारेंति। जे अप्पसरीरा ते अप्पतराए पोग्गले आहारेंति। अभिक्खणं 2 आहारेंति। सेसं जहा णेरइयाणं जाववेयणा।

प्रश्न–मणुस्सा णं भंते! सव्वे समकिरिया?

उत्तर– गोयमा! णो इणट्ठे समट्ठे।

प्रश्न– केणट्ठेणं?

उत्तर– गोयमा! मणुस्सा तिविहा पण्णत्ता, तं जहा–सम्मदिट्ठी, मिच्छादिट्ठी सम्मामिच्छादिट्ठी, तत्थ णं जे ते सम्मदिट्टी ते तिविहा पण्णत्ता, तं जहा–संजया, संजयासंजया, असंजया। तत्थ णं जे ते संजया ते दुविहा पन्नत्ता–सरागसंजया य, वीअरागसंजया य। तत्थ णं जे ते वीअरागसंजया ते णं अकिरिया। तत्थ णं जे ते सरागसंजया ते दुविहा पन्नत्ता, तं जहा– पमत्तसंजया य, अप्पमत्तसंजया य। तत्थ णं जे ते अप्पमत्तसंजया तेसि णं एगा मायावतिया किरिया कज्जइ। तत्थ णं जे ते पमत्तसंजया तेसिं णं दो किरियाओ कज्जंति, तं जहा–आरंभिया, मायावत्तिआ। तत्थ णं जे ते संजयासंजया तेसिं णं आइल्लाओ तिण्णि किरियाओ कज्जंति, तं जहा आरंभिया, परिग्गहिया, मायावत्तिआ। असंजयाणं चत्तारि किरियाओ कज्जंति–आरंभिया, परिग्गहिया, मायावत्तिया, अपच्चक्खाणपच्चया। मिच्छादिट्ठीणं पंचआरंभिया, परिग्गहिया मायावत्तिया, अपच्चक्खाणपच्चया, मिच्छादंसणवत्तिया। सम्मामिच्छादिट्ठीणं पंच।

संस्कृत–छाया– मनुष्या यथा नैरयिकाः, नानात्व– ये महाशरीरास्ते बहुतरान् पुद्गलानाहारयन्ति, ते आहत्याऽऽहारयन्ति। येऽल्पशरीरास्ते अल्पतरान्

पुद्गलानाहारयन्ति। अभीक्ष्णं 2 आहारयन्ति। शेषं यथा नैरयिकानाम् यावद् वेदना।

प्रश्न— मनुष्या भगवन्! सर्वे समक्रियाः?

उत्तर— गौतम! नायमर्थः समर्थः।

प्रश्न— तत्केनार्थेन?

उत्तर— गौतम! मनुष्यास्त्रिविधाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा सम्यग्दृष्टिः, मिथ्यादृष्टिः सम्यग्–मिथ्यादृष्टिः। तत्र ये ते सम्यग्दृष्टयस्ते त्रिविधाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा–संयताः, संयताऽसंयताः, असंयताः। तत्र ये ते संयतास्ते द्विविधाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा–सरागसंयताः, वीतरागसंयताश्च। तत्र ये ते वीतरागसंयतास्तेऽक्रियाः। तत्र ये ते सरागसंयतास्ते द्विविधाः प्रज्ञप्ताः तद्यथा प्रमत्तसंयताश्च, अप्रमत्तसंयताश्च। तत्र ये ते अप्रमत्तसंयतास्तैरेका मायाप्रत्यया क्रिया क्रियते। तत्र ये ते प्रमत्तसंयतास्तैर्द्वे क्रिये क्रियते, तद्यथा–आरम्भिकी मायाप्रत्यया। तत्र ये ते संयतासंयतास्तैराद्यास्तिस्र क्रियाः क्रियन्ते, तद्यथा–आरंभिकी, पारिग्रहिकी, मायाप्रत्यया। असंयतैः चतस्रः क्रियाः क्रियन्ते, आरम्भिकी, पारिग्रहिकी, मायाप्रत्यया अप्रत्याख्यानप्रत्यया। मिथ्यादृष्टीनां पञ्च आरम्भिकी, पारिग्रहिकी, मायाप्रत्यया, अप्रत्याख्यानप्रत्यया, मिथ्यादर्शनप्रत्यया। सम्यग्–मिथ्यादृष्टीनां पञ्च।

मूलार्थ— मनुष्यों का वर्णन नारकियों के समान समझना चाहिए। उनमें भेद यह है— जो महाशरीर वाले हैं वे बहुतर पुद्गलों का आहार करते हैं और वे कभी कभी आहार करते हैं। जो अल्प शरीर वाले हैं वे अल्पतर पुद्गलों का आहार करते हैं और बार–बार आहार करते हैं। शेष सब नारकियों के समान वेदना पर्यन्त समझना।

प्रश्न— भगवन्! सब मनुष्य समान क्रिया वाले हैं?

उत्तर— गौतम! यह अर्थ समर्थ नहीं है।

प्रश्न— सो किस कारण भगवन्?

उत्तर— गौतम! मनुष्य तीन प्रकार के हैं। वह इस प्रकार— सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि और सम्यग् मिथ्यादृष्टि। उनमें जो सम्यग्दृष्टि हैं वे तीन प्रकार के कहे गये हैं, वे इस प्रकार— संयत, संयतासंयत और असंयत। उनमें जो संयत हैं वे दो प्रकार के कहे गये हैं— सराग संयत और वीतराग संयत। उनमें जो वीतराग संयत हैं वे क्रिया रहित हैं। उनमें जो सराग संयत हैं, वे दो प्रकार के कहे गये हैं, वे इस प्रकार–प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत। उनमें जो अप्रमत्तसंयत हैं उन्हें एक मायावत्तिया क्रिया लगती है। उनमें जो अप्रमत्तसंयत

हैं उन्हें दो क्रियाएं लगती हैं, वह इस प्रकार– आरंभिया और मायावत्तिया। उनमें जो संयतासंयत हैं उन्हें आदि की तीन क्रियाएं होती हैं, वह इस प्रकार–आरंभिया, पारिग्रहिकी और मायावत्तिया असंयत मनुष्य चार क्रियाएं करते हैं– आरम्भिया, परिग्गहिया, मायावत्तिया और अपच्चक्खाणक्रिया। मिथ्यादृष्टियों को पांच क्रियाएं होती हैं– आरम्भिया, परिग्गहिया, मायावत्तिया, अपच्चक्खाणक्रिया और मिथ्यादर्शनप्रत्यया। मिश्रदृष्टियों को भी पांच क्रियाएं होती हैं।

व्याख्यान– गौतम स्वामी पूछते हैं– भगवन्! सब मनुष्य समान आहार करने वाले हैं? इसके उत्तर में भगवान् ने फर्माया– नारकियों के समान ही सारा वर्णन समझ लो। जो विशेषता है, वह इस प्रकार है–

महाशरीर वाले मनुष्य बहुत पुद्गलों का आहार करते हैं, परन्तु कदाचित् आहार करते हैं। महाशरीरी नारकी बार–बार आहार करते हैं लेकिन महाशरीर मनुष्य कभी–कभी आहार करते हैं। यहां महाशरीर वाले मनुष्यो से देवकुरु और उत्तरकुरु के भोग भूमिज मनुष्य लेने चाहिएं। उनका शरीर तीन गाउ का होता है और आहार अष्टम भक्त होता है अर्थात् तीन दिन मे एक बार आहार करते हैं। इसलिए उन्हें कदाचित् आहार करने वाला कहा है।

अल्प शरीर वाले मनुष्य थोड़े पुद्गलों का आहार करते है, परन्तु बार–बार करते हैं।

शंका–नरक के जीव जिन पुद्गलों का आहार करते हैं वे निस्सार और स्थूल होते हैं, अतएव महाशरीर नारकों को बहुत पुद्गलों का आहार करना पड़ता है, मगर देवकुरु और उत्तरकुरु के मनुष्य सारयुक्त पुद्गलों का आहार करते है, अतएव उन्हें अधिक पुद्गलों की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए। तथापि यहां बहुत पुद्गलों का आहार बतलाया गया है। जैसे पांच सौ तोले की मिठास रखने वाली एक तोला शक्कर में बहुत पुद्गल रहते है, उसी प्रकार देवकुरु और उत्तरकुरु के जुगलिये जो आहार करते है, उसमें सारभूत पुद्गल अधिक है। इसलिए उन्हें अल्पाहारी कहना चाहिए।

सकता है– एक तोला सोने से जितने बर्तनों पर मुलम्मा किया जा सकता है, उतनी चांदी नहीं फैलती– चांदी के उतने बर्तनों पर मुलम्मा नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार सारभूत आहार में जितने पुद्गल होते हैं निस्सार आहार में उतने नहीं होते। तात्पर्य यह है कि देवकुरु उत्तरकुरु के मनुष्यों का आहार दीखने में कम होता है मगर उसमें अल्पशरीरी के आहार की अपेक्षा अधिक पुद्गल होते हैं। यही कारण है कि उन्हें बहुत पुद्गलों का आहार करने वाला कहा गया है।

अल्पशरीरी मनुष्य बार–बार आहार करता है, यह बात प्रत्यक्ष देखी जाती है, जैसे कि बालक बार–बार आहार करता है।

तीन गव्यूति (गाउ) की अवगाहना करने वाले महाशरीरी मनुष्य भी मनुष्य कहलाते हैं। और मल–मूत्र में उत्पन्न होने वाला, अंगुल के असंख्यातवें भाग की अवगाहना वाला मनुष्य भी मनुष्य कहलाता है। भगवान् ने ऐसे मनुष्य कीटों के आहार पर भी विचार किया है।

कर्म और वर्ण, पहले उत्पन्न हुए मनुष्यों के विशुद्ध और पीछे उत्पन्न होने वालों के अविशुद्ध होते हैं। यद्यपि पहले उत्पन्न होने वाले वृद्ध मनुष्य के कर्म और वर्ण भी अशुद्ध देखे जाते हैं, तथापि इस कथन में कोई बाधा नहीं आती, क्योंकि यह कथन सापेक्ष है।

इसके पश्चात् क्रिया का प्रश्न आता है। भगवान् ने फर्माया है कि मनुष्य सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि और मिश्रदृष्टि के भेद से तीन प्रकार के हैं। सम्यग्दृष्टियों में भी तीन भेद हैं और उनमें भी अवान्तर भेद हैं। उनमें भिन्न–भिन्न संख्या वाली क्रियाएं होती हैं, जिनका कथन ऊपर आ चुका है।

जिसकी श्रद्धा यथार्थ हो वह सम्यग्दृष्टि कहलाता है। विपरीत श्रद्धा अर्थात् अतात्त्विक श्रद्धा वाला मिथ्यादृष्टि कहलाता है। जिसकी श्रद्धा में वास्तविकता और अवास्तविकता का सम्मिश्रण हो वह मिश्रदृष्टि है। मिश्रदृष्टि, मिथ्यादृष्टि के ही समान है। जैसे अपरीक्षक कांच और हीरे को समान समझता है, मलयपर्वत की भीलनी चन्दन और साधारण लकड़ी को समान समझकर जलाती है, उसे साधारण लकड़ी और चंदन की लकड़ी का विवेक नहीं है उसी प्रकार यथार्थ और अयथार्थ के विवेक से शून्य मिश्रदृष्टि वाला पुरुष होता है।

जो संयम का पालन करता है, चारित्र रूपी यतना का विवेक रखता है वह संयत कहलाता है और जिसमें चारित्र की क्रिया नहीं है वह असंयत है। जो देशचारित्र की आराधना करता है, जिसके अणुव्रत हैं पर महाव्रत नहीं हैं, वह संयतासंयत या श्रावक कहलाता है।

जो संयम का पालन करता है किन्तु जिसका कषाय क्षीण या उपशान्त नहीं हुआ है वह सराग संयमी कहलाता है। प्रश्न किया जा सकता है कि जिसमें क्रोध और मान विद्यमान हैं, वह साधु कैसे हो सकता है? इसका उत्तर यह है कि शास्त्रकारों ने क्रोध आदि प्रत्येक कषाय के चार–चार भेद बतलाये हैं। अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान के क्रोध, मान आदि जब तक विद्यमान रहते हैं तब तक साधु अवस्था प्रकट नहीं हो सकती। यह बारह कषाय सकल संयम के विरोधी हैं। लेकिन संज्वलन क्रोध, मान, माया और लोभ में इतनी तीव्रता नहीं है। इनसे सकल संयम का घात नहीं होता। संज्वलन कषाय यथाख्यात चारित्र का घातक है, मगर सामायिक चारित्र का घातक नहीं है। अतएव संज्वलन कषाय की विद्यमानता में भी जो सकल संयम का पालन करते हैं वे सराग संयमी कहलाते हैं।

जिनके कषाय का सर्वथा अभाव हो गया है वह वीतराग संयत कहलाते हैं। वह भी दो प्रकार के हैं– क्षीण कषायी और उपशान्त कषायी। जैसे अग्नि को राख से ढंक कर दबा दिया जाता है उसी प्रकार कर्म–प्रकृति की शक्ति को दबा देना उपशम कहलाता है और अग्नि को बिलकुल बुझा देने के समान कर्मो को नष्ट कर देना क्षय कहलाता है। ग्यारहवे गुणस्थान वाले उपशान्त कषायी वीतराग कहलाते हैं और बारहवें तथा आगे के गुणस्थान वाले क्षीणकषायी वीतराग कहलाते हैं।

जो महापुरुष कषायों से सर्वथा मुक्त हो गये है, वे क्रिया से अर्थात् कर्मबन्ध की कारणभूत क्रिया से रहित हैं। यद्यपि संयोगी अवस्था में योग की प्रवृत्ति से होने वाली ईर्य्यापथिक क्रिया उनमें विद्यमान है पर वह क्रिया नहीं के बराबर है और इन क्रियाओं में उसकी गणना नहीं है।

चेलना रानी के हृदय में जैन साधुओं के विषय में घृणा उत्पन्न कर देना चाहता था। साधु को धर्म का यह उपहास सह्य नहीं था। वह धर्म को इस निन्दा से बचाना चाहता था। साधारण मनुष्य की अपेक्षा राजा की बात का प्रभाव अधिक पड़ता है, इसलिए ऐसा करना और भी आवश्यक हो गया था।

मुनि सोच–विचार में पड़े थे– कल हल्ला मच जायेगा और धर्म की बड़ी अप्रतिष्टा होगी। मैं घर–घर कैसे कहता फिरूंगा कि मैं निर्दोष हूं और राजा ने बलात्कार पूर्वक मुझे बंद कर दिया था। इसके सिवाय, लोग स्वभावतः आशंकाशील होते हैं। फिर राजा की बात के आगे मेरी कौन सुनेगा? इससे अच्छा तो यही होगा कि मैं राजा का ही गुरु–बौद्ध साधु हो जाऊं। इससे सारा झगड़ा ही खत्म हो जायेगा। ऐसा विचार करके मुनि ने अपनी लब्धि से राजा के गुरु का ही भेष बना लिया। वेश्या मुनि को, राजा के गुरु के भेष में देखकर घबराने लगी। वह मुनि से क्षमा–याचना करने लगी। बोली– मैं राजा की आज्ञा से आई हूं। मुझे क्षमा कीजिए। मुनि ने कहा– घबराने का क्या काम है? मगर मुझसे दूर ही रहो।

प्रभात हुआ। राजा ने चेलना पर ताने कसने शुरू किये। वह बोला तुम्हारे गुरु बड़े ढोंगी होते हैं। ऊपर से बड़े त्यागी बनते हैं पर वेश्यागमन तक का त्याग नहीं करते!

रानी दृढ़ श्रद्धा वाली थी। उसने कहा– महाराज, यह असंभव है। मेरे गुरु ऐसे कदापि नहीं हो सकते, आपके गुरु चाहे ऐसे भले ही हों।

अन्त में राजा और रानी– दोनों उस मकान पर आये। बात सारे नगर में फैल गई थी। हजारों–लाखों आदमियों की भीड़ इकट्‌ठी हो गई। राजा ने उस मकान के किवाड़ खुलवाये तो उसमें वेश्या के साथ राजा के ही गुरु निकले। राजा की नजर जब उस पर पड़ी तो वह भौंचक्का रह गया। यह क्या मामला है। यह तो उल्टी बलाय सिर पड़ी। अब रानी चेलना को अवसर मिला। वह राजा की हंसी करने लगी और राजा लज्जित होकर पछताने लगा।

आशय यह है कि धर्म पर जब कलंक आता हो तो मुनि को ऐसा करना पड़ता है। व्यवहार सूत्र में उल्लेख है कि धर्म पर अपवाद आने का अवसर उपस्थित होने पर साधु लिंग पलट कर अन्यलिंगी का भेष धारण कर ले। यद्यपि ऐसा करना माया ही है, तथापि विशेष परिस्थिति में उसका आचरण करना पड़ता है और वह भी दूसरे को धोखा देने के लिए नहीं, वरन्

प्रशस्त भाव से, धर्म की रक्षा और प्रतिष्ठा के लिए। इस प्रकार अप्रमत्त सरागी को भी मायाप्रत्यया क्रिया लगती है।

वैक्रिय लब्धि फोड़कर वेश बनाना प्रमत्त संयत में ही संभव है, किन्तु वेश परिवर्तन अप्रमत्त संयत में भी संभव है।*

प्रमत्त सराग–संयमी के दो क्रियाएं हैं– आरंभिया और मायवत्तिया। यहां पर प्रश्न किया जा सकता है कि प्रमत्त संयमी ने घर–द्वार सब त्याग किया है, फिर उसे आरंभिया क्रिया क्यों लगती है? इसका उत्तर यह है कि उसमें प्रमाद का अस्तित्व है और प्रमाद आरम्भ रूप ही है। जहां गफलत आई कि आरंभ हुआ। इसी कारण प्रमादी संयमी को आरंभिया क्रिया यहां बतलाई गई है।

प्रमत्त संयमी को आरंभिया तो लगती ही है, इस लिए भोजन बनाने आदि का आरंभ करने में भी क्या हानि है? इस प्रकार का तर्क करना अनुचित है, क्योंकि सर्वविरति के साथ जिस आरंभ का परित्याग किया गया है वह आरंभ करने से सर्वविरति का भंग हो जाता है। असावधानी से चलने–फिरने के कारण आरंभिया क्रिया लगती है। अगर साधु होकर भी आरंभ की स्थापना की जाय, आरंभ करने में हानि नहीं है, इस प्रकार की प्ररूपणा की जाय तो व्रतों के साथ सम्यक्त्व भी नष्ट हो जाता है। अतएव प्रमत्त संयत को आरम्भ से मुक्त होना चाहिए, तथापि गफलत होने पर उसे आरंभिया क्रिया लगती है।

भगवान् ने प्रमाद के योग से लगने वाली क्रिया की भी गणना की है, फिर तेरहपंथियों के कथनानुसार अगर श्रावक में देश से भी अव्रत होता तो श्रावक में चार क्रियाएं बतलाई गई होती। प्रमत्त संयत जो आरंभ करते है, वह परिग्रह रहित है। वे ममत्व करके आरंभ नही करते है। ममत्व करके आरम्भ करने में परिग्रह की क्रिया लगती है।

संयतासंयत अर्थात् श्रावक के तीन क्रियाएं होती है। असंयत सम्यग्दृष्टि के चार होती है और मिथ्यादृष्टि तथा मिश्रदृष्टि के पांचो ही होती है।

---

*छद्मस्थ अप्रमत्तगुणस्थानों का काल बहुत ही कम है– इसलिए ऐसी क्रियाएं प्रमत्तगुणस्थान में ही की जाती है फिर भी शुभयोग प्रत्यय होती है अतः वह क्रिया अप्रमत्तगुणस्थानो में भी कायम रह सकती है। –प्रकाशक

देवों का वर्णन

मूलपाठ–

वाणयन्तर– जोतिस– वेमाणिया जहा असुरकुमारा, नवरं वेयणाए णाणत्तं–माया–मिच्छादिट्ठी उव्वण्णगा य अप्पवेयणतरा, अमायिसम्माट्ठिी उववन्नगा य महावेयणतरागा भाणियव्वा जोतिस वेमाणिया।

संस्कृत– छाया–वानव्यन्तर–ज्योतिष–वैमानिका यथा असुरकुमाराः, नवरम्–वेदनायां नानात्वं मायिमिथ्यादृष्ट्युपपन्नकाश्च अल्पवेदनकाः, अमायिसम्यग्दृष्ट्युपपन्नकाश्च महावेदनका भणितव्या ज्योतिष वैमानिकाः।

मूलार्थ– यहां वाण–व्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक, यह सब असुरकुमारों के समान कहने चाहिएं। इनकी वेदना से भिन्नता है– ज्योतिषी और वैमानिकों में जो मायी मिथ्यादृष्टि उत्पन्न हुए हों वे अल्प वेदना वाले हैं और जो अमायी सम्यग्दृष्टि उत्पन्न हुए हों वह महावेदना वाले होते हैं, ऐसा कहना चाहिए।

व्याख्यान– यहां वाण–व्यन्तर, ज्योतिषिक और वैमानिक का वर्णन असुरकुमार देवों के समान ही बतलाया गया है, इनमें वेदना का भेद है।

वाण–व्यन्तर, ज्योतिषिक और वैमानिक दो प्रकार के उत्पन्न होते हैं– एक मायी मिथ्यादृष्टि, दूसरे अमायी सम्यग्दृष्टि। इनके शरीर का परिमाण अवगाहना के अनुसार भिन्न–भिन्न है। इनमें जो अल्पशरीरी हैं उनका आहार अल्प है और जो महाशरीरी हैं वे अधिकपुद्गलों का आहार करते हैं।

वेदना के विषय में असुरकुमारों के लिए यह कहा गया है कि जो संज्ञी हैं उन्हें महावेदना और असंज्ञी भूतों को अल्प वेदना होती है। यद्यपि व्यन्तरों का पाठ शास्त्रकार ने अलग कर दिया है किन्तु असुरकुमार और व्यन्तर के वर्णन में कोई अन्तर नहीं है, क्योंकि व्यन्तरों में भी असंज्ञिभूत जीव उत्पन्न

हो सकते हैं। व्यन्तरों में असंज्ञी जीव उत्पन्न होते हैं, यह बात इसी सूत्र में आगे कही जायेगी। यहां यह पाठ आया है–

'असण्णीर्ण जहण्णेणं भवणवासीसु,
उक्कोसेणं वाणमंतरेसु।'

अर्थात्– असंज्ञी जीव अगर देवगति में उत्पन्न हों तो जघन्य भवनवासियों में और उत्कृष्ट वान व्यन्तरों में उत्पन्न होते हैं।

ज्योतिष्क और वैमानिकों में असंज्ञी जीव उत्पन्न नहीं होते। इसलिए इनकी वेदना असुरकुमारों की तरह नहीं कहनी चाहिए। ज्योतिषी देवों के दो भेद हैं– मायी मिथ्यादृष्टि–उपपन्नक और अमायी–सम्यग्दृष्टि–उपपन्नक। मिथ्यादृष्टि को कम वेदना होती है और सम्यग्दृष्टि को अधिक वेदना होती है। मगर सम्यग्दृष्टि की वेदना शुभ रूप है, सातारूप है, अशुभ रूप नहीं है।

लेश्या वाले जीवों का प्रश्न

मूलपाठ–

प्रश्न– सलेस्सा णं भंते! नेरइया सव्वे समाहारगा?

उत्तर– ओहियाणं, सलेस्साणं सुक्कले स्साणं; एएसिं णं तिण्हो एक्को गमो। कण्हलेस्साणं, नीललेस्साणं पि एक्को गमो। नवरं वेदणाए– मायिमिच्छदिट्ठी–उवन्नगा य, अमायिसम्मदिट्ठी–उववन्नगा य भाणियव्वा। मणुस्सा किरियासु सराग–वीअराग–पमत्ताऽपमत्ता स भाणियव्वा। काउलेस्साणं पि एसेव गमो। नवरं–नेरइया जहा ओहिए दंडए तहा भाणियव्वा। तेउलेस्सा, पम्हलेस्सा अत्थि जहा ओहिओ दंडओ तहा भाणियव्वा। नवरं मणुस्सा सरागा, वीअरागा न भाणियव्वा। गाहाः–

दुक्खा–उए–उदिण्णे आहारे कम्म–वण्णलेस्सा य। समवेयण समकिरिया समाउए चेव बोधव्वा।

संस्कृत– छाया– प्रश्न–सलेश्या भगवन् नैरयिकाः सर्वे समाहारकाः?

उत्तर– औधिकानां, सलेश्यानां, शुक्ललेश्यानां, एतेषां त्रयणामेको गमः, कृणलेश्यानां नीललेश्यानामपि एको गमः। नवरम्वेदनायां मायिमिथ्या–दृष्ट्युपपन्नकाश्च, अमापिसम्यग्–दृष्ट्युपपन्नकाश्च भणितव्याः। मनुष्याः क्रियासु सराग–वीतराग–प्रमत्ता–ऽप्रमत्ता न भणितव्याः, कापोतलेश्या यामपिः एष एव गतः। नवरम्– मनुष्याः सरागाः, वीतरागा न भणितव्याः। गाथाः–

दुःखायुष्के उदीर्णे आहारः कर्म–वर्णः लेश्याश्च।

समवेदन–समक्रियाः समाऽऽयुष्कं चैव बौद्धव्यम्।

मूलार्थ–प्रश्न–भगवन्! लेश्या वाले सब नैरयिक समान आहार वाले हैं?

उत्तर– हे गौतम! औधिक सामान्य, सलेश्य और शुक्ल लेश्या वाले, इन तीनों का एक गम पाठ कहना चाहिए। कृष्णलेश्या वालों और नील लेश्या वालों का एक समान पाठ कहना चाहिए, पर उनकी वेदना में इस प्रकार भेद है– मायिमिथ्यादृष्टि–उपपन्नक और अमायी सम्यग्दृष्टि–उपपन्नक कहने चाहिएं। तथा कृष्ण लेश्या और नील लेश्या में मनुष्यों को सरागसंयत, वीतरागसंयत, प्रमत्तसंयत और अप्रमत्त संयत नहीं कहना चाहिए तथा कापोतलेश्या में भी यही पाठ कहना चाहिए, भेद यह है कि कापोत लेश्या वाले नैरयिकों को औधिक दंडक के समान कहना चाहिए। तेजो लेश्या और पद्म लेश्या वालों को औधिक दंडक के ही समान कहना चाहिए। विशेषता यह है कि मनुष्यों को सराग और वीतराग नहीं कहना चाहिए। गाथाः–

कर्म और आयुष्य उदीर्ण हों तो वेदते हैं। आहार, कर्म, वर्ण, लेश्या, वेदना, क्रिया और आयुष्य इन सब की समानता के सम्बन्ध में पहले कहे अनुसार ही समझना चाहिए।

व्याख्यान– अब तक जो वर्णन किया गया है, उसमें किसी खास अपेक्षा का विचार नहीं था। सामान्य रूप से चौबीस दंडकों के विषय मे विचार किया गया है। अब लेश्या की अपेक्षा से चौबीस दंडकों का विचार किया जाता है। छः लेश्याओं के छः दंडक और सलेश्य का एक, इस प्रकार सात दंडकों से यहां विचार किया गया है। सरलता से समझाने के लिए लेश्याओं की कोटियां बना ली गई है।

पहले नैरयिकों का जो वर्णन किया गया है, उसमें सामान्य नैरयिकों का प्रश्न था। लेकिन यहां यह प्रश्न है– भगवन्! लेश्या वाले नारक समान आहारी हैं? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान कहते हैं– गौतम! सलेश्य नारकों के दो भेद हैं– अल्पशरीरी नैरयिक भी सलेश्य हैं और महाशरीरी नैरयिक भी सलेश्य (लेश्यायुक्त) हैं। अतएव नारकियों के आहार आदि की वक्तव्यता पहले के ही समान समझ लेनी चाहिए।

आहार के विषय में जिस प्रकार प्रश्न किया गया है, उसी प्रकार शरीर, उच्छ्वास, कर्म, वर्ण, लेश्या, वेदना, क्रिया और उपपात के लिए भी प्रश्न करना चाहिए। इसी प्रकार चौबीसों दण्डकों को लेकर प्रश्न करने चाहिएं।

सामान्य रूप से सलेश्य का प्रश्न करने के पश्चात् कृष्ण लेश्या सम्बन्धी प्रश्न आता है। वह इस प्रकार है– कृष्ण लेश्या वाले सब नारकी समान आहारी हैं? इसके उत्तर में भगवान् फर्माते है– नहीं। क्योंकि कृष्णलेश्या

यद्यपि सामान्य रूप से एक है, तथापि उसके अवान्तर भेद अनेक हैं। कोई कृष्णलेश्या अपेक्षाकृत विशुद्ध होती है, कोई अविशुद्ध होती है। एक कृष्णलेश्या से नरक गति मिलती है और एक कृष्ण लेश्या से भवनपति देवों में उत्पत्ति होती है। अतएव कृष्ण लेश्या में तरतमता के भेद से अनेक भेद हैं। कृष्ण लेश्यावाले नारकियों के दो भेद हैं– एक अल्पशरीरी, दूसरे महाशरीरी। अतएव उन सब का आहार समान नहीं है।

कृष्ण लेश्या की तरह सभी लेश्याओं का वर्णन आहार, शरीर आदि नौ पदों को लेकर करना चाहिए। इस प्रकार सात दण्डकों का प्रश्न समझना चाहिए।

लेश्या आत्मा के साथ कर्मों का सम्बन्ध कराने वाली शक्ति है। जैसे लिफाफे को चिपकाने में गोंद की शक्ति काम आती है, उसी प्रकार आत्मा– जो स्वभावतः सच्चिदानन्द है, लेकिन भ्रमजाल में फंसा हुआ है, लेश्या के कारण कर्मों से संबद्ध हो रहा है। परिणामों की विसदृशता के अनुसार लेश्याओं के विभाग किये गये हैं। एक परिणाम वह है, जिसके अनुसार फल प्राप्त करने के लिए झाड़ काट गिराने की बुद्धि सूझती है और दूसरा परिणाम वह है जिसके अनुसार नीचे गिरे पके फलों से निर्वाह करने की भावना उत्पन्न होती है। इस प्रकार जिसके जैसे परिणाम होंगे उसके वैसी ही लेश्या होगी। और जैसी लेश्या होगी वैसे ही कर्म बंधेंगे।

शेष कथन शब्दार्थ से ही समझा जा सकता है, अतएव उसके संबंध में अधिक विवेचन की आवश्यकता नहीं है।

लेश्या का वर्णन

मूलपाठ–

प्रश्न– कइ णं भंते! लेस्साओ पण्णत्ताओ?

उत्तर– गोयमा! छ लेस्साओ पण्णत्ता, तंजहा–लेस्साणं बिइओ उद्देसो भाणियव्वो, जाव–इड्ढी।

संस्कृत–छाया–प्रश्न–कति भगवन्! लेश्या प्रज्ञप्ताः?

उत्तर– गौतम! षड् लेश्याः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा– लेश्यानां द्वितीय उद्देशको भणितव्यः, यावद्–ऋद्धिः।

मूलार्थ– प्रश्न–भगवन्! लेश्याएं कितनी कही गई हैं?

उत्तर– गौतम! लेश्याएं छः कही गई है। वह इस प्रकार–कृष्णलेश्या आदि। यहां प्रज्ञापनासूत्र में कथित लेश्या पद का दूसरा उद्देशक कहना चाहिए। वह ऋद्धि की वयक्तव्यता तक कहना चाहिए।

व्याख्यान–लेश्या के भेदों को भलीभांति समझने के लिए उसके स्वरूप को समझ लेना आवश्यक है। लेश्या के संबंध में पहले कुछ विवेचन किया गया है, फिर भी यहां दूसरे प्रकार से वर्णन करना आवश्यक है। जिसके द्वारा आत्मा के साथ कर्मपुद्गलों का श्लेष हो– आत्मा और कर्म मिलकर एकमेक हो जाएं उसे लेश्या कहते हैं। मैंने पहले बतलाया था कि कषाय से अनुरंजित योग की प्रवृत्ति लेश्या कहलाती है। मगर योग की प्रवृत्ति भी लेश्या कहलाती है। लेश्या का यह लक्षण बतलाते हुए एक आचार्य ने कहा है– जहां योग है वहीं लेश्या होती है और जहां योग नहीं है वहां लेश्या भी नहीं होती, जैसे चौदहवे गुण स्थान में। अतएव योग की प्रवृत्ति को ही लेश्या कहना चाहिए।

कषाय से अनुरंजित योग की प्रवृत्ति को लेश्या मानें तब तो तेरहवें गुणस्थान में लेश्या का अभाव हो जाएगा, क्योंकि इस गुणस्थान में तो योग

की प्रवृत्ति है वह कषाय से अनुरंजित नहीं है, क्योंकि वहां कषाय का सर्वथा अभाव हो जाता है। अतएव लेश्या का यह लक्षण ठीक नहीं जान पड़ता। यह एक पक्ष का कथन है।

दूसरे पक्ष की युक्ति इस प्रकार है– योग की प्रवृत्ति को ही लेश्या मानना उचित नहीं है, क्योंकि कषाय के बिना योग से स्थितिबंध नहीं हो सकता। योग से सिर्फ प्रकृतिबंध और प्रदेशबंध होता है, स्थितिबंध नहीं होता। स्थितिबंध और अनुभागबंध कषाय से होते हैं। अतएव अगर योग के परिणाम को लेश्या माना जाय तो कहना होगा कि स्थितिबंध और अनुभागबंध कषाय से नहीं होता।

इन दोनों पक्षों को ध्यान में रखते हुए यही कहा जा सकता है कि कषाय से अनुरंजित योग की प्रवृत्ति लेश्या कहलाती है और लेश्या तभी तक रहती है जब तक योग है। तेरहवें गुणस्थान में योग है इसलिए लेश्या है। बाद में योग नहीं है अतएव लेश्या भी नहीं है। आठवें गुणस्थान से शुक्ललेश्या होती है, वह फिर नहीं बदलती। आगे जब तक लेश्या रहेगी, शुक्ल ही रहेगी।

आचार्य कहते हैं– जब नदी में पूर आता है तब नदी की रेत समतल रूप में जम जाती है और पूर हट जाने के बाद भी रेत पर जमी हुई तरंगें दिखाई देती हैं। यह सब नदी के प्रवाह से हुआ था। नदी का प्रवाह खत्म हो गया, पानी बह गया। लेकिन उसके निमित्त से बनी हुई लहरें जमी रह गई। इसी प्रकार योग के साथ कषाय का सम्बन्ध होने से लेश्या की रचना होती है। योग को लेश्या के रूप में परिणत करना कषाय का काम है। जब कषाय हल्की होती है तब लेश्या प्रशस्त होती है। इस प्रकार कषाय और योग से लेश्या बनी है। जैसे पानी बह जाने पर भी रेत में लहरें बनी रहती हैं उसी प्रकार कषाय के नष्ट हो जाने पर भी योग के साथ लेश्या बनी रहती है। तदनन्तर जैसे वायु चलने से रेत की लहरें बिगड़ जाती हैं, उसी प्रकार तेरहवें गुणस्थान से चौदहवें गुणस्थान में जाते समय, योग का नाश होने पर लेश्या भी सर्वथा नष्ट हो जाती है।

यहां गौतम स्वामी ने भगवान् से लेश्याओं की संख्या के सम्बन्ध में प्रश्न किया है। भगवान् ने उत्तर दिया– गौतम! लेश्याएं छः हैं। वे इस प्रकार हैं– कृष्ण, नील, कापोत, तेजो, पद्म और शुक्ल। इनमें से एक–एक लेश्या में असंख्यात–असंख्यात स्थान हैं।

यहां यह आशंका की जा सकती है कि लेश्याओं के स्थान असंख्यात–असंख्यात क्यों हैं? अनन्त या संख्यात क्यों नहीं है? इसका

समाधान यह है कि जिस स्थान में जीव जाता है, वहां के योग्य लेश्या ही उसमें आती है और उस लेश्या से ही स्थितिबंध होता है। आयु के समाप्त होने पर वह लेश्या अन्तर्मुहूर्त में बदल जाती है। अर्थात् जिस लेश्या में आयुबंध होता है, मरकर उसी लेश्या में जीव जाता है।

जीव को नियत स्थान पर उत्पन्न होने के लिए कौन ले जाता है? जीव ने तो नरक या स्वर्ग देखा नहीं है, फिर उसे कौन वहां पहुंचाता है? सातवें नरक के नीचे से मरकर पृथ्वीकाय का जीव सिद्धशिला तक पहुंच जाता है। उसे क्या मालूम कि मुझे कहां जाना है और क्या करना है? अतएव जीवों को नियत स्थान पर पहुंचाने वाला कोई दूसरा होना चाहिए। वह कौन?

इस प्रकार के प्रश्नों का ठीक–ठीक उत्तर न दे सकने वालो ने ईश्वर के जिम्मे पर यह काम सौंप दिया है, वे कहते है, स्वर्ग या नरक मे भेजने वाला ईश्वर के सिवाय और कौन हो सकता है? बिना राजा की आज्ञा के न कोई जेल में आता है, न उसके महल में प्रवेश कर सकता है। कहा भी है–

अज्ञो जन्तुरनीशो ऽ यमात्मनः सुख–दुःखयोः।
ईश्वर प्रेरितो गच्छेत्, श्वभ्रं वा स्वर्गमेव वा।

अर्थात्– यह अज्ञानी जीव अपना सुख–दुःख भोगने मे असमर्थ है। इसलिए ईश्वर की प्रेरणा से प्रेरित होकर स्वर्ग–नरक मे जाता है।

ईश्वर सुख–दुःख का दाता है, इस सम्बन्ध मे, इसी सूत्र के व्याख्यान मे पहले विचार किया जा चुका है। अतएव पिष्ट पेषण करना उचित नही है। वास्तव में ईश्वर को सुख–दुःख का दाता मानने से उसने अनेक दोष आते है। इसलिए ईश्वर सुख–दुःख नहीं देता।

अगर ईश्वर सुख–दुःख नही देता तो जीव को नरक मे कौन भेजता है? इस प्रश्न का समाधान करने के लिए ही लेश्या के असंख्यात स्थान बतलाये गये है। और साथ ही यह भी बतलाया गया कि जीव जिस स्थान मे उत्पन्न होता है उसी की लेश्या में आयु–बंध होता है। इससे यह निष्कर्ष निकालना कठिन नही है कि नरक या स्वर्ग मे ले जाने वाली लेश्या ही है। कहा भी है–

मरणान्ते या गतिः सा मतिः।

अर्थात्– मृत्यु के पश्चात् जैसी गति होने वाली है वैसी ही मति मृत्युकाल मे होती है।

जब तक आयु का बंध नहीं हुआ तब तक जैसी मति है वैसी गति है, मगर आयु का बंध हो चुकने के पश्चात् जैसी गति है वैसी मति होती है। कल्पना कीजिए, आप दिल्लीनगर के मकानों की रचना देख रहे हैं। यह रचना किस प्रकार हुई है? सर्वप्रथम मनुष्य के मस्तिष्क में इस रचना का विकास हुआ, फिर उसने उसे स्थूल रूप प्रदान किया है। अतएव यह रचना मन के विचारों पर ही निर्भर है। जिस मन के विचार से यह रचना हुई है, उसी मन के विचार से वह नष्ट भी हो सकती है। इसी प्रकार स्वर्ग या नरक आदि सब मन की लेश्या पर निर्भर है। जैसी लेश्या होती है, वैसी ही गति होती है। पहले लेश्या बनी या पहले स्थान बना, यह कहा नहीं जा सकता, क्योंकि दोनों में से किसी की पहल नहीं है, दोनों अनादिकालीन प्रवाह से चल रहे हैं।

लेश्या एक साधारण सी बात मालूम होती है, पर अगर गहराई से देखा जाय तो लेश्या के ही कारण जीव अनादिकाल से भव–भ्रमण कर रहा है। अतः यह विचार मत करो कि स्वर्ग में सुख और नरक में दुःख है, वरन् निश्चित समझो कि समस्त सुख और दुःख तुम्हारी ही लेश्या में भरा पड़ा है। अनाथी मुनि ने राजा श्रेणिक को यह सब बतलाया था। उन्होंने कहा था–

अप्पा कत्ता विकत्ता य, सुहाण य दुहाण य।
अप्पा मित्तममित्तं च, दुपट्ठिय सुप्पट्ठिओ।।

अप्पा नई वेयरणी, अप मे कूडसामली।
अप्पा कामदुहा धेणू, अप मे नंदणं वणं।।

अर्थात्– बिना कर्म के कुछ होता नहीं और कर्म अपने ही किये लगते हैं। इसलिए चाहे दुःख हो चाहे सुख हो, वह अपना–आत्मा का ही किया हुआ है। जो कुछ करता है, आत्मा ही करता है। अतएव आत्मा ही अपना मित्र है और आत्मा ही अपना शत्रु है।

आत्मा के अपने ही कर्मों से सुख–दुःख की प्राप्ति होती है, इसलिए आत्मा ही वैतरणी नदी है, आत्मा ही कूट शाल्मलिवृक्ष है और आत्मा ही कामधेनु तथा नन्दनवन है।

लेश्या में ही संसार है। बुरी लेश्या में नरक है। अगर वैतरणी से डरते हो तो बुरी लेश्या क्यों उत्पन्न होने देते हो? वैतरणी की लेश्या नहीं लाओगे तो वैतरणी आप ही दूर भाग जायेगी।

अनाथी मुनि ने वैतरणी और कूट शाल्मलि वृक्ष में सारा नरक गर्भित कर दिया है और कामधेनु एवं नन्दनवन में सम्पूर्ण स्वर्ग समा दिया है। कूट

शाल्मलि, वैतरणी, नन्दनवन और कामधेनु अन्य कुछ नहीं, सब आत्मा की लेश्या में ही हैं। इस प्रकार स्वर्ग और नरक, दोनों तुम्हारी मुट्ठियों में हैं। जिसे चाहो, अंगीकार कर सकते हो। तुम स्वयं अपने दुःखदाता ईश्वर हो। दूसरा कोई तुम्हें स्वर्ग नरक का अधिकारी नहीं बना सकता।

लेश्या की विशुद्धि के लिए सतत आत्मनिरीक्षण की आवश्यकता है। तुम्हारे अन्तःकरण में कब, कौन सी लेश्या का प्रादुर्भाव होता है, यह बात शास्त्र रूपी दर्पण में, ज्ञान नेत्रों से देख सकते हो। जैसे वैद्यक शास्त्र में रोग के लक्षण बतलाये गये हैं और उन लक्षणों से यह निश्चय कर लिया जाता है कि मुझे कौन सा रोग हुआ है, इसी प्रकार शास्त्रों में लेश्या का वर्णन पाया जाता है। शास्त्रों के अनुसार मिलान करके देखो कि मुझमें कौन सी लेश्या उद्भूत हुई है। सम्यग्दृष्टि पुरुष लेश्याओं का विचार करके यह निश्चय करता है कि मैं स्वयमेव स्वर्ग—नरक का कर्त्ता हूं। अपनी लेश्या ही फलदायिनी होती है। दूसरा कोई किसी को स्वर्ग—नरक में नहीं भेज सकता।

नमि राजर्षि से इन्द्र ने कहा था कि आप राजा हैं और राजा के योग्य ही कार्य कीजिए—

आमोसे लोमहारे, य गंठी भेए य तक्करे।
नगरस्स खेमं काऊण, तओ गच्छसि खत्तिआ।।

पुरुष दुःखी है। इस प्रकार एक करता है और दूसरा भोगता है। नमि राजर्षि ने इन्द्र की बात के उत्तर में कहा–

असई तु णु स्मसे हिं मिच्छा दंडो पउंजई।
अकारिणोऽत्थबज्झन्ति, मुच्चई कारओ जिणो।।

–श्री उत्तराध्ययन सूत्र ६वां अ.

अर्थात्– हे ब्राह्मण! एक बार नहीं, अनेक बार संसार में ऐसी घटनाएं देखी जाती हैं जब निरपराध को दण्ड मिल रहा है, ऐसा प्रतीत होता है। नहीं करने वाला मारा जाता है और करने वाला बेदाग बच जाता है। यथार्थ में चोर कौन है और दंड किसे मिल रहा है, यह निर्णय इन चर्म–चक्षुओं से नहीं होता। असली अपराधकर्त्ता को पहचानने के लिए स्थूल दृष्टि नहीं, सूक्ष्म दृष्टि की आवश्यकता है।

तो नमिराज बोले– जो राजा अपराधी को दंड देना चाहता है, *निरपराध को दंड नहीं देना चाहता, वह संसार में एक भी क्षण नहीं ठहरेगा; वह मेरी ही भांति साधु बन जायेगा। क्योंकि चोर तृष्णा या लोभ से प्रेरित हो कर ही चोरी करता है। राजा उसे दंड देता है। इसका अर्थ यह हुआ कि राजा तृष्णा को, लोभ को और काम को बुरा समझता है। लेकिन जिस बुद्धि से* प्रेरित होकर वह चोर को दंड देता है, उसी बुद्धि से अपने आपको क्यों नहीं देखता? वह क्यों नहीं सोचता कि यह सब दुर्गुण मुझ में हैं या नहीं? जो चोरी करता है उसे दंड न देकर चोर को दंड क्यों देता है? असली चोर तो तृष्णा है, और वह मुझ में भी भरी हुई है। इस प्रकार मेरा ही आत्मा चोरी करने वाला है। मैं उस चोरी का विरोध नहीं करता और चोर को सजा देता हूं!

आज सैकड़ों ऐसे मौजूद हैं जो एक रुपये की चोरी करने वाले को तो सजा देते हैं और आप हजारों रुपये घूस खा जाते हैं और चोर विना हक का लेता है, इसलिए वह शिक्षा का पात्र है तो घूस लेना क्या हक का है? यह चोरी नहीं है? कोई बिना हक का लेता है, जैसे गरीब से लूटता है और रंडीबाजी में खर्च देता है, तो यह चोरी नहीं है?

चोरों को दण्ड देने के लिए पुलिस रखी जाती है, उसका खर्च प्रजा को सहन करना पड़ता है, लेकिन वास्तव में प्रजा को चोरों ने उतना न लूटा होगा, जितना पुलिस ने ही लूटा होगा। इसी प्रकार प्रजा की रक्षा के लिए राजा की स्थापना की गई, मगर राजा स्वयं प्रजा को लूटने लगा!

विना हक का लेने पर दूसरों को जो सजा देते हैं, वह स्वयं लूटने वाला आप क्यों नहीं सजा लेता। उदाहरणार्थ– आपके पास दूध से भरा हुआ

एक बर्तन है। उसे आप अपना बतलाते हैं और उसका उपयोग करते हैं। लेकिन वास्तव में वह क्या आपका है? नहीं, वह दूध गाय–भैंस का है और उस पर उनके बच्चों का अधिकार है। जिसकी माता का दूध है, उसे मिलता नहीं। बछड़े बेचारे शक्तिहीन और मूक हैं, इसलिए आप उन्हें दूध से वंचित कर देते है और स्वयं डकार जाते हैं। क्या यह दूसरों का हक छीनना नहीं है? क्या यह डकैती नहीं है? गाय–भैंस ने बच्चे के वात्सल्य से प्रेरित होकर स्तन से दूध उतारा था, लेकिन आप ने देखा कि स्तनों में दूध आ गया, तब बच्चे को अलग कर दिया और अपना हंडा भर लिया। इस छीने हुए दूध का आप मजे से उपयोग करते है। यह चोरी नही है तो क्या है? विद्वान् पुरुष इसलिए कहते है कि जो लोग चोरी करते है, वे अपने को साहूकार के रूप मे प्रसिद्ध करते है संसार में यह बड़ी भारी गड़बड़ी चल रही है। संसार मे झूठ का साम्राज्य है। जिसने खुद चोरी की और चोरी का आरोप दूसरे पर रख दिया, वह अच्छी लेश्या वाला नही है।

जाता है और सजा पाता है। लेकिन कानून–सम्मत बड़ी चोरी करने वाले साहूकार कहलाते हैं, समाज में आदर और प्रतिष्ठा के पात्र समझे जाते हैं।

प्रश्नव्याकरण सूत्र में कहा है कि राजा सबसे बड़ा चोर है। इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि सभी राजा चोर होते हैं। जिस राजा में स्वार्थ–बुद्धि हो, प्रजा के प्रति समर्पण की भावना जिसमें नहीं है और ग्रहण करने की भावना है, वही राजा चोर– सबसे बड़ा चोर है। राजा, लोगों को जितना अधिक दबाना चाहता है, उतना ही अधिक पाप प्रजा में होता है और चोरी के अपराध भी उतने ही अधिक बढ़ते हैं। आज चोरी का एक उपाय दिवाला निकालना भी है। सिक्के की कृपा से चोरी के अनेक शिष्टसम्मत तरीके ईजाद हुए हैं। सिक्के के अभाव में कोई संग्रह करता भी तो धान्य का संग्रह करता। पर धान्य का कितना संग्रह किया जा सकता है? सिवा खाने के वह और किस काम आ सकता है? लेकिन सिक्के तो जमीन में गाड़ कर रखे जाते हैं।

प्रश्नव्याकरण सूत्र का तीसरा द्वार देखो तो पता चलेगा कि वास्तव में चोर कौन है? टालस्टाय के ग्रन्थ देखने से पता चलता है कि भगवान् महावीर के अधिकांश उपदेश उनकी बुद्धि में उतर गये थे।

तात्पर्य यह है कि लेश्या की शुद्धता के लिए वस्तुतत्व का और अपने अन्तःकरण का गंभीर निरीक्षण करते रहना चाहिए। सदा अपनी चौकसी करने वाला आत्मशुद्धि की ओर शीघ्रता से प्रगति करता है।

भगवान् ने गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में कहा– गौतम! लेश्याएं छः हैं। पन्नवणा सूत्र के 34वें पद के दूसरे उद्देशक में लेश्या का जो वर्णन किया गया है, वह सब यहां समझ लेना चाहिए। वहां इस प्रकार का पाठ है–

प्र.– भगवन्! लेश्याएं कितनी हैं?

उ.– गौतम! लेश्याएं छः हैं– शुक्ल लेश्या से कृष्ण लेश्या तक।

प्र.– भगवन! नैरयिक के कितनी लेश्याएं हैं?

उ.– गौतम! तीन हैं।

यहां यह विचारने योग्य है कि जीव कृष्ण, नील और कापोत लेश्या से नरक गया है और उन्हीं लेश्याओं से नरक से निकल कर तीर्थंकर भी होता है। जो लेश्याएं नरक गति में जाने का कारण बनी थीं, वही तीर्थंकर होने का भी कारण बनती हैं। इसी से यह समझा जा सकता है कि प्रत्येक लेश्या में कितने–कितने अवान्तर भेद हैं।

हे गौतम! नरक के जीवों में तीन लेश्याएं होती हैं। तिर्यंच योनि के जीवों में छहों लेश्याएं पाई जाती हैं। एकेन्द्रियों में चार लेश्याएं हो सकती हैं। पृथ्वीकाय, जलकाय और वनस्पतिकाय में चार लेश्याएं होती है, तेजस्काय, वायुकाय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय में तीन लेश्याएं हैं। तिर्यंच, पंचेन्द्रिय और मनुष्यों में छहों लेश्याएं हैं। भुवनपति और व्यन्तर के चार लेश्याएं हैं, ज्योतिष्क देवों में तेजोलेश्या है। पहले और दूसरे देवलोक में तेजो लेश्या, तीसरे से पांचवे में पद्म लेश्या तथा आगे के स्वर्गों में शुक्ल लेश्या होती है।

गौतम स्वामी भगवान् से प्रश्न करते हैं– भगवन्! कृष्ण लेश्या से शुक्ल लेश्या तक के जीवों में से कौन कम ऋद्धि वाला है और कौन किससे अधिक ऋद्धि वाला है? इसके उत्तर में भगवान् ने फर्माया– कृष्ण लेश्या वाले से नील लेश्या वाला महा–ऋद्धिमान् है। इस प्रकार सबसे अधिक ऋद्धिमान शुक्ल लेश्या वाले है और सबसे कम ऋद्धिमान् कृष्ण लेश्या वाले हैं।

संसार संस्थान काल

मूलपाठ—

प्रश्न— जीवस्स णं भंते! तीतद्धाए आदिट्ठस्स कईविहे संसार संचिट्ठण काले पण्णत्ते?

उत्तर— गोयमा! चउविहे संसार संचिट्ठणकाले पण्णत्ते, तंजहाणेरइय संसार संचिट्ठण काले, तिरिक्ख—मणुस्स देवसंसार संचिट्ठणकाले य पण्णत्ते।

प्रश्न— नेरइय संसार संचिट्ठण काले णं भंते! कइविहे पण्णत्ते?

उत्तर— गोयमा तिविहे पण्णत्ते, तंजहा—सुन्नकाले, असुन्नकाले, मिस्सकाले।

प्रश्न— तिरिक्ख जोणिअ संसार पुच्छा?

उत्तर— गोयमा! दुविहे पण्णत्ते, तंजहा—असुन्नकाले य मिस्सकाले य। मणुस्साय य देवाण जया नेरइयाणं।

प्रश्न— एअस्स णं भंते! नेरइ अस्स संसार संचिट्ठण कालस्स सुन्नकालस्स, असुन्नकालस्स, मसिकालस्स य कयरे,, कयरेहितो अप्पे वा, बहुए वा, तुल्ले वा, विसेसाहिए वा?

उत्तर— गोयमा! सव्वत्थो वे असुन्नकाले मिस्सकाले अणंतगुणे, सुन्नकाले अणंतगुणे! तिरिक्ख जोणियाण सव्वत्थोवे असुन्नकाल, मीसकाले अणंतगुणे, मणुस्स देवाणं य जहा नेरयाणं!

प्रश्न— एअस्स णं भंते! नेरइ असंसार संचिट्ठणकालस्स जाव—देवसंसार संचिट्ठणकालस्स जाव विसेसाहिए वा?

उत्तर— गोयमा! सव्वत्थोवे मणुस्ससंसार संचिट्ठणकाले, नेरइअ संसारसंचिट्ठणकाले असंखेज्जगुणे, देवसंसारसंचिट्ठणकाले असंखेज्जगुणे, तिरिक्खजोणिय संसारसंचिट्ठणकाले अणंतुगुणे।

संस्कृत–छाया प्रश्न– जीवस्य भगवन्! अतीतकाले आदिष्टस्य कतिविधिः संसार संस्थान कालः प्रज्ञप्तः?

उत्तर– गौतम! चतुर्विधः संसार संस्थान कालः प्रज्ञप्तः, तद्यथा– नैरयिकसंसार संस्थानकालः तिर्यग्–मनुष्य–देव–संसार संस्थान कालश्च प्रज्ञप्तः।

प्रश्न– नैरयिकसंसारसंस्थानकालो भगवन्! कतिविधः प्रज्ञप्तः?

उत्तर– गौतम! त्रिविधः प्रज्ञप्तः, तद्यथा–शून्यकालः, अशून्यकालः, मिश्रकालः।

प्रश्न– तिर्यग्योनिकसंसार 0 पृच्छा?

उत्तर– गौतम! द्विविधः प्रज्ञप्तः, तद्यथा–अशून्यकालश्च, मिश्रकालश्च। मनुष्याणां च, देवानाञ्च यथा नैरयिकाणाम्!

प्रश्न– एतस्य भगवन्! नैरयिकस्य संसारसंस्थानकालस्य शून्यकालस्य, अशून्यकालस्य, मिश्रकालस्य च कतरः कतरेभ्योऽल्पो वा, बहुको वा, तुल्यो वा विशेषधिको वा?

उत्तर– गौतम! सर्वस्तोकोऽशून्यकालः, मिश्रकालो अनन्तगुणः, शून्यकालोऽनन्तगुणः।

तिर्यग्योनिकानां सर्वस्तोकोऽशून्यकालः, मिश्रकालोऽनन्तगुणः, मनुष्य देवानाञ्च यथा नैरयिकाणाम्।

प्रश्न– एतस्य भगवन्! नैरयिकसंसारसंस्थानकालस्य यावत् देवसंसारसंस्थानकालस्य यावत विशेषाधिको वा?

उत्तर– गौतम! सर्वस्तोको मनुष्यसंसारसंस्थानकालः, नैरयिकसंसार संस्थानकालोऽसंख्येयगुणः, देवसंसारसंस्थानकालोऽसंख्येयगुणः,

प्रश्न– भगवन्! तिर्यंच संसारसंस्थानकाल कितने प्रकार का कहा है?

उत्तर– गौतम! दो प्रकार का कहा है, वह इस प्रकार–अशून्यकाल और मिश्रकाल। मनुष्यों और देवों के संसारसंस्थान काल के प्रकार नारकियों के समान ही समझने चाहिएं।

प्रश्न– भगवन्! नारकियों के संसारसंस्थान काल के तीन शून्य–अशून्य और मिश्र कालों में कौन किससे कम, बहुत, तुल्य या विशेषाधिक है।

उत्तर– गौतम! सब से कम अशून्य काल है, उससे मिश्रकाल अनंतगुना है और उसकी अपेक्षा भी शून्यकाल अनंतगुणा है।

तिर्यंच संसार संस्थान काल के दो भेदों में से सबसे कम अशून्य काल है और उसकी अपेक्षा मिश्रकाल अनंतगुणा है।

मनुष्य और देवों के संसार संस्थान काल की न्यूनाधिकता नारकियों के संसार संस्थान काल की न्यूनाधिकता के समान ही समझना चाहिए।

प्रश्न– भगवन्! नारकियों के, तिर्यंचों के, मनुष्यों के और देवों के संसारसंस्थान कालों में कौन किससे कम, ज्यादा, तुल्य या विशेषाधिक है?

उत्तर– गौतम! मनुष्य संसारसंस्थान काल सबसे थोड़ा है, उससे नैरयिक संसार संस्थान काल असंख्यात गुणा है, उससे देव संसार संस्थान काल असंख्यात गुणा है और उससे तिर्यंच संसारसंस्थानकाल अनंतगुणा है।

व्याख्यान– कई मजहब वालों का कहना है कि जो जिस योनि में होता है वहां से मर करके भी उसी योनि में जन्मता है। एक योनि वाले को दूसरी योनि कभी नहीं मिलती। आज जो पशु है वह पशु ही रहेगा, मृत्यु के बाद भी मनुष्य या देव नहीं होगा। इस कथन की पुष्टि के लिए वे यह प्रमाण देते हैं कि जैसे गेहूं से गेहूं ही उत्पन्न होता है, ज्वार या चना नहीं होता, इसी प्रकार मनुष्य मर कर मनुष्य ही होता है, पशु आदि और कुछ भी नहीं होता। अच्छी भूमि के मिलने से गेहूं अच्छा हो जाता है और बुरी भूमि के मिलने से बुरा हो जाता है, इसी प्रकार अच्छा या बुरा भले ही हो जाय, मगर रहेगा वह मनुष्य ही।

किसी–किसी की मान्यता यह है कि आत्मा एक ही है। संसार में जो अनेक आत्मा दिखाई देते हैं वह सब उसी के प्रतिबिम्ब हैं। स्वतंत्र अलग–अलग आत्मा नहीं है।

इनमें से पहला मत नियतिवादी का है और दूसरा अद्वैतवादी का। अद्वैतवादी सब एक ही आत्मा का खेल समझते हैं। जैसे चन्द्रमा एक ही है,

परन्तु उसके प्रतिबिम्ब अनेक पड़ते हैं, जितने घर हों उतने ही प्रतिबिम्ब पड़ते है, उसी प्रकार आत्मा एक है। उसकी परछाइयां अनेक दिखाई देती हैं।

इन विभिन्न मतों को दृष्टि में रखकर गौतम स्वामी भगवान् से प्रश्न कर रहे है कि– भगवन्! इस विषय में आपका क्या मत है?

भगवान् कहते है– गौतम! ऐसा नहीं है। जीव अनादिकाल से विभिन्न योनियों में भ्रमण कर रहा है और प्रत्येक शरीर में आत्मा अलग–अलग है– सब मे एक आत्मा नही है।

तत्पश्चात् गौतम स्वामी प्रश्न करते हैं कि भगवन्, जीव अनादिकाल से एक योनि से दूसरी योनि में भ्रमण कर रहा है तो अतीतकाल मे जीव ने कितने प्रकार का संसार बिताया है।

यहां गौतम स्वामी ने अतीतकाल विषयक प्रश्न किया है, क्योंकि जैसे जीव अनादि है, इसी प्रकार काल भी अनादि है और जैसे काल अनादि है वैसे ही जीव भी अनादि है।

एक ही पुरुष उपाधिभेद से कभी बालक कहलाता है, कभी युवक कहलाता है, और कभी वृद्ध कहलाता है। इसी प्रकार उपाधिभेद से ही जीव कभी मनुष्य कहलाता है, कभी तिर्यंच कहलाता है, कभी देव और कभी नारक कहलाता है। इन विभिन्न योनियो मे परिभ्रमण करना ही संसार है। गौतम स्वामी पूछते है कि जीव ने कितने प्रकार का संसार संस्थान किया है? अर्थात् कितनी योनियो मे यह स्थित रहा है?

जाएंगे। लाख शुभ कर्म करने पर भी पशु, पशु ही रहेगा और करोड़ों पाप–कर्म करने पर भी मनुष्य, मनुष्य ही रहेगा, तो उनके पुण्य और पाप का क्या फल हुआ?

ऐसा मानने पर मुक्ति का द्वार भी बंद हो जाएगा, क्योंकि जीव की योनि अगर बदल नहीं सकती तो जीव को मुक्ति कभी प्राप्त नहीं हो सकेगी। फिर मुक्ति के लिए किये जाने वाले जप, तप, ध्यान आदि अनुष्ठान निष्फल ही सिद्ध होंगे। अतएव योनि का परिवर्तन न मानना अयुक्त है।

इस विश्व में एक ही आत्मा है और पृथक–पृथक् प्रतीत होने वाले आत्मा इस एक ही आत्मा के प्रतिबिम्ब हैं, यह मान्यता भी भ्रमपूर्ण है। चन्द्रमा का उदाहरण आत्मा के विषय में घटित नहीं होता। चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब सब समान दिखाई देते हैं। चन्द्रमा अष्टमी का होता है तो उसके सब प्रतिबिम्ब भी अष्टमी के ही होते हैं। पूर्णिमा के चन्द्र के सभी प्रतिबिम्ब भी पूर्णिमा के ही होते हैं। उनमें विभिन्नता प्रतीत नहीं होती। लेकिन सब आत्माओं में ऐसी समानता दिखाई नहीं देती। अगर सब आत्मा एक ही आत्मा के प्रतिबिम्ब होते तो प्रत्येक आत्मा में जो न्यूनाधिक समानता पाई जाती है, वह कैसे होती है?

इसके अतिरिक्त बिम्ब को मोक्ष नहीं हो सकता, अतएव किसी आत्मा को मोक्ष लाभ भी न होगा। एक ही आत्मा मानने से इस प्रकार अनेक दोष आते हैं। अगर सब आत्मा एक ही आत्मा के प्रतिबिम्ब हैं तो एक जीव के सुख से दूसरे को भी सुख होगा और एक के दुःख से सभी दुःखी होंगे। एक को चोट लगने से सभी को समान पीड़ा होगी और इसी प्रकार रोग आदि की वेदना भी सबको समान माननी पड़ेगी? अतएव सब जीव भिन्न–भिन्न सत्ता वाले हैं और अपने–अपने कर्मों का फल भोगते हैं।

भगवान् फर्माते हैं– सब मनुष्य अतीत काल में चार प्रकार के संसार में रहे हैं। कभी नारकी, कभी पशु, कभी देव और कभी मनुष्य योनि में समय बिताया है। चार प्रकार के संसार में प्रत्येक आत्मा ने भ्रमण किया है।

गौतम स्वामी पूछते हैं– भगवन्! नरक में जीव रहा तो वहां कितने प्रकार का काल भोगा? यहां लोकोत्तर काल से अभिप्राय समझना चाहिए। भगवान् ने उत्तर दिया– गौतम! नरक में जीव ने तीन प्रकार का काल बिताया है– शून्य काल, अशून्यकाल और मिश्रकाल। आगम में कहा है।

सुन्नासुन्नो मीसो तिविहो संसार चिट्ठणा कालो।
तिरियाणं सुन्नवज्जो सेसाणं होइ तिविहो वि।।

अर्थात्–संसार संस्थान काल तीन प्रकार का हैं– शून्यकाल, अशून्यकाल और मिश्रकाल। तिर्यंचों में शून्यकाल नहीं होता, और सब गतियों में तीनों प्रकार का संस्थानकाल होता है।

अब प्रश्न यह है कि शून्य काल किसे कहते हैं? इस विषय में टीकाकार का कथन है यद्यपि पहले शून्यकाल का नाम आया है, तथापि पहले अशून्यकाल का स्वरूप बतलाया जाता है। अशून्यकाल समझ लेने पर शेष दो सरलता से समझे जा सकेंगे।

वर्तमान काल में सातों नरकों में जितने जीव विद्यमान हैं, उनमें से जितने समय तक न कोई जीव मरे और न नया उत्पन्न हो, अर्थात् उतने के उतने ही जीव जितने समय तक रहें, उस समय को नरक की अपेक्षा अशून्य काल कहते है। उदाहरणार्थ– इस समय व्याख्यान सभा मे जितने श्रोता मौजूद है उनमें से जब तक न एक भी जावे और न एक भी नया आवे, उस समय को अशून्य काल समझना चाहिए। तात्पर्य यह है नरक मे एक ऐसा भी समय आता है जब न कोई नया जीव नरक मे जाता है और न पहले के नारकियो मे से कोई बाहर निकल कर आता है। वही काल नरक का अशून्य काल कहलाता है। कहा है–

आइट्ठसमइयाणं, नेरइयाणं न जाव एक्को वि।
उव्वट्टइ अन्नो वा उववज्जइ सो असुन्नो ओ।।

अर्थात्– आदिष्ट समय वाले नारकी जीवो मे से जब तक न एक भी

व्याख्यान में एक हजार आदमी बैठे थे, धीरे-धीरे वे सब चले गये। उनमें से एक भी बाकी न रहा और उनके बदले नये आदमी आ बैठे, यह शून्यकाल कहलाया।

भगवान् फर्माते हैं- हे गौतम! यह जीव नरक में रहा है। इसने कभी ऐसी अवस्था भोगी है जब नरक के अपने साथियों से बिछुड़ कर अकेला ही रहा, कभी इसने ऐसी अवस्था भोगी, जब इसके साथी अनेक जीव वहां मौजूद थे और कभी ऐसा भी समय आया जब इसके साथ पहले वालों में कोई भी शेष नहीं रहा था।

गौतम स्वामी पूछते हैं- भगवन्! तिर्यंच योनि में यह जीव कैसे रहा? भगवान् फर्माते हैं- गौतम! तिर्यंच योनि में जीव दो प्रकार से रहा- अशून्यकाल में और मिश्रकाल में।

मिश्रकाल के नारकी जीवों का जो विचार किया है, वह वर्तमान काल के जीवों की अपेक्षा से ही नहीं किया है, किन्तु जिस काल में नरक के जीव नरक में थे, वे निकल कर दूसरी योनि में गये- फिर चाहे वे किसी भी योनि में गये हों, परन्तु उनकी अपेक्षा से भी विचार किया है। उदाहरण के लिए व्याख्यानसभा में एक हजार मनुष्य बैठे थे। उनमें से और सब चले गये, सिर्फ एक ही मनुष्य शेष रहा। वे गये हुए मनुष्य, कहीं भी जाकर व्याख्यान में आ जावें, वह समय मिश्रकाल कहलाता है।

अगर ऐसा न माना जायेगा तो दोष आयेगा। आगे अशून्यकाल की अपेक्षा मिश्रकाल अनन्तगुणा कहा है, सो घट नहीं सकेगा। अशून्यकाल अर्थात् विरहकाल बारह मुहूर्त का है। अगर यहां नरक के जीवों की ही अपेक्षा ली जाय तो वह असंख्यातगुणा ही ठहरेगा, अनन्तगुणता नहीं। इसलिए जो जीव नरक से निकल कर वनस्पति में गया, वह भी नरक की अपेक्षा वाले मिश्रकाल में गिना जायेगा, तभी मिश्रकाल की अनन्तगुणा सिद्ध होगी। कहा भी है-

एयं प्रण ते जीवे, पडुच्च सुत्तं न तब्भवं चेव।
जइ होज्ज तब्भवं तो, अनन्तकालो न संभवइ।।

अर्थात्- यह सत्र जीवों के उसी भव के आश्रित नहीं हैं; अगर उसी भव के आश्रित माना जाय तो मिश्रकाल अनन्तगुणा संभव न होगा।

मिश्रकाल की अनन्तगुणा में क्यों बाधा आएगी, इसे स्पष्ट कर देना आवश्यक है। नरक के वर्तमानकालीन नारकी अपनी आयु पूर्ण करके नरक

से निकलते ही हैं और नरक की आयु असंख्यातकाल की ही है, अनन्तकाल की नहीं है। ऐसी अवस्था में बारह मुहूर्त वाले अशून्यकाल की अपेक्षा मिश्रकाल असंख्यातगुणा सिद्ध होगा, अनन्तगुणा नहीं। अतएव नरक के जीव जब तक नरक में रहें तभी तक मिश्रकाल नहीं समझना चाहिए, वरन् नरक के जीव नरक से निकल कर दूसरी योनि में जन्म लेकर फिर नरक में आवें, तब तक का काल मिश्रकाल है।

तिर्यंच योनि में दो ही संस्थानकाल हैं– अशून्यकाल और मिश्रकाल। शून्यकाल तिर्यंच योनि में नहीं है। शून्यकाल तब होता है जब उस योनि में पहले वाला एक भी जीव न रहे, मगर तिर्यंच योनि में अनन्त जीव हैं। वे सब के सब उसमें से निकल कर नहीं जाते। इसलिए तिर्यंच योनि में शून्यकाल नहीं है।

मनुष्य योनि और देवयोनि में तीनो काल हैं। अतएव इन दोनो का वर्णन पूर्वोक्त नारकियों के वर्णन के समान ही समझना चाहिए।

इसके अनन्तर गौतम स्वामी प्रश्न करते हैं कि नरक की अपेक्षा से तीनो कालो मे कौन सा काल सबसे कम अधिक है? भगवान् ने फर्माया– नरक की अपेक्षा से सबसे कम अशून्यकाल है। अशून्यकाल उत्कृष्ट से उत्कृष्ट बारह मुहूर्त का है। मिश्रकाल, अशून्यकाल से अनन्तगुणा है। और नरक से निकलकर दूसरी गति मे जाकर–त्रस और वनस्पति आदि में गमनागमन करके फिर नरक मे आवे, तब तक मिश्रकाल ही है।

मिश्रकाल अनन्तगुणा है, इसका कारण यह है कि नारकी का तिर्यंच काल और वनस्पति का कायस्थिति काल अनन्तका[illegible] है। इसलिए मिश्रकाल अनन्तगुणा है।

मनुष्यों और देवों के संस्थानकाल की हीनाधिकता नारकियों के ही समान समझनी चाहिए।

संसार की अपेक्षा जीव का तीन कालों का संसार संस्थान–काल समाप्त होता है। इसके अनन्तर मोक्ष का प्रश्न उपस्थित होता है। उस पर आगे विचार किया जाता है।

मनुष्यों और देवों के संस्थानकाल की हीनाधिकता नारकियों के ही समान समझनी चाहिए।

संसार की अपेक्षा जीव का तीन कालों का संसार संस्थान–काल समाप्त होता है। इसके अनन्तर मोक्ष का प्रश्न उपस्थित होता है। उस पर आगे विचार किया जाता है।

अंत क्रिया

मूलपाठ–

प्रश्न– जीवे णं भंते! अंतकिरियं करेज्जा?

उत्तर– गोयमा! अत्थेगइए करेज्जा, अत्थेगइए नो करेज्जा, अंतकिरियापयं नेयव्वं!

संस्कृत– छाया–प्रश्न–जीवो भगवन्! अन्तक्रियां कुर्यात्?

उत्तर– गौतम! अस्त्येककः कुर्यात् अस्त्येकको नो कुर्यात्, अन्तक्रियापदं ज्ञातव्यम्!

मूलार्थ– प्रश्न–भगवन्! जीव अन्तक्रिया (मोक्षप्राप्ति) करता है?

उत्तर– गौतम! कोई जीव करता है, कोई जीव नहीं करता है; यहां प्रज्ञापना सूत्र का बीसवां अन्तक्रिया पद समझना चाहिए।

व्याख्यान– कई लोगों का कथन है कि जीव स्वभाव से संसार में परिभ्रमण करता रहता है और जीव का स्वभाव सदा कायम रहता है, इसलिए उसका भव–भ्रमण भी सदा कायम रहता है। इस कथन का आशय यह निकला कि जीव कभी मुक्ति नहीं प्राप्त करता। कदाचित् किसी जीव को मोक्ष प्राप्त हो जाय तो वहां पर भी वह कुछ समय रहकर दूसरी योनि में जन्म ले लेता है। उनकी मान्यता के अनुसार मोक्ष संसार की ही एक अवस्था है। वे मोक्ष को ऐसा नहीं मानते जहां पहुंच कर जीव का परिभ्रमण समाप्त हो जाता है; फिर कभी वहां से वापिस नहीं लौटना पड़ता।

इस मान्यता पर दृष्टि रखते हुए गौतम स्वामी पूछते हैं– भगवन्! जीव संसार में ही रहता है या संसार विच्छेद कर मोक्ष भी जाता है? अर्थात् जीव अन्तक्रिया करता है?

जिस क्रिया के पश्चात् फिर कभी दूसरी क्रिया न करनी पड़े, वह अंतक्रिया कहलाती है अथवा कर्मों का सर्वथा अंत करने वाली क्रिया भी

अंतक्रिया कहलाती है। दोनों का आशय एक ही है– सकल कर्म समूह का क्षय करके मोक्षप्राप्ति की क्रिया अंतक्रिया है।

इस प्रश्न के उत्तर के लिए आचार्य पन्नवणसूत्र के 'अन्तक्रिया' नामक बीसवें पद का हवाला देकर कहते हैं– अन्तक्रिया पद में विस्तारपूर्वक वर्णन है, वह यहां समझ लेना चाहिए। प्रज्ञापनासूत्र में किया हुआ वर्णन संक्षेप में इस प्रकार है–

प्रश्न– भगवन्! जीव अंतक्रिया करता है?

उत्तर– गौतम! कोई जीव करता है, कोई जीव नहीं करता।

प्रश्न– भगवन् इसका क्या कारण है?

उत्तर– गौतम! भव्य जीव अन्तक्रिया करते हैं, अभव्यजीव अन्तक्रिया नहीं करते हैं।

यह समुच्चय जीव के सम्बन्ध में प्रश्नोत्तर है। इसी प्रकार नैरयिक से लेकर वैमानिक देवों तक के विषय में प्रश्न करना चाहिए। इन सब प्रश्नों का उत्तर यही होगा कि कोई जीव अन्तक्रिया करते हैं, कोई नहीं करते। अर्थात् भव्य जीव करते हैं, अभव्यजीव नहीं करते।

इसके पश्चात् गौतम स्वामी पूछते हैं– अगर भव्य नारक आदि अन्तक्रिया करते हैं तो क्या उसी भव से करते हैं?

उत्तर– हे गौतम, नहीं। नरक के जीव मनुष्य भव पाकर अन्तक्रिया करते हैं; मनुष्य भव के बिना अन्तक्रिया नहीं हो सकती।

यहां यह प्रश्न होता है कि पहले नारकियों को अन्तक्रिया करता कहा है और यहां उसका निषेध क्यों कह दिया है? इसका उत्तर यह है कि कोई नारकी अन्तक्रिया करते हैं, यह कथन भविष्य की अपेक्षा से है। इस कथन द्वारा यह प्रकट किया गया है कि नारकियों में भी अंतक्रिया करने की शक्ति विद्यमान है, मगर उस शक्ति की अभिव्यक्ति नारक भव में होती नहीं है। नारक जीव मनुष्य पर्याय पाकर ही अंतक्रिया करते हैं।

जीव में जब तक कर्म–बंध का सद्भाव रहता है, तब तक वह अंतक्रिया नहीं करता। कर्म शेष रहने से कोई–कोई जीव देवपर्याय में भी उत्पन्न होता है, अतएव अब देवता सम्बन्धी प्रश्न उपस्थित होता है।

इस विषय में गौतम स्वामी ने चौदह प्रश्न किये हैं और भगवान् ने अनेक उत्तर दिये हैं। इसका वर्णन आगे दिया जाता है।

देवोपपात

मूलपाठ

प्रश्न– अह भंते! असंजय भवियदव्यदेवाणं, अविराहिय संजमाणं, विराहियसंजमाणं अविराहियसंजमासंजमाणं, विराहियसंजमासंजमाणं, असण्णीणं, तावसाणं, कंदप्पिआणं, चरगपरिव्वायगाणं किब्बिसिआणं, तेरिच्छिआणं, आजीविआणं आभिओगिआणं, सलिंगी, दंसणवावण्णगाणं, एएसिंणं देवलोगेसु उववज्जमाणाणं कस्स कहिं उववाए पण्णत्ते?

उत्तर– गोयमा! असंजयमवियदव्वदेवाणं जहण्णेणं भवणवासिसु, उक्कोसेसणं उवरिम गेविज्जएसु; अविराहिअसंजमाणं जहण्णेणं सोहम्मे कप्पे, उक्कोसेणं सव्वट्ठसिद्धे विमाणे; विराहियसंजमाणं जहण्णेणं भवणवासिसु उक्कोसेणं सोहम्मे कप्पे; अविराहियसंजमासंजमाणं जहण्णेणं सोहम्मे कप्पे, उक्कोसेणं अच्चुए कप्पे; विराहियसंजमासंजमाणं जहण्णेणं भवणवासिसु उक्कोसेणं जोइसिएसु; असण्णीणं जहण्णेणं भवणवासिसु, उवकोसेणं वाणमंतरेसु; अवसेसा सव्वे जहण्णेणं भवणवासिसु, उक्कोसेणं वोच्छामि–तावसाणं ज्योतिसिएसु, कंदप्पिआणं सोहम्मे कप्पे, चरगपरिव्वायगाणं बंभलोए कप्पे, किब्बिसियाणं लंतगे कप्पे, तेरिच्छिआणं सहस्सारे कप्पे, आजीविआणं अच्चुए कप्पे, अभिओगिआ अच्चुए कप्पे, सलिंगीण दंसणसमावण्णगाणं उवरिमगेविज्जएसु।

संस्कृत–छाया–प्रश्न–अथ भगवन्! असंयतभव्यद्रव्यदेवानां अविराधितसंयमानां, विराधितसंयमानां, अविराधित संयमासंयमानां, विराधितसंयमासंयमानां, असंज्ञिनां, तापसानां, कान्दर्पिकाणाम्, चरकपरिव्राजकानाम् किल्विषिकाणाम्, तिरश्चाम्, आजीविकानाम्, अभियोगिकानाम्, सलिंगिनाम्, दर्शनव्यापन्नकाम्; एतेषां देवलोकेषु उपपद्यमाना कस्य कुत्र उपपातः प्रज्ञप्तः?

उत्तर– गौतम! असंयतभव्यद्रव्यदेवानां जघन्येन भवनवासिसु उत्कृष्टेन उपरिग्रैवेयकेषु, अविराधितसंयमानों जघन्येन सौधर्मे कल्पे, उत्कृष्टेन सर्वाथसिद्धे विमाने; विराधितसंयमानां जघन्येन भवनवासिषु, उत्कृष्टेन सौधर्मे कल्पे, अविराधितसंयमासंयमानां जघन्येन सौधर्मे कल्पे, उकृष्टेन अच्युते कल्पे, विराधितसंयमासंयमानां जघन्येन भवनवासिषु, उत्कृष्टेन ज्योतिष्केषु; असंज्ञिनां जघन्येन भवनवासिषु उत्कृष्टेन वानव्यन्तरेषु; अवशेषाः सव्रे जघन्येन भवनवासिषु, उत्कृष्टेन वानव्यन्तरेषु; अवशेषाः सर्वे जघन्येन भवनवासिषु, उत्कृष्टेन वक्ष्यामि–तापसानां ज्योतिष्केषु कान्दर्पिकाणां सौधर्मे कल्पे, चरकपरिव्राजकानां ब्राह्मलोके कल्पे, किल्विषिकाणां लान्तके कल्पे, तिरश्चां सहस्रारे कल्पे, आजीविकानां अच्युते कल्पे, सलिंगिनाम्, दर्शनव्यापन्नकानाम् उपरिमग्रैवेयकेषु।

मूलार्थ–प्रश्न–भगवन्! असंयत भव्यद्रव्य (संयमरहित और आगे देव होने वाले) देव, अखंडित संयम वाला, खंडित संयम वाला, अखंडित संयमासंयम–देश–विरति–वाला, खंडित संयमासंयम वाला, असंज्ञी, तापस, कांदर्पिक, चरकपरिव्राजक, किल्विषिक, तिर्यंच, आजीविक, आभियोगिक और श्रद्धाभ्रष्ट वेषधारी; ये सब अगर देव लोक में उत्पन्न हों तो किसका, कहां उत्पाद होता है?

उत्तर– हे गौतम! असंयतभव्यद्रव्य देवों का जघन्य भवनवासियों में, और उत्कृष्ट ऊपर के ग्रैवेयकों में उत्पाद कहा गया है। अखंडित संयम वालों का जघन्य सौधर्म कल्प में और उत्कृष्ट सर्वार्थसिद्ध विमान में, खंडित संयम वालों का जघन्य भवनवासियों में, उत्कृष्ट सौधर्म कल्प में, अखंडित संयमासंयम वालों का जघन्य सौधर्म कल्प में, उत्कृष्ट अच्युत कल्प में, खंडित संयमासंयम वालों का जघन्य भवनवासियों में, उत्कृष्ट ज्योतिष्क देवों में, असंज्ञी जीवों का जघन्य भवनवासियों में, उत्कृष्ट वाण–व्यन्तर में, और शेष सबका उत्पाद जघन्य भवनवासियों में होता है और उत्कृष्ट उत्पात अब कहूंगा– तापसों का ज्योतिष्कों में, कांदर्पिकों का सौधर्म कल्प में, चरक–परिव्राजकों का ब्रह्मलोक कल्प में, किल्विषिकों का लान्तक कल्प में, तिर्यंचों का सहस्रार कल्प में, आजीविकों तथा आभियोगिकों का अच्युत कल्प में और श्रद्धाभ्रष्ट वेषधारियों का ऊपर के ग्रैवयकों में उत्पाद होता है।

व्याख्यान– इस सूत्र के टीकाकार श्री अभयदेवसूरि ने, यहां अपनी टीका में लिखा है कि हम प्रज्ञापना सूत्र की टीका लिखते हैं, जिसमें असंयत भव्यद्रव्यदेव का अर्थ प्रकट किया गया है। अभयदेवसूरि के इस लेख से ऐसा प्रतीत होता हैं कि इनसे पहले प्रज्ञापना सूत्र की कोई संस्कृत टीका विद्यमान

थी, जो इस समय उपलब्ध नहीं है। आजकल प्रज्ञापना सूत्र की जो टीका उपलब्ध है, वह मलयगिरि सूरि की है और मलयगिरिजी, अभयदेव सूरि के पश्चात् हुए हैं। इसलिए यह स्पष्ट है कि अभयदेव सूरि जिस टीका का उल्लेख यहां कर रहे हैं, वह उनसे पूर्ववर्त्ती किसी अन्य आचार्य की होनी चाहिए।

प्रज्ञापना सूत्र की टीका में लिखा है– जो चारित्र रूप परिणाम से शून्य हो वह असंयत कहलाता है। जो देव होने के योग्य है वह भव्य अतः द्रव्यदेव कहलाता है। तात्पर्य यह है कि जो चारित्र–पर्याय से रहित है और इस समय तक देव नहीं हुआ है– आगे देव होने वाला है, वह असंयत भव्य द्रव्य देव कहलाता है। किसी–किसी के मत से असंयत भव्य द्रव्य देव असंयत सम्यग्दृष्टि को कहते हैं। अपने मत के समर्थन में वे यह प्रमाण देते हैं–

अणुव्यय–महव्वएहि य बालतवाऽकामणिज्जराए य।
देवाउयं निबंधई, सम्मदिट्ठी य जो जीवो।

अर्थात्– अणुव्रती हो, महाव्रती हो, बाल तपस्वी हो, अकामनिर्जरा करने वाला हो, लेकिन अगर वह सम्यग्दृष्टि है तो देवायु का बंध करता है।

टीकाकार का कथन है कि यह मत ठीक नहीं है। इसी सूत्र में असंयतभव्य द्रव्यदेव उत्पाद ऊपर के ग्रैवेयक तक बतलाया गया है; मगर असंयत सम्यग्दृष्टि की तो बात ही क्या है, देश विरत श्रावक भी ग्रैवेयक तक नहीं जा सकता– वह भी अच्युत विमान तक ही जाता है। ऐसी अवस्था में सम्यग्दृष्टि ऊपर के ग्रैवेयक तक कैसे जा सकता है?

यह प्रश्न उपस्थित होता है कि असंयतभव्यद्रव्यदेव का अर्थ अगर असंयत सम्यग्दृष्टि न माना जाय तो क्या माना जाय? क्या निह्नवों को असंयतभव्यद्रव्यदेव मानना चाहिएं? निह्नव अर्थ लेना भी ठीक नहीं है, क्योंकि निह्नवों का पाठ आगे अलग आने वाला है। अतएव असंयत भव्यद्रव्यदेव यहां मिथ्यादृष्टि लेने चाहिएं। असंयतभव्यद्रव्य देव वही होंगे जो साधु के सम्पूर्ण गुण रखने वाले हों, साधु की सम्पूर्ण समाचारी का पालन करते हों, लेकिन जिनमें आन्तरिक साधुता न हो, केवल द्रव्यलिंग धारण करने वाले हों।

जब श्रावक भी बारहवें देवलोक से आगे नहीं जाता है तो समझना चाहिए कि ऊपरी ग्रैवेयक तक जाने के लिए और भी विशेष क्रिया की आवश्यकता है। वह विशेष क्रिया श्रावक की तो है नहीं, अतएव साधु के सम्पूर्ण बाह्य गुण ही हो सकते हैं।

शंका—एक तरह असंयत भी कहा जाता है और दूसरी तरफ साधु की सम्पूर्ण समाचारी पालने वाला भी कहा जाता है, यह परस्पर विरोधी कथन समुचित कैसे माना जा सकता है?

समाधान— इस कथन में विरोध की संभावना नहीं है, क्योंकि ऐसा कोई मनुष्य हो सकता है जो साधु सम्बन्धी चारित्र का अनुष्ठान तो करता है, मगर साधुता के आन्तरिक परिणामों से रहित है।

शंका— जब वह साधु का आचार पालन करता है तो साधुता के आन्तरिक परिणामों से शून्य कैसे माना जाय? इन दोनों की संगति किस प्रकार हो सकती है?

समाधान—असंयतभव्यद्रव्यदेव को महामिथ्यादर्शन मोह प्रकट होता है, वह उसके हृदय में बना ही रहता है। इस कारण वह चक्रवर्ती आदि द्वारा मुनि का वन्दन, पूजन, सन्मान, दान, सत्कार आदि देखकर सोचता है कि मैं भी अगर दीक्षा ले लूं तो मेरा भी इसी तरह वन्दन—पूजन आदि होगा। इस प्रकार प्रतिष्ठा—मोह से उसमें व्रत पालन की भावना उत्पन्न होती है। वह लोक सम्मान की भावना से ही व्रतों का पालन करता है, आत्मशुद्धि के उद्देश्य से नहीं। इस कारण वह व्रतों का पालन करता हुआ भी चारित्र के परिणाम से शून्य ही है। इसमें पारस्परिक विरोध नहीं है।

साधुपन सम्बन्धी श्रद्धा में भी भेद देखा जाता है। एक श्रद्धा मोक्ष को वड़ा मानने की होती है और एक लोक प्रतिष्ठा पूजा को ही वड़ा मानने की होती है। मोक्ष की श्रद्धा वाला मोक्ष प्राप्ति के हेतु क्रिया का पालन करता है और लोकपूजा की श्रद्धा वाला इसलिए क्रिया पालता है कि मैं जैसी अच्छी क्रिया करूंगा, वैसी ही अधिक मेरी पूजा होगी। इस प्रकार साधुता के पालन के उद्देशक में महान् अन्तर होता है। प्रतिष्ठा की श्रद्धा भव्य और अभव्य दोनों में ही हो सकती है, लेकिन मोक्ष की श्रद्धा भव्य जीव में ही संभव है। पूजा— प्रतिष्ठा की श्रद्धा वाला, पूजा—प्रतिष्ठा के लिए साधु की समस्त क्रियाएं करता है इन क्रियाओं से वह 31 सागरोपम की स्थिति वाला देवलोक पा लेता है, परन्तु उसका संसार नहीं कटता है।

गौतम स्वामी का पहला प्रश्न है— हे भगवन्! असंयतभव्यद्रव्यदेव अगर देवरूप में उत्पन्न हो तो किस देवलोक तक उत्पन्न होता है? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने फर्माया— हे गौतम! जघन्य भवनवासियों में उत्पन्न होता है और उत्कृष्ट नवें ग्रैवेयक तक उत्पन्न होता है।

गौतम स्वामी ने दूसरा प्रश्न यह किया है— भगवन्! अविराधित संयम वाला अर्थात् दीक्षाकाल से लेकर अन्त तक जिसका चारित्र कभी भंग नहीं

हुआ है, ऐसा जीव अगर देवलोक में उत्पन्न हो तो किस देवलोक में उत्पन्न होता है? भगवान् ने उत्तर दिया– गौतम! जघन्य सौधर्मकल्प में और उत्कृष्ट सर्वार्थसिद्धि विमान में उत्पन्न होता है।

शंका– संयम से आश्रव रुकता है और आश्रव रुकने पर भी अगर देवगति ही प्राप्त होती है तो इसका अर्थ यह हुआ कि संयम भी संसार का ही कारण है। तो क्या संयम, वास्तव में संसार का ही कारण है?

समाधान– स्वर्ग में जाना, संयम का फल नहीं है, वरन् संज्वलन कषाय का फल है। चारित्र ने कषाय का परिमार्जन किया है। चारित्र कषाय को पतला कर रहा था। पतला करते–करते भी जो कषाय शेष रह गया उसके प्रभाव से ही स्वर्ग की प्राप्ति होती है, संयम से नहीं।

शंका–अगर संयम से स्वर्ग की प्राप्ति नहीं होती तो यहां संयमी को अमुक स्वर्ग की प्राप्ति क्यों बतलाई गई है?

समाधान– कषाय के पतलेपन से स्वर्ग मिलता है, मगर कषाय को पतला करने वाला संयमी ही है। आयुकर्म का बंध आर्त्तध्यान के बिना नहीं होता। आर्त्तध्यान दो प्रकार का है– प्रशस्त और अप्रशस्त यद्यपि आर्त्तध्यान, चाहे वह कैसी भी हो, मोक्ष का कारण नहीं होता, फिर भी प्रशस्त आर्त्तध्यान शुभ है। इसी से देवलोक का आयुबंध होता है। तात्पर्य यह है कि जन्म मरण का कारण कषाय है, ज्ञान, दर्शन, चारित्र नहीं। यह तो मोक्ष के ही कारण है।

शंका–यहां आराधक संयमी का कथन है, लेकिन जिसमें प्रमाद और कषाय विद्यमान है, उसे आराधक कैसे कहा जा सकता है? अगर वह आराधक माना जाय तो प्रमादी और सकषाय कैसे?

समाधान–थोड़ा–सा कषाय, चारित्र में दोष उत्पन्न करने में समर्थ नहीं होता। यद्यपि वह थोड़ा कषाय (संज्वलन) यथाख्यात चारित्र का विघातक अवश्य है, तथापि सामायिक, छेदोपस्थापनीय आदि चारित्रों में उससे व्याघात नहीं होता। अतएव सकषाय और सप्रमाद होने पर भी साधु आराधक संयमी हो सकता है।

कषायकुशील नियंठा वाले को मूलगुण और उत्तरगुण का अपरिसेवी बतलाया है और कषायकुशील नियंठा छठे से दसवें गुणस्थान तक प्राप्त कर सकता है। यहां विचारणीय यह है कि जब उसके मूल और उत्तरगुणों में दोष नहीं लगता, तब भी उसे छठा गुणस्थान क्यों बतलाया है? आशय यह है कि चारित्र का उपघात न होने से, प्रमादी होने पर भी आराधक कहा है।

अब तीसरा प्रश्न विराधक संयमी का है। विराधक संयमी अगर देवगति में जाय तो जघन्य भवनवासी और उत्कृष्ट सौधर्मकल्प में उत्पन्न होता है।

पहले आराधक संयमी का जो स्वरूप बतलाया गया है, उससे विपरीत विराधक संयमी कहलाता है। अर्थात् जिसने महाव्रत ग्रहण तो किये हैं, मगर उनका पालन भलीभांति नहीं किया, जो नियमों की मर्यादा लांघकर महाव्रत में दोष लगाता है, वह विराधक संयमी कहलाता है।

चौथा प्रश्न अविराधक संयमासंयमी का है। जिस समय से देशविरति को ग्रहण किया, उस समय से अखंडित रूप से उसका पालन करने वाला आराधक संयमासंयमी कहलाता है। ऐसा श्रावक अगर देवलोक में उत्पन्न हो तो जघन्य सौधर्म कल्प में और उत्कृष्ट अच्युत विमान (बारहवें स्वर्ग) में उत्पन्न होता है।

इसी प्रकार विराधक संयमासंयमी अगर देवगति प्राप्त करें तो जघन्य भुवनवासी में और उत्कृष्ट ज्योतिष्क में उत्पन्न होता है।

छठा प्रश्न असंज्ञी जीवों का है, जिनके मनोलब्धि नहीं है, उन जीवों को असंज्ञी कहते हैं असंज्ञी जीव अकाम निर्जरा करता है, बिना उद्देश्य के कष्ट सहन करता है, अतएव उसके सम्बन्ध में प्रश्न किया गया है।

शंका– जिस जीव के मन नहीं है, उसमें किसी भी प्रकार का परिणाम कैसे उत्पन्न हो सकता है? और अच्छे परिणाम के बिना स्वर्ग कैसे मिल सकता है?

समाधान–असंज्ञी जीव वह कहलाता है जिसमें मनोलब्धि वाला मन नहीं है। भाव मन अर्थात् अध्यवसाय रूप सभी जीवों में पाया जाता है। संसार में कोई जीव ऐसा नहीं है जिसमें सामान्य रूप से भी संज्ञा न हो। अन्तर यही है कि जो मनोलब्धि सम्पन्न होता है उसमें विचार करने की विशिष्ट शक्ति विद्यमान रहती है और जो जीव मनोलब्धि सम्पन्न नहीं होता वह असंज्ञी कहलाता है। तात्पर्य यह है कि भाव मन सभी संसारी जीवों में होता है। इसके अभाव में कोई जीवित नहीं रह सकता। असंज्ञी जीव अगर देवगति में जाय तो जघन्य भवनवासियों में और उत्कृष्ट वाण–व्यन्तरों में जाता है।

शेष आठ प्रश्नों के उत्तर में भगवान् ने फर्माया है– अगर ये जीव देव हों तो जघन्य भवनवासियों में और उत्कृष्ट भिन्न भिन्न स्थानों में उत्पन्न होते हैं। वे आठ इस प्रकार है–

तापस– पात्र में जो कुछ पड़ जाए उसे ही खा लेने वाला या गिरे हुए पत्तों पर उदर–निर्वाह करने वाला। पात्र में पड़े आहार ऊपर निर्वाह करने वाले तापस कई प्रकार के होते हैं। उनमें से कोई–कोई चार खंड वाला पात्र रखते हैं और यह नियम बना लेते हैं कि इस खंड में पड़ा हुआ आहार कुत्ते को दूंगा, इस खण्ड का गौ को दूंगा, अमुक खंड का आहार पृथ्वी को और इस खंड के आहार का मैं स्वयं उपभोग करूंगा। इस प्रकार के बाल तपस्वी को तापस कहते हैं। यह उत्कृष्ट ज्योतिष्क देवों में उत्पन्न होते हैं।

कान्दर्पिक– जो साधु हंसोड़ हो, हास्य के स्वभाव वाला हो। ये ऐसे साधु किसी वेष में साधु रहते हों मगर हास्यशील होने के कारण अनेक प्रकार की कुचेष्टाएं करते हैं। इनके लक्षण इस प्रकार बतलाये हैं–

कहकहकहस्स हसणं कंदप्पं अणिहुया य उल्लावा।
कंदप्पकहाकहणं, कंदप्पुवएससंसा य।।
भुम–नयण–वयण–दसणच्छदेहिं, कर–पाप–कन्नमाइहिं।
तं तं करेइ जह जह, हसइ परो अप्पणा अहसं।।
वाया कुक्कइओ पुण, तं जंयइ जेण हस्सए अन्नो।
नाणविहजीवरुए, कुव्वइ मुहतूरए चेव।।

अर्थात्– जो कहकहा मारकर हंसता है, ऐसी कथा वार्ता कहता है जिससे आपको भी हंसी आवे, अथवा जो काम सम्बन्धी वार्तालाप कर, कन्दर्प की कथा कर, उसी का उपदेश दे या कंदर्प की प्रशंसा करे।

अथवा भौंह, आंख, मुख, होठ, हाथ, पैर या कान आदि से ऐसी चेष्टा करे कि आप तो गुमसुम बना रहे–हंसे नहीं सिर्फ दूसरों को हंसी आवे।

अथवा दूसरों को हंसाने वाली वाणी से कल्पना करे नाना प्रकार के पशु–पक्षियों की बोली बोलकर लोगों को हंसावे, या मुंह से बजाकर दूसरों को हंसावे, यह कान्दर्पिक साधु कहलाता है।

इन कान्दर्पिक साधुओं के विषय में शास्त्र में कहा है–

जो संमयो वि एतासु, अप्पसत्थासु भावणं कुणइ।
सो तव्विहेसु गच्छइ सुरेसु भइओ चरणहीणो त्ति।।

अर्थात्– साधु हो करके भी जो ऐसी अप्रशस्त भावनाएं करता है, वह इसी प्रकार के देवों में उत्पन्न होता है। वह चारित्र हीन हो तो देवों के अतिरिक्त अन्य गति नरक में भी जाता है।

चारक परिव्राजक–गेरू से या और किसी पृथ्वी के रंग से वस्त्र रंग कर उसी वेष में आजीविका करने वाला, त्रिदंडी चरक परिव्राजक कहलाता

अगर यह हठ किया जाय कि चाहे मूलगुण का विराधक हो, चाहे उत्तरगुण का, पहले देवलोक से आगे नहीं जाता; तो वुक्कस नियंठा वाला उत्तरगुण का परिसेवी होने पर भी बारहवें देवलोक तक जाता है– इस कथन से विरोध आता है। इसलिए जो विशिष्टता गुण का विराधक हो वह नीची गति में जाता है, और कथंचित् विराधक कथंचित् आराधक, विराधक संयमी की तरह नीची गति में नहीं जाता।

अब एक प्रश्न और शेष रह जाता है। असंज्ञी जीव का जघन्य भवनवासी और उत्कृष्ट वाणव्यंतर में उत्पाद बतलाया गया है, इससे ऐसा प्रतीत होता है कि भवनवासी से व्यंतर बड़े हैं। क्या वास्तव में यही बात है? इसके सिवाय चमरेन्द्र तथा बलेन्द्र की ऋद्धि बड़ी कही है। आयुष्य भी इनका सागरोपम से अधिक है, जब कि वाणव्यन्तर का पल्योपम प्रमाण ही है। फिर वाणव्यन्तर वड़े कैसे माने जा सकते हैं? इसका उत्तर यह है कि कई वाणव्यन्तर, कई भवनवासियों से भी उत्कृष्ट ऋद्धि वाले हैं और कई भवनवासी वाणव्यन्तरों की अपेक्षा कम ऋद्धि वाले हैं। अतएव यहां जो कथन किया गया है वह निर्दोष है। कई वाणव्यन्तर, कई भवनवासियों से अधिक ऋद्धिशाली हैं, यह बात शास्त्र के इसी कथन से सिद्ध है। इस प्रकार उपपात सम्बन्धी प्रश्नोत्तर का कथन समाप्त होता है। असंज्ञी जीव भी देवलोक में जा सकता है, यह वर्णन यहां किया गया है। अब उसकी आयु के सम्बन्ध में प्रश्नोत्तर करते हैं।

असंज्ञी जीवों का आयुष्य

मूलपाठ–

प्रश्न– कतिविहे णं भंते! असन्निआउए पन्नते?

उत्तर– गोयमा! चउव्विहे असन्निआउए पन्नत्ते; तंजहा– नेरइअ असन्निआउए, तिरिक्ख मणुस्स–देवअसन्निआउए।

प्रश्न– असण्णी णं भंते! जीवे किं नेरइयाउअं पकरेइ, तिरिक्खमणु–देवाउअं पकरेइ?

उत्तर– हंता गोयमा! नेरइयाऽऽउयं पि पकरेइ, तिरिक्ख–मणु–देवाउअं पि पकरेइ। नेरइयाउयं पकरेमाणे जहण्णेणं दस वाससहस्साइं, उक्कोसेणं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागं पकरेइ, तिरिक्खजोणियाउयं पकरेमाणे जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागं पकरेइ; मणुस्साउयं वि एवं चेव, देवाउअं जहा नेरइयाउए।

प्रश्न– एअस्स णं भंते! नेरइयअसन्निआउस्स तिरिक्ख–मणु–देवअसन्निआउअस्स कयरे कयरे. जाव विसेसाहिए वा?

उत्तर– गोयमा! सव्वत्थोवे देवअसन्निआउए, मणुस्स. असंखेज्जगुणे, तिरिय.असंखेज्जगुणे, नेरइअ. असंखेज्जगुणे।

सेवं भंते! सेवं भंते! त्ति।

संस्कृत–छाया–प्रश्न–कतिविधं भगवन्! असंज्ञयायुष्कं प्रज्ञप्तम्?

उत्तर– गौतम! चतुर्विधमसंज्ञयाऽऽयुष्कं प्रज्ञप्तम्, तद्यथा नैरयिकासंज्ञयायुष्कम्, तिर्यग्–मनुष्य–देवासंज्ञयायुष्कम्।

प्रश्न– असंज्ञी भगवन्! जीवः किं नैरयिकायुष्कं प्रकरोति? तिर्यग्–मनुष्य–देवायुष्कं प्रकरोति?

उत्तर– हन्त गौतम! नैरयिकायुष्कमपि प्रकरोति, तिर्यग्–मनुष्य–देवायुष्कमपि प्रकरोति। नैरयिकायुष्कं प्रकुर्वन् जघन्येन दश वर्षसस्राणि, उत्कृष्टेन पल्योपमस्य असंख्येयभागं प्रकरोति, तिर्यग् योन्याष्युकं प्रकुर्वन् जघन्येन अन्तर्मुहूर्त्तम्, उत्कृष्टेन पल्योपमस्य असंख्येयभागं प्रकरोति, मनुष्यायुष्केऽपि एवं चैव, देवायुष्कं यथा नैरयिकायुष्कम्।

प्रश्न– एतस्य भगवन्! नैरयिकासंज्ञयायुष्कस्य, तिर्यग्–मनुष्य–देवासंज्ञयायु कस्य कतरत् कतरत. यावत्विशेषाधिकं वा?

उत्तर– गौतम! सर्वस्तोकं देव–असंज्ञयायुष्कम्, मनुष्य. असंख्येयगुणम्, तिर्यग्. असंख्येयमगुणम्, नैरयिक. असंख्येयगुणम्।

तदेवं भगवन्! तदेवं भगवन्! इति।

मूलार्थ– प्रश्न– भगवन्! असंज्ञी का आयुष्य कितने प्रकार का कहा है?

उत्तर– गौतम! असंज्ञी का आयुष्य चार प्रकार का कहा है, वह इस प्रकार–नैरयिक–असंज्ञी–आयुष्य, तिर्यंच असंज्ञी–आयुष्य, मनुष्य– असंज्ञी–आयुष्य, देव–असंज्ञी–आयुष्य।

प्रश्न– भगवन्! क्या असंज्ञी नारकी की आयु उपार्जन करता है? और तिर्यंच की, मनुष्य की तथा देव की आयु उपार्जन करता है?

उत्तर– गौतम! हां, नारकी की आयु भी उपार्जन करता है, और तिर्यंच की, मनुष्य की अथवा देव की आयु भी उपार्जन करता है। नारकी की आयु उपार्जन करता हुआ असंज्ञी जीव जघन्य दस हजार की और उत्कृष्ट पल्योपम के असंख्यातवें भाग की उपार्जन करता है। तिर्यंचयोनि की आयु उपार्जन करने वाला असंज्ञी जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की और उत्कृष्ट पल्योपम के असंख्यात भाग की उपार्जन करता है, मनुष्य की आयु भी इतनी ही उपार्जन करता है और देव की आयु नारक आयु के समान उपार्जन करता है।

प्रश्न– भगवन्! नारक– असंज्ञी–आयुष्य, तिर्यंच–असंज्ञी–आयुष्य, मनुष्य–असंज्ञी आयुष्य और देव–असंज्ञी–आयुष्य, इनमें कौन किससे अल्प, बहुत, तुल्य या विशेषाधिक है?

उत्तर– गौतम! देव–असंज्ञी–आयुष्य सबसे कम है, उसकी अपेक्षा मनुष्य–असंज्ञी आयुष्य असंख्यातगुणा है, उससे तिर्यंच–असंज्ञी–आयुष्य असंख्यातगुणा है और उससे भी नारक–असंज्ञी– आयुष्य असंख्यातगुणा है।

भगवन्! यह इसी प्रकार है, भगवन्, इसी प्रकार है! इस प्रकार कह कर गौतम विचरते हैं।

व्याख्यान– असंज्ञी जीव की आयु कितने प्रकार की है, यह देखने से पहले यह देखना लेना आवश्यक है कि असंज्ञी का आयुष्य किसे कहते हैं? वर्तमान भव में जो जीव विशिष्ट संज्ञा से रहित है, वह परलोक का जो आयुष्य बांधता है, उसे असंज्ञी का आयुष्य कहते हैं।

जिस स्थिति में व्यक्ति जो प्राप्त करता है, वह प्राप्त की जाने वाली वस्तु उसी के नाम से प्रसिद्ध होती है। जैसे राजा द्वारा प्राप्त किया हुआ धन, राजधन और सेठ द्वारा प्राप्त धन सेठ धन कहलाता है। उसी प्रकार असंज्ञी अवस्था में जो आयुष्य बांधा जाता है, वह असंज्ञी का आयुष्य कहलाता है।

गौतम स्वामी ने प्रश्न किया है– भगवन्! असंज्ञी का आयुष्य कितने प्रकार का है? भगवान् ने उत्तर दिया– गौतम! असंज्ञी का आयुष्य चार प्रकार है; अर्थात् नारकी का, तिर्यंच का मनुष्य का और देव का।

इसके पश्चात् गौतम स्वामी विशेष रूप से फिर प्रश्न करते हैं– भगवन्, नैरयिक का, तिर्यंच का, देव का और मनुष्य का आयुष्य असंज्ञी जीव प्राप्त कर सकता है?

इस प्रश्न का अभिप्राय यह है कि भगवान् ने जो चार प्रकार का आयुष्य बतलाया है, वह उन असंज्ञी जीवों द्वारा उपार्जन करने से उनका कहलाया है। उनके सम्बन्ध का होने से उनका कहलाया है। उनके सम्बन्ध का इस तरह जैसे साधु का पात्र। यद्यपि साधु ने पात्र न बनाया है, न खरीदा है, फिर भी साधु का उस पात्र से सम्बन्ध है, इसलिए साधु का पात्र कहलाता है। इसी प्रकार नरक, तिर्यंच आदि का आयुष्य असंज्ञी द्वारा उपार्जन किया जाता है या सिर्फ भोगा ही जाता है?

इसके अतिरिक्त इस प्रश्न का यह अभिप्राय भी हो सकता है कि असंज्ञी जीव के मन तो होता नहीं है, और मन के अभाव में वह कुछ जानता समझता नहीं है, फिर वह आयुष्य का उपार्जन कैसे कर सकता है? अतएव उसके सम्बन्ध का होने से ही उसका क्यों न माना जाय? इस संभावना का निराकरण करने के लिए यह प्रश्न किया है कि असंज्ञी का आयुष्य क्या असंज्ञी द्वारा ही उपार्जन किया जाता है?

गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने फर्माया है– हां गौतम, असंज्ञी द्वारा उपार्जन किया हुआ आयुष्य है।

आत्मा जब प्रकृष्ट अज्ञान की स्थिति में आता है, तब अपने आपको ही भूल जाता है। उसे यह पता नही रहता कि मैं क्या करता हूं! तथापि भगवान् अपने निर्मल ज्ञान में सब कुछ देखते हैं। शराबी को भान नहीं होता

कि वह क्या कर रहा है, क्या बोल रहा है, किधर जा रहा है, पूछने पर भी वह ठीक–ठीक उत्तर नहीं दे सकता, लेकिन समझदार आदमी शराबी की सब चेष्टाएं देखता है। इसी प्रकार मनोलब्धि विकसित न होने से असंज्ञी जीव को मालूम नहीं होता कि वह क्या अच्छा–बुरा कर रहा है। मगर उसके आन्तरिक अध्यवसाय को हस्तामलकवत् जानने वाले ज्ञानी कह देते हैं कि वह असंज्ञी जीव नरक की आयु उपार्जन करके नरक में या स्वर्ग में, इतने समय के लिए जाता है।

आप अपनी बाह्य चेष्टाएं जानते हैं, मगर समस्त आन्तरिक प्रवृत्तियों को; जो प्रतिक्षण हो रही हैं, जान लो तो सर्वज्ञ होते देर न लगे। किन्तु सर्वज्ञ की स्थिति प्राप्त करने के लिए पहले सर्वज्ञ के वचनों पर विश्वास–सुदृढ़ श्रद्धा करने की आवश्यकता है। ऐसा करने से एक वह दिन अवश्य आएगा जब परमात्मा में और तुममें कुछ भी अन्तर न रहेगा।

अन्तरात्मा में क्या होता है, इस बात का किंचित् आभास नित्य मिलता है। लेकिन बहिर्दृष्टि पुरुष उस ओर लक्ष्य नहीं देते। उदाहरण के लिए भोजन को ही लीजिए। आप भोजन करते हैं, मगर आपको यह पता नहीं है कि यह भोजन कब किस रूप में पलटता है, उसका आपके मन पर और तन पर क्या प्रभाव पड़ता है! लेकिन अभ्यास से पता लगना बहुत कठिन नहीं है। जैसे जब आपकी आंखों में गर्मी लग रही है, तब आपको कोई तेज मसालेदार तेल की चीज खिलाना चाहे तो क्या आप खाएंगे?

'नहीं!'

क्योंकि आपको मालूम है कि इस भोजन का परिणाम हानिकारक होगा यद्यपि यह बात प्रत्यक्ष नहीं दीखती। इसी प्रकार आप जो–जो कार्य करते हैं, उनके विषय में शास्त्र से यह पता लग ही जाता है कि इनका फल अमुक–अमुक होगा। इस बात को पूर्ण रूप से प्रत्यक्ष जानने के लिए सर्वज्ञता की आवश्यकता है। असंज्ञी जीव नरक की आयु भी बांधते हैं और स्वर्ग की आयु भी बांधते हैं। कहां नरक की भीषण यातनाएं और कहां स्वर्ग का अनुपम सांसारिक सुख! लेकिन अपने ज्ञान में भगवान् ने जैसा देखा है, जगत के कल्याण के लिए कह दिया है।

गौतम स्वामी भगवान् से पूछते हैं– प्रभो! असंज्ञी जीव मनोहीन है, इसलिए सभी असंज्ञी क्या नरक की समान आयु का बंध करते हैं? भगवान् ने उत्तर दिया– नहीं गौतम, यह बात नहीं है। कोई जीव जघन्य दस हजार

वर्ष की आयु बांधते हैं और कोई उत्कृष्ट पल्योपम के असंख्यातवें भाग की आयु बांधते हैं।

यद्यपि नरक की आयु इससे भी अधिक– तेतीस सागरोपम की है, तथापि असंज्ञी जीव के परिणाम ऐसे तीव्र नहीं होते, जिससे कि अधिक आयु का बंध हो सके। फिर भी पल्योपम के असंख्यातवें भाग का आयुष्य उपार्जन कर ही लेता है।

असंज्ञी जीव तिर्यंच आयु का भी उपार्जन कर सकता है। जब तिर्यंच आयु बांधता है तो जघन्य अन्तर्मुहूर्त का और उत्कृष्ट पल्योपम के असंख्यात वें भाग का बांधता है।

भगवान् ने परिणाम की धारा में भी कितना अन्तर देखा है! भगवान् फर्माते हैं– असंज्ञी तिर्यंच मृत्यु के अनन्तर अन्तर्द्वीप में उत्पन्न होता है और वहां युगलिया बन जाता है। कहां वह असंज्ञी जीव, जिसे यह भी मालूम नहीं कि मैं क्या कर रहा हूं और कहां अन्तर्द्वीप के युगलिया! लेकिन शुभ परिणाम की धारा ऐसी प्रवाहित होती है कि वह अन्तर्द्वीप में जाकर युगलिया बन जाता है और कल्पवृक्षों का उपभोग करता है। विश्वास रखो, अच्छे परिणाम का फल अच्छा ही होता है।

असंज्ञी जीव अगर मनुष्य–आयु का बंध करता है तो उसकी स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की और उत्कृष्ट पल्योपम के असंख्यातवें भाग की होती है। यहां जो उत्कृष्ट आयु बतलाई है वह भी युगलिया मनुष्य की अपेक्षा से ही समझना चाहिए।

असंज्ञी मनुष्य अगर देवायु उपार्जन करता है तो जघन्य दस हजार वर्ष और उत्कृष्ट पल्योपम के असंख्यातवें भाग की आयु प्राप्त करता है।

तात्पर्य यह है कि देव और नरक गति का जघन्य आयुष्य दस हजार वर्ष का और उत्कृष्ट पल्योपम के असंख्यातवें भाग का उपार्जन करता है। इसी प्रकार मनुष्य और तिर्यंच का जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट पल्योपम के असंख्यातवें भाग का आयुष्य पाता है।

गौतम स्वामी फिर पूछते हैं– भगवन्! इन चारों आयुष्यों में से कौन किससे कम और कौन किससे ज्यादा है? भगवान् उत्तर देते हैं– गौतम! असंज्ञी देव–आयुष्य सबसे कम है, असंज्ञी–मनुष्यायुष्य उससे असंख्यातगुणा ज्यादा है। असंज्ञी देवगति में जाता तो है, लेकिन उसका शुभ आयुष्य अधिक उपार्जन करना कठिन है। इसलिए वह देव का आयुष्य बहुत कम बांधता है और मनुष्य का आयुष्य उसकी अपेक्षा असंख्यातगुणा अधिक बांधता है।

तिर्यंच का आयुष्य, मनुष्य–आयुष्य की अपेक्षा भी असंख्यातगुणा बांधता है और नरकायु, तिर्यंचायु की अपेक्षा असंख्यातगुणा बांधता है।

उदाहरणार्थ– एक घर में करोड़ मोहरें हैं, एक घर में करोड रुपये हैं, एक में करोड़ पैसे हैं और एक में करोड़ कौड़ियां हैं। अब किसी को किसी के बदले कुछ मिलता हो तो मोहरों की अपेक्षा रुपये, रुपयों की अपेक्षा पैसे और पैसों की अपेक्षा कौड़ियां अधिक मिलेंगी। इसका अर्थ यह नहीं है कि मोहरें कम हैं। मोहरें तो पूरी करोड़ हैं, मगर मिलेंगी उतनी ही जितनी कि मिलनी हैं। इसी प्रकार देव का आयुष्य तो बहुत है, लेकिन असंज्ञी यदि उस आयुष्य का बंध करता है तो बहुत कम का बंध करता है। मनुष्य की आयु उससे असंख्यातगुण बांधता है। इससे विदित होता है कि असंज्ञी जीव ऊंची क्रिया कम करता है और नीची क्रिया अधिक।

सेवं भंते सेवं भंते गौतम बोल्णा सई।
श्रीवीरजी का वचनां में सन्देह नई।।
हाथ जोड़ मान मोड़ गौतम बोल्या सई।
श्रीवीरजी का वचनां में सन्देह नई।।

भगवान् के उत्तर सुनकर श्री गौतम स्वामी ने श्रद्धा और विनम्रता प्रगट करते हुए कहा– प्रभो! आपकी वाणी यथार्थ है। आप सर्वज्ञ, सर्वदर्शी हैं, मैं अल्पज्ञ हूं। मैं अपनी बुद्धि का लोटा आपके ज्ञान सागर में डालता हूं। लोटे का जल समुद्र में डाल देने से लोटे का जल भी समुद्र का ही जल बन जाता है, उसी प्रकार मैं अपनी बुद्धि को सर्वज्ञ की बुद्धि में मिला देता हूं। इसी से मैं कृतार्थ हो जाऊंगा।

प्रथम शतक का द्वितीय उद्देशक

भगवती सूत्र व्याख्यान

भाग—4

श्री भगवती सूत्र

(पंचमांगम्)

(तृतीय भाग)

प्रथम शतकः– तृतीय उद्देशक

दूसरे उद्देशक के अन्त में असंज्ञी जीव के आयुष्य का विचार किया गया है। आयु, मोह के दोष से बंधता है; जब आयु का बध होता है तब आठों ही कर्मो का बंध होता है। अतएव आयुबंध के अनन्तर कांक्षा–मोहनीय कर्म का विचार किया जाता है।

प्रथम शतक के प्रारम्भ में उद्देशों संबंधी जो संग्रहगाथा कही गई थी, उसमें तीसरे उद्देशक के लिए 'कखपओस' नाम दिया गया है, तदनुसार भी कांक्षामोहनीय कर्म का विचार करना आवश्यक है।

मूलपाठ

प्रश्न–जीवाणं भंते! कंखामोहणिज्जे कम्मे कडे?

उत्तर–हंता, कडे।

प्रश्न–से भंते! किं देसेणं देसे कडे, देसेणं सव्वे कडे, सव्वेणं देसे कडे, सव्वेणं सव्वे कडे?

उत्तर–गोयमा! नो देसेणं देसे कडे, नो देसेणं सव्वे कडे, नो सव्वेणं देसे कडे, सव्वेणं सव्वे कडे।

प्रश्न–नेरइयाणं भंते! कंखामोहणिज्जे कम्मे कडे?

उत्तर–हंता, कडे। जाव–सव्वेणं सव्वे कडे; एवं जाव वेमाणियाणं दंडओ भाणि अव्वो।

प्रश्न–जीवा णं भंते! कंखामोहणिज्जं कम्मं करिंसु ?

उत्तर–हंता, करिंसु।

प्रश्न—तं भंते! किं देसेणं देसं करिंसु?

उत्तर—एएणं अभिलावेणं दंडओ भाणिअव्वो, जाव वेमाणियाणं। एवं करेंति, एत्थ वि दंडओ, जाव—वेमाणिआणं। एवं करिस्संति, एत्थ वि दंडओ जाव वेमाणिआणं। एवं चिए, चिणिसु, चिणंति, चिणिस्संति, उवचिए, उवचिणिसु, उवचिणंति, अवचिणिस्संति, उदीरेंसु, उदीरेंति, उदीरिस्संति, वेदेंसु, वेदेंति, वेदिस्संति, निज्जरेंसु, निज्जरेंति, निज्जरिस्संति।

गाहाः—

कड—चिया उवचिया उदीरिया वेइया य णिज्जिणा।
आदितिए चउभेया तियभेया पच्छिमा तिन्नि।।

संस्कृत छाया—

प्रश्न—जीवानां भगवन्? काङ्क्षामोहनीयं कर्म कृतम्?

उत्तर—हन्त! कृतम्।

प्रश्न—तद् भगवन्! किं देशेन देशं कृतम्, देशेन सर्वं कृतम्, सर्वेण देशम् कृतम्, सर्वेण सर्वम् कृतम्?

उत्तर—गौतम! नो देशेन देशं कृतम्, नो देशेन सर्वम् कृतम्, नो सर्वेण देशं कृतम्, सर्वेण सर्वम् कृतम्।

प्रश्न—नैरयिकानां भगवन्! काङ्क्षामोहनीयं कर्म कृतम्?

उत्तर—हन्त! कृतम्, यावत्—सर्वेण सर्वम् कृतम्। एवं यावद् वैमानिकानां दण्डको भणितव्यः।

प्रश्न—जीवैः भगवन्! काङ्क्षामोहनीयं कर्म कृतम् ?

उत्तर—हन्त,! कृतम्।

प्रश्न—तद् भगवन्! किं देशेन देशं कृतम्० ?

उत्तर—एतेनभिलापेन दण्डको भणितव्यः, यावत्— वैमानिकानाम्। एवं कुर्वन्ति, अत्रापि दण्डको यावत्— वैमानिकानाम्। एवं करिष्यन्ति अत्रापि दण्डको यावत्— वैमानिकानाम्। एवं चितम्, अचैषुः चिन्वन्ति चेष्यन्ति, उपचितम्, उपाचैषुः, उपचिन्वन्ति, उपचेष्यन्ति; उदीरितवन्तः, उदीरयन्ति, उदीरयिष्यन्ति; वेदितवन्तः वेदयन्ति, वेदयिष्यन्ति; निर्जरितवन्तः, निर्जरयन्ति, निर्जरयिष्यन्ति। गाथाः—

कृत—चिता उपचिता उदीरिता वेदिताश्च निर्जीर्णाः।
आदित्रिके चतुर्भेदाः, त्रिभेदाः पश्चिमास्त्रयः।।

प्रश्न—भगवन्! क्या जीवों का कांक्षामोहनीय कर्म कृत है ?

उत्तर–हां, गौतम! कृत–क्रियानिष्पाद्य है।

प्रश्न–भगवन्! क्या वह देश से देशकृत है, देश से सर्वकृत है, सर्व से देशकृत है या सर्व से सर्वकृत है?

उत्तर–हे गौतम! वह देश से देशकृत नहीं है, देश से सर्वकृत नहीं है, सर्व से देशकृत नहीं है, सर्व से सर्वकृत है।

प्रश्न–भगवन्! नैरयिकों का कांक्षामोहनीय कर्म कृत है?

उत्तर–हे गौतम! हां, कृत है। यावत् सर्व से सर्वकृत है। इसी प्रकार यावत् वैमानिकों तक दंडक कहना चाहिये।

प्रश्न–भगवन्! जीवों ने कांक्षामोहनीय कर्म उपार्जन किया है?

उत्तर–हे गौतम! हां, किया है।

प्रश्न–भगवान्! क्या देश से देशकृत है ! (इत्यादि पूर्वोक्त कहना चाहिए।)

उत्तर–हे गौतम! सर्व से सर्व किया है, इस प्रकार यावत् वैमानिकों तक दंडक कहना चाहिए। इसी तरह 'करते' और करेंगे इन दोनों का कथन भी यावत् वैमानिकों तक करना चाहिये। तथा इसी प्रकार चय, चयकिया, चय करते हैं, चय करेंगे, उपचय, उपचय किया, उपचय करते हैं, उपचय करेंगे, उदीरणा की, उदीरणा करते हैं, उदीरणा करेंगे, वेदन किया, वेदन करते हैं, वेदन करेंगे, निर्जीर्ण किया, निर्जीर्ण करते हैं, निर्जीर्ण करेंगे, इन सबका कथन करना चाहिए। गाथार्थः–

कृत, चित, उपचित, उदीरित, वेदित और निर्जरित, इतने अभिलाप यहां कहने हैं। इनमें से कृत, चित और उपचित में एक–एक के चार भेद कहने हैं, अर्थात् सामान्य क्रिया, भूतकाल की, वर्त्तमान काल की और भविष्यकाल की क्रिया, और पिछले तीन पदों में सिर्फ तीन काल की क्रिया कहनी है।

व्याख्यान–प्रस्तुत कथन को समझने से पहले यह देख लेना आवश्यक है कि कांक्षा मोहनीय कर्म का लक्षण क्या है? जो कर्म मुग्ध–मूढ़ बनाता है, जिसके प्रभाव से आत्मा गफलत में पड़ती है, उसे मोहनीय कर्म कहते हैं। मोहनीय कर्म के दो भेद हैं–चारित्र मोहनीय और दर्शन मोहनीय। यहां चारित्र मोहनीय कर्म के विषय में प्रश्न नहीं है, अतएव कांक्षामोहनीय शब्द का प्रयोग किया गया है।

कांक्षा का अर्थ यहां "अन्य दर्शनों की इच्छा करना" है। जैसे कोई सोचता है–'जैन धर्म वैराग्य की ओर प्रेरित करता है और संसार के आमोद–प्रमोद के प्रति अरुचि उत्पन्न करता है। चार्वाक (नास्तिक) मत कितना सुन्दर है 'जो

ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत् (कर्ज लेओ और खूब घी पीओ) का उपदेश देता है सांसारिक सुख–भोग का समर्थन करता है। उसमें परलोक का किंचित् भी भय नहीं है, क्योंकि वह कहता है–"भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः"। अर्थात् यह जला हुआ शरीर फिर दूसरे भव में नहीं जाता और आत्मा का अस्तित्व ही नहीं है। ऐसी अवस्था में जैन धर्म को त्याग कर चार्वाक मत को ही ग्रहण करना चाहिए। इस प्रकार के विचार आना कांक्षा मोहनीय कर्म कहलाता है। कांक्षा मोहनीय के अन्तर्गत उपलक्षण से ओर बातें भी समझनी चाहिएं। जैसे संशय मोहनीय, परपाखंड प्रशंसा मोहनीय आदि आदि।

कांक्षा मोहनीय का सरल अर्थ है–मिथ्यात्व मोहनीय। इसी के विषय में गौतम स्वामी ने प्रश्न किया है–भगवन् ! क्या कांक्षा मोहनीय कर्म जीव द्वारा किया हुआ है? इस प्रश्न का उत्तर भगवान् ने 'हां' में दिया है।

क्रियते–इति कर्म। अर्थात् कर्त्ता द्वारा जो किया जाय वह कर्म कहलाता है। जो कर्त्ता द्वारा नहीं किया जाता वह कर्म नहीं हो सकता। अगर बिना किये ही कर्म होने लगे तो जगत् की सम्पूर्ण अवस्था उथल पुथल हो जाय। जिसने ऋण नहीं लिया उसे चुकाना पड़े और जिसने अपराध नहीं किया उसे दंड भोगना पड़े तो बड़ी गड़बडी मच जाय। इसीसे शास्त्र कहता है कि किये बिना कर्म नहीं हो सकता। कांक्षा मोहनीय जीव द्वारा किया जाता है, इसीलिए यह कर्म कहलाता है।

कई दार्शनिकों ने विना किये ही कर्मों का लग जाना स्वीकार किया है। गौतम स्वामी ने भगवान् से प्रश्न करके यह स्पष्ट कर दिया है कि बिना किये कर्म आत्मा नहीं भोगता। जीव द्वारा करने से ही कर्म होता है।

इतना स्पष्ट होने के अनन्तर गौतम स्वामी पूछते हैं भगवन् ! जीव ने कांक्षा मोहनीय कर्म किया है तो देश से देश को किया है, देश से सर्व को किया है, सर्व से देश को किया है या सर्व से सर्व को किया है ?

कार्य चार प्रकार से होता है। उदाहरणार्थ–एक आदमी अपने शरीर के एक देश–हाथ से कपड़े का एक भाग ग्रहण करता है। हाथ शरीर का देश है। उस एक देश से वस्त्र का एक देश (भाग) ग्रहण करता है। यह एक देश से एक देश का ग्रहण करना कहलाया। इसी प्रकार हाथ से समस्त कपड़े को ग्रहण किया तो वह देश से सर्व का ग्रहण करना कहलाया। यदि समस्त शरीर से वस्त्र के एक भाग को ग्रहण किया तो सर्व से देश का ग्रहण करना कहलाया और सारे शरीर से सारे वस्त्र को ग्रहण करना सर्व से सर्व का ग्रहण करना है। इसी प्रकार अन्य उदाहरण भी समझे जा सकते हैं।

प्रकरण में देश का अर्थ है—आत्मा का एक देश और एक समय में ग्रहण किये जाने वाले कर्म का एक देश। अगर आत्मा के एक देश से कर्म का एक देश किया तो यह देश से देश की क्रिया की। अगर आत्मा से एक देश से सर्व कर्म किया तो देश से सर्व की क्रिया कहलाई।

सम्पूर्ण आत्मा से कर्म का एक देश किया तो सर्व देश की क्रिया हुई। और सम्पूर्ण आत्मा से सम्पूर्ण कर्म किया तो सर्व से सर्व की क्रिया कहलाई।

गौतम स्वामी ने इसी अभिप्राय से प्रश्न किया है। भगवान् ने उत्तर में फरमाया है—हे गौतम! कांक्षा मोहनीय कर्म सर्व से सर्वकृत है अर्थात् समस्त आत्मप्रदेशों से समस्त कर्म किया हुआ है। पूर्वोक्त चौभंगी में से यहां चौथा भंग ही ग्रहण किया गया है।

केवल मात्र चतुर्थ भंग को स्वीकार करने का कारण है जीव का स्वभाव। जीव अपने स्वभाव से समस्त आत्म प्रदेशों के द्वारा एक क्षेत्रावगाढ़ कर्म पुद्गलों को, जो एक समय में बंधने योग्य हों, बांधता है। अतएव एक काल में किया जाने वाला कांक्षा मोहनीय कर्म, जीव सर्व से सर्व को करता है। इसीलिए तीन भंगों का निषेध करके यहां सिर्फ चौथा भंग स्वीकार किया है।

अथवा—जिन आकाश—प्रदेशों में जीव का अवगाहन हो रहा है—जिस क्षेत्र में आत्मा के प्रदेश विद्यमान हैं, उसी आकाश प्रदेश में रहने वाले कर्म—पुद्गल एक—क्षेत्रावगाढ़ कहलाते हैं। ऐसे ही कर्म—पुद्गलों को जीव समस्त प्रदेशों से अपने में एकमेक करता है। जिस हेतु से आत्मा कर्म करता है, वह हेतु सभी कर्म प्रदेशों का है। इस प्रकार समस्त आत्म प्रदेशों द्वारा, एक समय में बंधने योग्य समस्त कर्म पुद्गलों को बांधने के कारण कांक्षामोहनीय सर्व से सर्वकृत है।

कई ग्रन्थकारों का मत है कि जीव के आठ प्रदेश खाली रहते है—वहां कर्म का बंध नहीं होता, लेकिन शास्त्र में ऐसा कथन उपलब्ध नहीं है।

यह समुच्चय का प्रश्नोत्तर था, अब दण्डक—विशेष को आश्रित करके प्रश्न किया जाता है। गौतम स्वामी कहते हैं— भगवन्! नैरयिक कांक्षामोहनीय कर्म क्या उनका किया हुआ है?

भगवान—हां।

गौतम—वह भी सर्व से सर्वकृत है या दूसरी तरह से?

भगवन्–वह भी सर्व से सर्वकृत है।

जैसे नैरयिक के लिए प्रश्नोत्तर है वैसे ही चौवीसों दंडकों के लिए प्रश्नोत्तर समझने चाहिएं।

कर्म, क्रिया से निष्पन्न होता है और क्रिया तीनों कालों से संबंध रखती है। अतीत काल में कर्म–निष्पादन की क्रिया की थी, वर्त्तमान में की जा रही है–और भविष्य में भी की जायेगी। इस त्रिकाल संबंधी क्रिया से कर्म लगते हैं। क्रिया पहले होती है, कर्म बाद में लगते हैं। कर्म वर्गणा के पुद्‌गलों का आत्मा के साथ संबंध हो जाता है तब ही उन पुद्‌गलों की कर्म संज्ञा होती है। यह संज्ञा तब तक बनी रहती है जब तक कि वे आत्मा से झड़ नहीं जाते। यह कर्म, क्रिया से ही होते हैं, अतः क्रिया के द्वारा कर्म संबंधी प्रश्न किया गया है।

गौतम स्वामी पूछते हैं–भगवन्! जीवों ने कांक्षामोहनीय कर्म किया है ? इसके उत्तर में भगवान् ने फरमाया–हां गौतम, किया। इसके आगे देश से देश किया यावत् सर्व से सर्व किया? यह प्रश्न है और उसका उत्तर पहले की ही तरह सर्व से सर्व किया, यह समझना चाहिए। इसी प्रकार वर्त्तमान काल और भविष्य काल संबंधी प्रश्नोत्तर भी हैं। जैसे–'भगवन्! जीव कांक्षामोहनीय कर्म करते हैं? उत्तर–'हां गौतम, करते हैं।'

प्रश्न–'देश से देश करते हैं यावत् सर्व से सर्व करते हैं?

उत्तर–गौतम! सर्व से सर्व करते हैं। इत्यादि।

इस समुच्चय कथन की भांति चौवीसों दण्डकों को लेकर, तीन काल लगाकर प्रश्नोत्तर स्वयं ही समझ लेने चाहिएं।

यहां जो प्रश्नोत्तर 'कृत' के विषय में बतलाये गये हैं, वही प्रश्नोत्तर चित, उपचित, उदीरित, वेदित और निर्जरित के विषय में भी समझने चाहिएं। अर्थात् पूर्वोल्लिखित प्रश्नोंत्तरों में जहां कृत शब्द आया है, वहां चित, उपचित आदि शब्दों का प्रयोग करके प्रश्नोत्तरों की संघटना कर लेनी चाहिए।

यहां इन चित, उपचित, उदीरित, वेदित और निर्जरित के विषय में एक संग्रहगाथा कही है। उसमें यह बतलाया गया है कि कृत, चित और उपचित के चार–चार भेद करने चाहिएं–एक सामान्य क्रिया और तीन काल की तीन क्रियाएं। उदीरित, वेदित और निर्जरित में केवल तीन काल की ही क्रिया कहनी चाहिए। इन पदों के साथ सामान्य क्रिया का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

चित आदि का स्वरूप इस प्रकार है:—जो कर्म पहले उपार्जन किये हुए हैं, उनमें प्रदेश और अनुभाग की वृद्धि करना अर्थात् संक्लेशमय परिणामों से उन्हें बढ़ाना चय (चित) कहलाता है। यथा—किसी आदमी ने भोजन किया। भोजन करने में उसे सामान्य क्रिया लगी। फिर वह रागभाव से प्रेरित होकर भोजन की सराहना करने लगा। सराहने से कर्म जैसे—जैसे आते हैं, वैसे—वैसे कर्मों की वृद्धि होती जाती है। इसे चय करना कहते हैं। बार—बार ऐसा करना—चय करना, उपचय करना कहलाता है।

अन्य आचार्यों के अभिप्राय से कर्म—पुद्गलों का ग्रहण करना मात्र चय कहलाता है और अबाधा काल को छोड़कर दूसरे काल में, ग्रहण किये हुए कर्म पुद्गलों को वेदने के लिए निषेचन करना उपचय कहलाता है।

कर्मबंध होने के पश्चात् और उदय से पहले का समय, जबकि कर्म सत्ता में पड़ा रहता है, फल नहीं देता, अबाधा काल कहलाता है। कर्म की स्थिति जितने क्रोड़ाक्रोड़ी सागर की होती है उतने ही हजार वर्ष का अबाधा काल होता है।

निषेचन का अर्थ है—वर्गीकरण। जीव पहली स्थिति में बहुत से कर्मदलिकों का निषेचन करता है। उसके पश्चात् दूसरी स्थिति में बहुत कम कर्मदलिकों का निषेचन करता है। इस प्रकार यावत् उत्कृष्ट स्थिति में बहुत कम का निषेचन करता है। कहा भी है:—

मोत्तूण सगमबाहं पढमाइ ठिईइ बहुयरं दव्वं।
सेसं विसेसहीणं जाव उक्कोसं ति सव्वासं।।

अर्थात्—अपना अबाधा काल छोड़कर प्रथम स्थिति में बहुतर द्रव्य को और इसी प्रकार यावत् उत्कृष्ट स्थिति में बहुत कम द्रव्य (कर्मदलिकों) का निषेचन करता है।

जो कर्म उदय में नहीं आये हैं, उन्हें एक प्रकार के विशिष्ट करण द्वारा उदय में ले आना उदीरणा है और उदय में आये हुए कर्मों का फल भोगना वेदना कहलाता है। जीव—प्रदेशों से कर्म पृथक् करना निर्जरा है। स्थिति के परिपक्व होने पर कर्म आत्मप्रदेश से पृथक् होते हैं, वह निर्जरा है और स्थिति पकने से पहले ही कर्मों को पृथक् करना महानिर्जरा है।

संग्रहगाथा में बतलाया गया है कि पहले के तीन पदों में चार—चार भेद, और पीछे के तीन पदों में तीन—तीन भेद करने चाहिएं। सो इसका क्या आशय है? इस भेद का क्या कारण है?

इसका उत्तर यह है कि कृत, चित और उपचित कर्म बहुत समय तक–सत्तर कोड़ाकोड़ी सागरोपम तक ठहरते हैं। अतः इन तीन पदों में तीन काल तक बतलाने के साथ ही साथ, सत्ता रूप काल बताने के लिए सामान्य क्रिया का भी प्रयोग किया जाता है। उदीरणा आदि चिरकाल पर्यन्त नहीं रहते अतएव उनमें सामान्य काल नहीं बतलाया गया है–सिर्फ तीन काल ही बतलाये गये हैं। इसी कारण पहले के तीन पदों के चार–चार और अन्तिम तीन पदों के तीन–तीन भेद किये गये हैं।

मूलपाठ

प्रश्न–जीवाणं भंते! कंखामोहणिज्जं कम्मं वेदेंति?

उत्तर–हंता, गोयमा! वेदेंति।

प्रश्न–कहणं भंते! जीवा कंखामोहणिज्जं कम्मं वेदेंति?

उत्तर–गोयमा! तेहिं तेहिं कारणेहिं संकिया, कंखिया, वितिगिंछिया, भेद समावण्णा, कलुसमावण्णाः एवं खलु जीवा कंखामोहणिज्जं कम्मं वेदेंति।

प्रश्न–से णूणं भंते! तमेव सच्चं णीसंकं जं जिणेहिं पवेइयं?

उत्तर–हंता, गोयमा! तमेव सच्चं णीसंकं जं जिणेहिं पवेइयं।

प्रश्न–से णूणं भंते! एवं मणं धारेमाणे, एवं पकरेमाणे, एवं चिट्ठेमाणे, एवं संवरेमाणे आणाए आराहए भवति?

उत्तर–हंता गोयमा! एवं मणं धारेमाणे जाव–भवति।

संस्कृत–छाया

प्रश्न–जीवा भगवन्! कांक्षामोहनीय कर्म वेदयन्ति?

उत्तर–हन्त गौतम! वेदयन्ति।

प्रश्न–कथं भगवन्! जीवाः कांक्षामोहनीय कर्म वेदयन्ति।

उत्तर–गौतम! तैस्तैः कारणैः शंकिताः कांक्षिताः विचिकित्सिताः भेदसमापन्नाः, कालुष्यसमापना एवं खलु जीवा कांक्षामोहनीय कर्म वेदयन्ति।

प्रश्न–तद् नूनं भगवन्! तदेव सत्यं निश्शंकं यज्जिनैः प्रवेदितम्।

उत्तर–हन्त, गौतम! तदेव सत्यं, निश्शंकं यज्जिनैः प्रवेदितम्।

प्रश्न–तद् नूनं भगवन्! एवं मनोधारयन्, एवं प्रकुर्वन्, एवं चेष्टमानः, एवं संवृण्वन् आज्ञाया आराधको–भवति ?

उत्तर–हन्त, गौतम! एवं मनो धारयन् यावत्–भवति।

शब्दार्थ—

प्रश्न—भगवन्! जीव क्या कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन करते हैं?

उत्तर—हां गौतम!, वेदन करते हैं।

प्रश्न—भगवन्! जीव कांक्षामोहनीय कर्म को किस प्रकार वेदते हैं?

उत्तर—हे गौतम! अमुक—अमुक कारणों से शंकायुक्त, कांक्षायुक्त, विचिकित्सायुक्त, भेदसमापन्न और कलुषसमापन्न होकर, इस प्रकार जीव कांक्षामोहनीय कर्म को वेदते हैं।

प्रश्न—भगवन्! क्या वही सत्य और निःशंक है, जो जिन ने निरूपण किया है?

उत्तर—हां, गौतम! वही सत्य और निःशंक है, जो जिनेन्द्र ने निरूपण किया है।

प्रश्न—भगवन्! (वही सत्य और निःशंक है जो जिनों ने निरूपण किया है) इस प्रकार मन में निश्चय करता हुआ, इसी प्रकार आचरण करता हुआ, रहता हुआ, संवर करता हुआ जीव आज्ञा का आराधक होता है?

उत्तर—गौतम! हां, इसी प्रकार मन में निश्चय करता हुआ यावत् आज्ञा का आराधक होता है।

व्याख्यान—श्रीगौतम स्वामी का प्रश्न है कि जीव क्या कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन करता है? इस प्रश्न के उत्तर में भी भगवान ने फरमाया है—हां, गौतम वेदन करता है।

यहां यह शंका की जा सकती है कि यह प्रश्न पहले भी किया गया था, फिर दूसरी बार वही प्रश्न किस प्रयोजन से किया गया है?

इस शंका का उत्तर यह है कि वेदन के कारणों का प्रतिपादन करने के लिए ही यह प्रश्न दोहराया गया है। सूत्र का मुख्य प्रयोजन मोक्ष प्राप्ति है। मोक्ष प्राप्ति में कांक्षा मोहनीय कर्म प्रबल बाधक हैं। इसके हटे बिना मोक्ष तो क्या; मोक्षमार्ग भी प्राप्त नहीं होता। इसलिए मोक्षमार्ग की प्राप्ति के लिए कांक्षा मोहनीय कर्म को हटाना अनिवार्य है। इसका हटना तभी सम्भव है जब उसके कारणों को भलीभांति समझ लिया जाय और उन्हें हटा दिया जाय। जब रोग के कारण हट जाते हैं तो रोग भी हट जाता है, उसी प्रकार कर्म के कारणों को हटा देने से कर्म भी हट जाते हैं।

प्राचीनकाल के वैद्य रोगी की परीक्षा करते समय रोग के कारणों पर विचार करते थे। वे पहले रोग के कारणों को दूर करते थे फिर रोग को हटाने का प्रयत्न करते थे। आजकल ऐसा नहीं देखा जाता। रोग के कारणों पर

प्रायः विचार नहीं किया जाता और रोग को सिर्फ दबा देने की चेष्टा की जाती है। नतीजा यह होता है कि कारण विद्यमान रहने से कुछ ही दिनों में वह रोग फिर उमड़ पड़ता है और उसका दबाना कठिन हो जाता है।

ज्ञानमार्ग में कर्मनाश करने का उपदेश तो सभी देते हैं, लेकिन कर्म का असली कारण क्या है, यह बात बहुत कम लोग जानते हैं। इसीलिए यहां कर्म के कारणों पर प्रकाश डालने के लिये यह प्रश्न किया गया है। इस कथन में पुनरुक्ति की आशंका नहीं की जा सकती। कहा भी है:–

पुव्वभणियं पि पच्छा जं भण्णइ तत्थ कारणं अत्थि।
पडिसेहो य अणुण्णा हउडविसेसोवलंभो त्ति।।

अर्थात्–एक बार कही हुई बात को फिर कहने के कारण यह हैं–प्रतिषेध, अनुज्ञा और एक प्रकार के हेतु का कथन। तात्पर्य यह है कि पहले कही हुई बात का प्रतिषेध करने के लिए पहले की बात में अनुमति देने के लिए और पूर्वोक्त बात में कोई विशेष हेतु देने के लिए उस बात को दोहराया जाता है। ऐसी जगह पुनरुक्ति दोष नहीं होता।

इसके अनन्तर गौतम स्वामी हेतु पूछते हैं–भगवन्! जीव किन–किन कारणों से कांक्षा मोहनीय कर्म वेदते हैं?

भगवान ने उत्तर दिया–गौतम! वीतराग जिन भगवान की वाणी में देशतः या सम्पूर्णतः अर्थात् एक देश से या सर्व देश से सन्देह करना, कांक्षा करना अर्थात् वीतराग दर्शन को छोड़कर रागी प्रणीत दर्शन को स्वीकार करने की इच्छा करना या कुतीर्थिक का परिचय होने से मन में शंका करना, फल में शंका करना, बुद्धिभ्रम होना, इस प्रकार विद्वत्प्रसिद्ध कारणों से कांक्षा मोहनीय कर्म का वेदन होता है।

यहां 'तेहिं तेहिं कारणेहिं' इत्यादि वाक्यों में 'तेहिं–तेहिं पद का प्रयोग दो बार क्यों किया है? इसका उत्तर यह है कि जब विशेष कारण बतलाना हो, बहुत बातों का विचार करना हो, जब जैसे 'वे वे' ऐसा कहा जाता है। उसी प्रकार यहां 'तेहिं तेहिं' दो बार कहा है।

यहां शंकित, कांक्षित आदि पदों पर किंचित् स्पष्टीकरण करना आवश्यक प्रतीत होता है।

वीतराग भगवान ने अपने अनन्त केवल ज्ञान में जानकर जिन तत्वों का निरूपण किया है, उन तत्वों पर या उनमें से किसी भी एक पर शंका करना–कौन जाने यह ठीक है या नहीं इस प्रकार का संदेह करना शंका है।

एक देश या सर्व देश से अन्य दर्शन को ग्रहण करने की इच्छा करना कांक्षा है। यह भी कांक्षा मोहनीय के वेदन का कारण है।

फल के विषय में संशय होना विचिकित्सा है। जैसे– मैं इतनी तपस्या करता हूं, ब्रह्मचर्य आदि पालता हूं, लेकिन अभी तक तो कुछ फल नहीं मिला है, कौन जाने आगे मिलेगा या नहीं?

बुद्धि में द्वैधीभाव उत्पन्न हो जाना भेदसमापन्नता है। जैसे–जिन शासन यह है, या वह है? इस प्रकार जिन शासन के विषय में जिसकी बुद्धि भेद को प्राप्त हो रही है, वह भेद समापन्न कहलाता है। अथवा अनध्यवसाय वाले को भेद समापन्न कहते हैं। अनिश्चित ज्ञान अनध्यवसाय कहलाता है। अथवा पहले शंका अथवा कांक्षा उत्पन्न हुई, इसलिए उसके कारण बुद्धि में विभ्रम पैदा हो गया अतएव भेद समापन्न का अर्थ है–भ्रान्तबुद्धि वाला।

विपरीत बुद्धि वाला कलुष समापन्न कहलाता है। जो वस्तु जिन भगवान् ने जैसी प्रकट की है, उसे उसी रूप में निश्चय न करके विपरीत रूप में समझना कलुष समापन्नता है।

भगवान फरमाते हैं–हे गौतम! इन कारणों से जीव निश्चय ही कांक्षा मोहनीय कर्म का वेदन करते हैं।

कांक्षा मोहनीय कर्म वेदने के कारण स्पष्ट होने के पश्चात् गौतम स्वामी उसे हटाने का कारण पूछते हैं। कभी–कभी ऐसी परिस्थिति उपस्थित हो जाती है, कि विचारवान पुरुषों का अभाव हो जाता है। अथवा उनकी संगति मिलना कठिन हो जाता है। कभी–कभी मनुष्य पक्षपात के गंठीले जाल में फंस जाता है। उस समय बुद्धि अगर हो भी तो वह विपरीत दिशा की ओर ले जाती है। किसी में इतनी बुद्धि ही नहीं होती कि किसी बात पर गंभीरता के साथ विचार करके वह निर्णय कर सके। अतएव तार्किकों की तर्कतरंगों में बहना स्वाभाविक हो जाता है। इन अनेकविध अन्तरायों की विद्यमानता में क्या उपाय है? जिसका अवलम्बन करके कांक्षामोहनीय कर्म से जीव बच सकता है? इस संबंध में किसी ने कहा है–

तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना नैको मुनिर्यस्य वचः प्रमाणं।
धर्मस्य तत्वं निहितं गुहायां, महाजनो येन गतः स पन्था।।

तर्क–जल की तरल तरंगों की तरह चपल है। तर्क वितर्क और वाद–विवाद के द्वारा धर्म की खोज करने से पहले यह देख लेना चाहिए कि तर्क किसी अभ्रान्त निर्णय की प्रामाणिक कसौटी है या नहीं? तर्क की भूमिका पर खड़ा हुआ विश्वास या निर्णय बालू की नींव पर खड़े हुए प्रासाद के समान

तो नहीं है? जो दूसरे प्रबलतर तर्क की आंधी के एक ही झकोरे में भूमिसात् हो सकता है? तर्क वास्तव में मस्तिस्क का कायल है। तर्क हृदय की, आत्मा की खुराक नहीं है। तर्क मनुष्य को भुलावे में से निकाल नहीं सकता, प्रत्युत भुलावे में डालता है। तर्क के चक्कर में पड़ा हुआ मनुष्य दिङ्मूढ बन जाता है। शुष्क तर्क करने वाले, किसी एक निर्णय पर पहुंचने के लिए तर्क नहीं करते, किन्तु दूसरों को दबाने के लिए ही तर्क करते हैं। तर्क से धर्म की सिद्धि नहीं होती। तर्क जाल से वस्तु भी अवस्तु सिद्ध करके दिखाई जाती है।

अगर तर्क को त्याग कर वेद पर विश्वास किया जाय तो भी गति नहीं है। वेद पर विश्वास करने से द्वैत, अद्वैत, मांसभक्षण की कर्त्तव्यता, अकर्त्तव्यता, हिंसा, अहिंसा आदि की उलझनें आ पड़ती हैं। अगर वेद का अर्थ–व्याख्यान करने वाले ऋषि की शरण कहा जाय तब भी कोई ठिकाना नहीं। ऋषि एक नहीं, अनेक हैं और हुए हैं। उनके कथन आपस में विरोधी हैं। तब किस पर श्रद्धा करना चाहिए? आत्मकल्याण के लिए किस पथ का अनुसरण करना चाहिए? इस प्रश्न का उत्तर पूर्वोक्त श्लोक में यह दिया गया है कि जिस मार्ग से 'महाजन' गये हैं, उसी मार्ग पर चलना चाहिए–वही सच्चा मार्ग है। मगर इस उत्तर पर भी यह प्रश्न उपस्थित होता है कि 'आखिर 'महाजन' कौन है?

'महाजन कौन है? इस विषय पर स्वर्गीय तिलक और श्रीभांडारकर में वाद–विवाद छिड़ गया था। साथ ही यह भी विचारणीय था कि महाजन का मार्ग कौन–सा है? भांडारकर कहते थे – जिस मार्ग को बहुजन समाज माने, वह महाजन का मार्ग है। तिलक ने कहा–यह ठीक नहीं। ऐसा मानने से पहले यह देखना चाहिए कि बहुजन समाज सत्य बोलता है या असत्य ? बहुजनसमाज मांसाहारी है या मांसाहारत्यागी? बहुजनसमाज में असत्यवादी और मांसाहारी ही अधिक संख्या में पाये जायेंगे, तो क्या उन्हें महाजन और उनके मार्ग को धर्म का मार्ग मानना चाहिए? क्या हमें भी उन्हीं का साथ देना चाहिए? ऐसा करना उचित नहीं है। यह तो बुद्धि को धोखा देना है। अतएव महाजन किसी व्यक्ति विशेष को ही समझना चाहिए। मगर वह व्यक्ति विशेष कौन है, जिसे महाजन के सिंहासन पर आसीन किया जाय? अगर ब्रह्मा को महाजन समझा जाय, तो उनका सिर कटने और तिलोत्तमा पर मोहित होने आदि का चरित्र भंयकर है, जिसे अपनाने पर हम लोग भी डूब जाएंगे। अगर विष्णु को महाजन मानें तो भी दिक्कत है। विष्णु–पुराण के रचयिताओं ने उनकी रासलीला और गोपक्रीड़ा का जो मोहक वर्णन किया है, उसे अपनाने

पर हम लोग डूब जाएंगे। शिवजी और पार्वती में ऐसी लड़ाई हुई कि जैसी मामूली घरों में भी नहीं होती। उन्हें महाजन कैसे माना जाय? उनका अनुकरण किस प्रकार किया जाय? फिर महाजन का निर्णय कैसे किया जाय। चाहे उक्त पौराणिक वर्णन अलंकारिक ही हो, लेकिन बाल जीवों को समझने के लिए यह महापुरुष नहीं ठहरते।

अन्त में तिलक ने अपनी—अपनी मति को ही आधार मान कर छोड़ दिया कि जो मार्ग लोक और आत्मा के विरुद्ध न हो वही महाजन का मार्ग है। मगर तिलकजी का यह निर्णय भी पूर्ण और अभ्रान्त नहीं कहा जा सकता। क्योंकि अधिकांश लोगों की मति ऐसी नहीं होती, जो विरुद्ध, अविरुद्ध को भलीभांति समझ सके। उन्हें कोई मार्ग बतलाने वाला चाहिए, जो उनसे कहे कि इस मार्ग पर चलो। अन्ततोगत्वा धर्म की स्थिति विश्वास में है। मगर विश्वास किस पर करना चाहिए? यही बात श्रीगौतम स्वामी ने भगवान् से पूछी है।

गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवन्! क्या वही बात सत्य समझनी चाहिए, जो जिन के द्वारा प्ररूपित की गई हो?

जैसे ब्रह्मा, विष्णु आदि व्यक्तिवाचक नाम हैं, उस प्रकार 'जिन' यह किसी व्यवित्त का नाम नहीं है। 'जिन' एक पदवी है। जिसने प्रकृष्ट साधना के द्वारा अनादिकालीन राग—द्वेष आदि समस्त आत्मिक विकारों पर विजय प्राप्त कर ली हो, वे महापुरुष 'जिन' कहलाते है, फिर भले ही उसका नाम कुछ भी क्यों न हो? जिसने राग द्वेष ओर अज्ञान से अपने आत्मा को पृथक् कर लिया है, उनके वचनों में संदेह करने की गुंजाइश नहीं है। जिन द्वारा उपदिष्ट धर्म जैनधर्म कहलाता है। जैनधर्म किसी झगड़े का नाम नहीं है। विजय पर आ जाना ही जैनत्व है। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है :—

माणस्सं विग्गहं लद्धुं; सुइ धम्मस्स दुल्लहा।।
जं सुच्चापडिवज्जन्ति, तवं खन्तिमहिंसयं।।

—उत्त० 3 गाथा 8

जिन शास्त्रों से तप, क्षमा और अहिंसा की भावना जागृत हो, वही वीतराग का कहा हुआ शास्त्र है। जिन शास्त्रों में इन उच्चतम भावनाओं के प्रति प्रेरणा है, उन्हें निस्संशय मान लेना चाहिए। वही जिन—वचन हैं। इस पंचम काल के पुरुष के लिए जिन वचन ही एक मात्र आधार हैं। उनमें संशय करना आत्मा का घात करना है। जिन भगवान के वचनों में संदेह करने का कोई कारण भी नही है। क्योंकि राग—द्वेष और अज्ञान ही मिथ्याभाषण के

कारण हैं और जहां इन दोषों का सर्वथा अभाव है, वहां कोई असत्य भाषण कर ही कैसे सकता है?

धर्म में, बुद्धिवाद को अलग रख देने की आवश्यकता है। बुद्धिगम्य विषय ही बुद्धि द्वारा विचारणीय हो सकते हैं। जो विषय सूक्ष्म–अतिसूक्ष्म हैं और जो चिरकालीन तपस्या–जन्य अनुभूति के द्वारा ही गम्य हो सकते हैं, उनमें बुद्धि भिड़ाने का परिणाम विपरीत ही हो सकता है।

सारांश यह है कि जिसमें राग–द्वेष नहीं है, वह चाहे चाण्डाल कुल में ही क्यों न जन्मा हो, जैसे हरिकेश मुनि तब भी उसकी बात मान्य है। इसके विपरीत जो रागी और द्वेषी हैं, वह भले ही राजकुल में जन्मा हो, उसका वचन प्रामाणिक नहीं है। यही जैनधर्म का रहस्य है। इसे ठीक–ठीक समझ लेने पर धर्म विषयक कोई झगड़ा नहीं रहता।

गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने फरमाया– हां गौतम! वही बात सत्य और संशयरहित है जो 'जिन' की कही हुई है।

इसके पश्चात् गौतम स्वामी पूछते हैं–भगवन्! निश्चय पूर्वक ऐसी श्रद्धा करने से 'जिन' की कही हुई बात सत्य और संशयरहित है, तथा यही बात हृदय में स्थिर करने से, इसी प्रकार की क्रिया करने से, किसी के पूछने पर ऐसा ही कहने से, अन्यथा न कहने से, मन में भी जिन भगवान् के वचनों को ही सत्य समझने से और अन्यथा न समझने से, तथा जिन वचन के अनुसार प्राणातिपात, असत्य, चोरी आदि से मन को हटा लेने से क्या ज्ञान, दर्शन और चरित्र के सेवन रूप जिन की आज्ञा का आराधक होता है? क्या वह जिन भगवान् की आज्ञा का पालन करने वाला है?

भगवान् ने उत्तर दिया–हां गौतम! जो जीव ऐसा करता है, वह जिन की आज्ञा का आराधक है।

इस जगह इस बात पर विशेष भार दिया गया है कि धर्म का पालन हृदय से करो। कोरे बुद्धिवाद से आत्मा का विकास नहीं होता। अतएव किसी के वचन मानने से पहले वक्ता की परीक्षा करनी चाहिए। सत्य वक्ता वही हो सकता है जिसने राग–द्वेष को जीत लिया हो। इसलिए उपदेश ग्रहण करने से पहले उपदेशक को इस कसौटी पर कस लेना चाहिए। परीक्षा किया हुआ सत्य वक्ता जो उपदेश देगा, उसके उपदेश से धोखा नहीं होता। इस पांचवें आरे में आगे चलकर ज्ञान की और न्यूनता हो जायगी। इस समय किसके वचन पर चलना चाहिए यह निर्णय करने के लिए भगवान् ने यह बतलाया है कि 'जिन' के वचन सत्य हैं और संदेहरहित हैं।

जिन के वचन क्यों सत्य हैं, इस संबंध में पहले कुछ कहा जा चुका है। बात यह है कि मनुष्य का ज्ञान राग–द्वेष आदि कषायों के कारण ही मिथ्या होता है। जितने–जितने अंश में राग–द्वेष क्षीण होते जाते हैं उतने–उतने अंशों में ज्ञान में निर्मलता आती जाती है। जब कषाय पूर्ण रूप से क्षीण हो जाते हैं तब ज्ञान में पूर्ण निर्मलता आ जाती है और अज्ञान का नाश होने पर ज्ञान अनन्त हो जाता है। यहां मनुष्यों की ऐसी स्थिति है कि इसमें असत्य के लेश की भी सम्भावना नहीं है। अतएव जो वस्तु जैसी है, उसे जिन वैसी ही बतलायेंगे। वास्तविकता के विपरीत बतलाने का कारण राग–द्वेष और अज्ञान है और उन दोषों को जिन दूर कर चुके हैं, या यों कहिए कि जो इन्हें दूर कर देता है वही जिन कहलाता है। इस कारण जिन वही बात कहेंगे जो सत्य हो। व्यवहार में भी ईमानदार की बात मानी जाती है, बेईमान की नहीं मानी जाती। यही बात लोकोत्तर नियमों में भी समझ लेनी चाहिए।

अस्तित्व और नास्तित्व

प्रश्न–से णूणं भंते! अत्थित्तं अत्थित्ते परिणमइ, नत्थित्तं णत्थित्ते परिणमइ?

उत्तर–हंता, गोयमा! जाव परिणमइ।

प्रश्न–जं तं भंते! अत्थित्तं अत्थित्ते परिणमइ, णत्थित्तं नत्थित्ते परिणमइ, तं किं पओगसा, वीससा?

उत्तर–गोयमा! पओगसा वि तं, वीससा वि तं।

प्रश्न–जहा ते भंते! अत्थित्तं अत्थित्ते परिणमइ, तहा ते णत्थित्तं णत्थित्ते परिणमइ, जहा ते णत्थित्तं णत्थित्ते परिणमइ तहा ते अत्थित्तं अत्थित्ते परिणमइ?

उत्तर–हंता, गोयमा! जहा मे अत्थित्तं अत्थित्ते परिणमइ, तहा मे णत्थित्तं णत्थित्ते परिणमइ? जहा मे णत्थित्तं णत्थित्ते परणिमइ, तहा मे अत्थित्तं अत्थित्ते परिणमइ।

प्रश्न–से णूणं भंते! अत्थित्तं अत्थित्ते गमणिज्जं?

उत्तर–जहा 'परिणमइ' दो अलावगा, तहा ते इह गमणिज्जेण वि दो अलावगा भाणिअव्वा। जाव–जहा मे अत्थित्तं अत्थित्ते गमणिज्जं।

प्रश्न–जहा ते भंते! एत्थं गमणिज्जं तहा ते इहं गमणिज्जं, जहा ते इहं गमणिज्जं तहा ते एत्थं गमणिज्जं?

उत्तर–हंता, गोयमा! जहा मे एत्थं गमणिज्जं जाव–तहा मे एत्थं गमणिज्जं।

संस्कृत छाया–

प्रश्न–तद् नूनं भगवन्! अस्तित्वम् अस्तित्वे परिणमति, नास्तित्वं नास्तित्वे परिणमति?

उत्तर–हन्त, गौतम! यावत् परिणमति।

प्रश्न–यत्–तद् भगवन्! अस्तित्वम् अस्तित्वे परिणमति, नास्तित्वं नास्तित्वे परिणमति, तत् किं प्रयोगेण विस्रसया?

उत्तर–गौतम! प्रयोगेणपि तत्, विस्रसयाऽपि तत्।

प्रश्न–यथा ते भगवन्! अस्तित्वम् अस्तित्वे परिणमति, तथा ते नास्तित्वं नास्तित्वे परिणमति? यथा ते नास्तित्वं नास्तित्वे परिणमति, तथा ते अस्तित्वम् अस्तित्वे परिणमति?

उत्तर–हन्त, गौतम! यथा मे अस्तित्वमस्तित्वे परिणमति, तथा मे नास्तित्वं नास्तित्वे परिणमति; यथा मे नास्तित्वं नास्तित्वे परणमति, तथा मे अस्तित्वमस्तित्वे परिणमति।

प्रश्न–तद् नूनं! अस्तित्वमस्तित्वे गमनीयम्?

उत्तर–यथा 'परिणमति' द्वौ आलाप कौ, तथा ते इह गमनीयेनापि द्वौ आलापकौ भणितव्यौ। यावत्–यथा मेऽस्तित्वेमस्तित्वे गमनीयम्।

प्रश्न–यथा ते भगवन्! अत्र गमनीयं तथा ते इह गमनीयम्, यथा ते इह गमनीयं तथा तेऽत्र गमनीयम्?

उत्तर–हन्त, गौतम! यथा मेऽत्र गमनीयं, यावत् तथा मेऽत्र गमनीयम्।

शब्दार्थ–

प्रश्न–भगवन्! अस्तित्व अस्तित्व में परिणत होता है, नास्तित्व नास्तित्व में परिणत होता है?

उत्तर–गौतम! हां, इसी प्रकार यावत् परिणत होता है।

प्रश्न–भगवन्! वह जो अस्तित्व अस्तित्व में परिणत होता है और नास्तित्व नास्तित्व में परिणत होता है, सो वह क्या प्रयोग से–जीव के व्यापार से–या स्वभाव से परिणत होता है?

उत्तर–हे गौतम! वह प्रयोग से और स्वभाव से–दोनों तरह से परिणत होता है।

प्रश्न–भगवन्! जैसे आपके मत से अस्तित्व अस्तित्व में परिणत होता है, उसी प्रकार नास्तित्व नास्तित्व में परिणत होता है? और जैसे आपके मत से नास्तित्व नास्तित्व में परिणित होता है, उसी प्रकार अस्तित्व अस्तित्द मे परिणित होता है?

उत्तर–गौतम! हां, जैसे मेरे मत से अस्तित्व अस्तित्व मे परिणत होता है उसी प्रकार नास्तित्व नास्तित्व में परिणत होता है। और मेरे मत से जैसे नास्तित्व नास्तित्व मे परिणत होता है, उसी प्रकार अस्तित्व अस्तित्व में परिणत होता है।

प्रश्न–भगवन्! अस्तित्व अस्तित्व में गमनीय है?

उत्तर–गौतम! जैसे परिणत होता है, इस पद के आलापक कहे हैं, उसी प्रकार यहां 'गमनीय' पद के साथ भी दो आलापक कहने चाहिए, यावत्–जैसे मेरा अस्तित्व अस्तित्व में गमनीय है।

प्रश्न–भगवन्! जैसे आपके मत में यहां (स्वात्मा में) गमनीय है, उसी प्रकार इह (परमात्मा में) गमनीय है? जैसे आपके मत में "इह गमनीय" हैं, उसी प्रकार यहां गमनीय है?

उत्तर– हां गौतम! जैसे मेरे मत में यहां गमनीय है, यावत् उसी प्रकार यहां गमनीय है।

व्याख्यान–

वस्तु का विद्यमान होना अस्तित्व कहलाता है और विद्यमान न होना नास्तित्व कहलाता है। गौतम स्वामी प्रश्न करते हैं कि जो वस्तु है वह अपने अस्तित्व में और जो वस्तु नहीं है वह अपने नास्तित्व में परिणत होती है?

उंगली का उंगली के रूप में होना, यह अस्तित्व है। उंगली का अस्तित्व कहने मात्र के लिये नहीं है, किन्तु उंगली की लम्बाई, चौड़ाई आदि पर्यायें भी वैसी ही हैं। उंगली का स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव रूप में परिणत होना अस्तित्व का अस्तित्व रूप में परिणत होना कहलाता है। जिसका अस्तित्व है वही स्वकीय द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव रूप में परिणत होता है।

तात्पर्य यह कि उंगली आदि कोई भी वस्तु, जिसका अस्तित्व है वह अपने पर्याय से भिन्न नहीं है, यानि पर्याय होने पर भी अस्तित्व अस्तित्व रूप में ही है। उंगली अस्तित्व है, इसीलिए चाहे वह सीधी हो या टेढ़ी हो, अपने पर्याय–अस्तित्व रूप में ही परिणत होती है। सीधी होना या टेढ़ी होना उंगली का ही धर्म है। सीधी रहे तब भी उंगली है और टेढ़ी हो तब ही उंगली है। अतएव अस्तित्त्व, अस्तित्व रूप में ही परिणमन करता है।

जिस वस्तु में अस्तित्व है–जो सत् है, उसका रूपान्तर भले ही हो जाय अर्थात् यह एक रूप से पलट कर दूसरे रूप में भले ही पहुंच जाय, मगर वह रहेगी सद्रूप ही। सत्ता, कभी असत्ता नहीं बन सकती। सत्ता का विनाश होना त्रिकाल में भी सम्भव नहीं है। उदाहरण के लिए मिट्टी को लीजिये। वह पहले बिखरी हुई और सूखी थी। उसमें पानी डाला गया तब यह गीली हो गई। उसका एक पिंड बन गया। इतना परिवर्तन होने पर भी मिट्टी, मिट्टी ही रही। उसकी सत्ता ज्यों की त्यों अक्षुण्ण है। इसके अनन्तर कुम्हार ने उस

मिट्टी के पिंड को चाक पर चढ़ाया और असका घड़ा बना लिया। तब भी मिट्टी तो कायम ही रही। मिट्टी के एक रूप में उसकी सत्ता अखण्ड है। इस प्रकार अस्तित्व, अस्तित्व रूप में ही परिणत होता है। अर्थात् सत् पदार्थ के जितने भी परिणमन होंगे वह सब सत् स्वरूप ही होंगे। सत्ता त्रिकाल और त्रिलोक में कभी असत्ता नहीं बनेगी।

पदार्थ में अस्तित्व और नास्तित्व, दोनों धर्म विभिन्न अपेक्षाओं से विद्यमान है। यद्यपि दोनों धर्म परस्पर विरोधी से प्रतीत होते हैं और साधारणतया ऐसा मालूम होता है कि जहां अस्तित्व है वहां नास्तित्व कैसे रह सकता है? और जहां नास्तित्व है, वहां अस्तित्व किस भांति रहेगा? लेकिन इन दोनों धर्मो में विरोध नहीं है। यही नहीं, वरन् साहचर्य संबंध है। जहां अस्तित्व है वहां नास्तित्व, और जहां नास्तित्व है–वहां अस्तित्व अवश्य होगा। एक के बिना दूसरा रह नहीं सकता। मगर यहां अपेक्षाभेद का ध्यान अवश्य रखना चाहिए। तात्पर्य यह है कि एक ही अपेक्षा से अगर अस्तित्व और नास्तित्व–दोनों एक पदार्थ में स्वीकार किये जाएं तो विरोध आता है, मगर अलग–अलग अपेक्षाओं से दोनों का एक ही पदार्थ में अस्तित्व मानना विरुद्ध नहीं है। उदाहरण के लिए वस्त्र को ही लीजिए। वस्त्र में अपने स्वरूप की अपेक्षा अस्तित्व है, पररूप की अपेक्षा नास्तित्व है। अर्थात् वस्त्र, वस्त्र है, चश्मा, घड़ा या घड़ी आदि नहीं है। इस प्रकार वस्त्र में जहां अस्तित्व है–नास्तित्व भी है। अगर वस्त्र में पररूप से नास्तित्व न माना जाय तो वस्त्र पररूप भी हो जायगा अर्थात् चश्मा, घड़ा, घड़ी आदि भी–कहलायेगा। इस प्रकार प्रतिनियत पदार्थो की व्यवस्था होना असम्भव हो जायेगा। अतएव विवक्षाभेद से प्रत्येक पदार्थ में अस्तित्व और नास्तित्व दोनों स्वीकार करने चाहिएं।

यहां यह प्रश्न किया जा सकता है कि अस्तित्व, अस्तित्व रूप में ही परिणत होता है और नास्तित्व, नास्तित्व रूप में ही परिणत होता है, यह प्रश्न क्यों किये गये हैं? अस्तित्व, अस्तित्व रूप में ही परिणत होता है? यह एक ही प्रश्न क्यों नहीं किया गया?

नहीं है। प्रत्येक वस्तु केवल सत्तामय नहीं है, वरन् सत्ता और असत्तामय है। उंगली, उंगली है अंगूठा नहीं है। उंगली यदि उंगली रूप में अस्ति है तो अंगूठा रूप में नास्ति है। इसका यह अर्थ नहीं है कि अंगूठा स्वयं अंगूठे के रूप में नास्ति है। जो है वही है, वह अन्य वस्तु रूप नहीं है। ऐसा न माना जाय तो जगत् में पदार्थों की जो विचित्रता दृष्टिगोचर होती है, विभिन्न पदार्थों के विभिन्न नाम और रूप जो स्पष्ट दिखलाई देते हैं और उन पदार्थो से जो स्वानुभव–प्रमाण–सिद्ध पृथक्–पृथक् व्यवहार होते हैं, वह सब मटियामेट हो जाएंगे। अतएव यही मानना अनुभव और युक्ति से अनुकूल है कि प्रत्येक पदार्थ में स्वविषयक अस्तित्व के साथ पर विषयक नास्तित्व भी विद्यमान है।

एकान्त नास्तित्व मानने से पदार्थो की अनुभवसिद्ध सत्ता ही भंग हो जाती है, अतएव एकान्त अस्तित्व की भांति एकान्त नास्तित्व भी पदार्थों में नहीं माना जा सकता। ऐसी दशा में अस्तित्व और नास्तित्व दोनों ही पदार्थ में मानना उचित है और इसी अभिप्राय से यहां अस्तित्व और नास्तित्व दोनों के विषय में प्रश्न किये गये हैं।

यह जैन दर्शन का सिद्धान्त है। इस विषय में गीता का कथन है–

नासतो विद्यते भावो, नाभावो विघते सतः। गीता–2/16

अर्थात्–तत्वदर्शियों ने यह बात अन्त तक देख ली है कि जो सत् है, विद्यमान है, यह कभी असत्–अविद्यमान रूप नहीं हो सकता। अर्थात् अस्तित्व सदैव अस्तित्व रहता है, और जो असत्–नास्तिरूप है वह कभी सत् नहीं हो सकता। अर्थात् नास्तित्व सदा नास्तित्व रूप से ही परिणत होता है।

जिसका अस्तित्व है, उस वस्तु का अत्यन्त विनाश कभी नहीं हो सकता। उसकी पर्याय मात्र बदलती है–रूपान्तरण होता है। पर्याय बदल जाने को ही लोग विनाश होना कहते हैं, लेकिन ज्ञानी जनों ने यह देखा है कि जिस का अस्तित्व है उसका विनाश नहीं है। आज जो पुद्गल वस्त्र रूप में है, वह पहले सूत के रूप में था, उससे भी पहले रुई, कपास, पौधा और बीज–मिट्टी आदि के रूप में था। वह जिस किसी भी रूप में था, पर पुद्गल रूप मे उसकी सत्ता विद्यमान ही थी। शून्य से कभी कोई वस्तु नहीं बनती। सत् पदार्थ का ही रूपान्तर होता रहता है। अतएव रूपान्तर चाहे होता रहे, मगर वस्तु का समूल नाश कभी नहीं होता। वस्त्र को फाड़ कर चिंदी–चिंदी कर दिया जाय और उसे पृथ्वी में भी गाड़ दिया जाय तो भी वह समूल नष्ट

न होगा। वस्त्र असल में पुद्गल द्रव्य है और किसी भी अवस्था में पुद्गल द्रव्य ही रहेगा। शास्त्रकार विनाश का अर्थ दूसरे रूप में पलट जाना ही मानते हैं अर्थात् नया रूप उत्पन्न होने के साथ पुराने रूप का नष्ट हो जाना ही विनाश कहलाता है। आज तक किसी ने कभी किसी वस्तु को सत् से सर्वथा असत् होते नहीं देखा और इसी प्रकार असत् से सत् होते भी नहीं देखा। वस्तुतः ऐसा होना सम्भव ही नहीं है।

इस जगह टीकाकार ने एक और उदाहरण दिया है। वे कहते हैं—मान लीजिये एक दीपक जल रहा है और उसका उजाला आपको दिखाई दे रहा है। किसी कारण से दीपक बुझ गया। मगर वास्तव में वह प्रकाश अपने मूल रूप में नष्ट नहीं हुआ। प्रकाश का मूल पुद्गल है, प्रकाश पुद्गल की एक अवस्था है। वह प्रकाश पुद्गल अब अपनी पर्याय पलट कर अंधकार के रूप में परिणत हो गया है। अंधकार भी एक प्रकार का पुद्गल ही है। इस प्रकार जो पुद्गल पहले प्रकाश अवस्था में था, वह अब अंधकार अवस्था में आ गया। दोनों अवस्थाओं में पुद्गल द्रव्य वही है।

अंधकार को कुछ लोग अभाव रूप मानते हैं, पर जैन दर्शन में उसे भी पुद्गल रूप ही माना है। जैन न्याय के ग्रंथों में, इस संबंध में विस्तारपूर्वक युक्तिसंगत विवेचन किया गया है।

आधुनिक वैज्ञानिकों ने भी इस विषय पर प्रकाश डालते हुए मोमबत्ती का उदाहरण दिया है। मोमबत्ती के जल जाने पर लोग समझते हैं कि वह नष्ट हो गई, लेकिन वैज्ञानिकों का कथन है कि वह नष्ट नहीं हुई, सिर्फ उसके पुद्गल बिखर गये है। अगर जलती हुई मोमबत्ती के पास खास दो यंत्र रख दिये जावें तो उसके परमाणु उन यंत्रों में एकत्रित हो जाएंगे। उन्हें मिला देने पर फिर मोमबत्ती बन सकती है। इसका आशय यह हुआ कि लोग इस प्रकार रूपान्तर होने को ही नाश होना मानते हैं, लेकिन वस्तु का असली—मूल रूप में कभी नाश नहीं होता।

ऑक्सिजन और हाइड्रोजन नामक दो प्रकार की हवा से पानी बनता है। पानी के न रहने पर आप समझते हैं कि पानी नष्ट हो गया, मगर वह नष्ट नहीं हुआ—दो हवाओं के रूप में ही बिखर गया है। इसी प्रकार दीपक के बुझ जाने पर प्रकाश का समूल नाश नहीं हुआ, किन्तु वह अंधेरे के रूप में परिणत हो गया।

शास्त्रकार कहते हैं कि अत्यन्ताभाव को नास्तित्व समझना चाहिए, जैसे गधे के सींग। जो नास्तित्व है वह अस्तित्व कभी नहीं होगा। असत् की कभी उत्पत्ति नहीं होती, यह बात गीता के उद्धरण से भी बतलाई जा चुकी है। जब, जहां, जो भी वस्तु उत्पन्न होती है, शून्य से कभी नहीं होती। सत् से ही सत् का उत्पादन होता है।

अस्तित्व, अस्तित्व में और नास्तित्व नास्तित्व में परिणत होता है, यह निर्णय हो जाने के पश्चात् गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवन्! अस्तित्व अस्तित्व में और नास्तित्व नास्तित्व में परिणत होता है, सो स्वभाव से परिणत होता है या प्रयोग से? अर्थात् जीव के व्यापार से? इस प्रश्न का उत्तर भगवान् ने यह फरमाया है कि—दोनों प्रकार से परिणत होता है।

प्रयोग का अर्थ है व्यापार—जीव का व्यापार। जीव के व्यापार से भी अस्तित्व, अस्तित्व रूप में परिणत होता है। जैसे कुम्हार के व्यापार से मिट्टी के पिंड का घट रूप में परिणत होना। अथवा जैसे मनुष्य की क्रिया से सीधी उंगली का टेढ़ी हो जाना। यह अस्तित्व का अस्तित्व में परिणमन प्रयोग से हुआ। इसी प्रकार जीव के व्यापार के बिना भी अस्तित्व अस्तित्व में परिणत होता है। जैसे सफेद बादलों का काला हो जाना। इस परिणमन में किसी जीव के व्यापार की आवश्यकता नहीं है।

इसी प्रकार नास्तित्व का नास्तित्व रूप में परिणमन भी प्रयोग से और स्वभाव से होता है। उंगली आदि का अंगूठा आदि रूप में न होना नास्तित्व कहलाता है। अर्थात् उंगली की अपेक्षा अंगूठे का अस्तित्व ही नास्तित्व है। यह अंगूठा रूप नास्तित्व उंगली आदि के नास्तित्व में—अंगूठा वगैरह के पर्यायान्तर अस्तित्व में परिणत होता है। उदाहरणार्थ—मिट्टी का नास्तित्व, तंतु आदि रूप है और वह पर में विद्यमान है।

इस कथन का आशय यह नहीं समझना चाहिए कि स्वभाव से या प्रयोग से नास्तित्व, अस्तित्व रूप में परिणत होता है और न यही आशय समझना चाहिए कि अमुक परिणमन स्वभाव से ही होता है और अमुक परिणमन प्रयोग से ही होता है।

अब गौतम स्वामी प्रश्न करते हैं कि—भगवन्! सामान्य रूप से तो पदार्थ जैसे हैं, वैसे ही रहते हैं, लेकिन कभी अतिशयवान्—प्रबल—कारण मिल जाने से अन्यथा प्रकार के भी हो जाते हैं। जैसे—अतिशायी के प्रताप से अग्नि

का शीतल होना और विष का अमृत हो जाना। तो क्या प्रत्येक अवस्था में अस्तित्व अस्तित्व रूप और नास्तित्व नास्तित्व रूप ही रहता है या सबल कारण मिल जाने पर अन्यथा परिणमन भी हो जाता है?

इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने फरमाया—गौतम! ऐसा नहीं हो सकता। चाहे जितना प्रबल कारण क्यों न हो, मगर जैसे अस्तित्व अस्तित्व रूप में परिणत होता है, उसी प्रकार नास्तित्व नास्तित्व रूप में परिणत होता है। और जैसे नास्तित्व नास्तित्व रूप में परिणत होता है उसी प्रकार अस्तित्व अस्तित्व रूप में परिणत होता है।

गौतम स्वामी के प्रश्न का आशय यह है कि अतिशय शक्तिसम्पन्न कारण के प्रभाव से विचित्र कार्य उत्पन्न होता है, जैसे अग्नि में शीतलता का उत्पन्न हो जाना। अग्नि में शीतलता का अस्तित्व नहीं है फिर भी वह शीतल हो गई और उसमें उष्णता का अस्तित्व नहीं रहा। ऐसा देखा जाता है। फिर भी क्या अस्तित्व अस्तित्व रूप में ही परिणत होता है?

इस प्रश्न का जो उत्तर भगवान् ने दिया, उसका आशय यह है कि पदार्थों में जो धर्म है वह उनमें सदा विद्यमान रहता है। प्रत्येक पदार्थ में अनन्त गुण है। यह नहीं समझना चाहिए कि जिस पदार्थ में जो गुण प्रसिद्ध है, उसके सिवा कोई दूसरा गुण उसमें है ही नहीं। अगर ऐसा होता तो अग्नि कदापि शीतल न होती। उदाहरण के लिए, दीपक प्रकाशमय है। वह बुझ जाने पर अंधकार के रूप में परिणत हो गया। यह अस्तित्व का अस्तित्व रूप में परिणमन हुआ। यहां अस्तित्व, नास्तित्व में या नास्तित्व, अस्तित्व में परिणत नहीं हुआ है। जिस प्रकार दीपक का पलटा हुआ, उसी प्रकार आत्मशक्ति के द्वारा भी वस्तु में पलटा हो जाता है—जैसे अग्नि शीतल हो जाती है—लेकिन अस्तित्व का नास्तित्व और नास्तित्व का अस्तित्व कदापि नहीं बन सकता।

गौतम स्वामी पूछते है—भगवन्! ऐसा स्वभाव की अपेक्षा से है या प्रयोग की अपेक्षा से? इसके उत्तर में भगवान ने फरमाया—दोनों की अपेक्षा से अस्तित्व अस्तित्व में और नास्तित्व नास्तित्व में परिणत होता है।

इसके अनन्तर गौतम स्वामी पूछते है—भगवन्! अस्तित्व अस्तित्व में गमनीय है?

इस प्रश्न का आशय यह है कि पहले जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है, वह केवल समझने के लिए ही है या प्ररूपणा के लिए भी है?

गौतम स्वामी के प्रश्न का भगवान् ने उत्तर दिया—हां गौतम! अस्तित्व अस्तित्व में परिणत होता है और नास्तित्व नास्तित्व में परिणत होता

है, यह गमनीय है। अर्थात् प्ररूपणा करने के लिए है। जो वस्तु जैसी है, उसका उसी प्रकार प्ररूपणा करना उचित ही है।

श्री गौतम स्वामी पूछते हैं–हे भगवन्! आप अस्तित्व और नास्तित्व का जैसा स्वरूप देखते हैं, वैसा ही प्ररूपण करते हैं?

यद्यपि गौतम स्वामी को भगवान् के ज्ञान और निरूपण के संबंध में किसी प्रकार की शंका नहीं है, तथापि अन्य लोगों की शंका–निवारण के लिए उन्होंने ऐसा प्रश्न किया है।

भगवान् इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं–हे गौतम! अस्तित्व और नास्तित्व का जैसा स्वरूप मैं देखता हूं, वैसा ही प्ररूपण भी करता हूं। अस्तित्व देखता हूं तो अस्तित्व में परिणमन बतलाता हूं और नास्तित्व देखता हूं तो नास्तित्व में परिणमन बतलाता हूं। जैसा मैं देखता हूं, उससे विरुद्ध नहीं प्ररूपण करता।

इसके अनन्तर गौतम स्वामी इसी प्रश्न को प्रकारान्तर से दोहराते हैं। वस्तु की प्ररूपणा के विषय में समभाव से–बिना किसी भेदभाव के बतलाते हैं, यह जानने के लिए विषय का आधार लेकर प्रश्न करते हैं।

श्री गौतम स्वामी पूछते हैं–भगवन्! आपके वचन सुनने से तृप्ति नहीं होती तथा संसार का प्रतिनिधि बन कर मैं आपसे पूछता हूं कि आप मेरे और दूसरे का भेद न रखकर यह सब समभाव से कहते हैं? आत्मीयजनों पर राग और परायों पर द्वेष न रखकर स्वभाव से प्ररूपणा करते हैं? आप परोपकार–बुद्धि से प्ररूपणा करते हैं या स्व–पर का भेद न करके प्ररूपणा करते हैं? जैसे मुझसे मेरा शिष्य पूछे और मैं प्रेम से बतलाऊँ, उसी प्रकार आप भी मुझे प्रेम से बतलाते हैं। *क्या* पाखंडी और गृहस्थ को भी इसी प्रकार बतलाते हैं ?

यहां 'एत्थ' का अर्थ 'स्वशिष्य' है और 'इहं' का अर्थ है–गृहस्थ तथा पाखंडी आदि।

गौतम स्वामी के प्रश्न का आशय यह है कि जैसे मैं भक्तिपूर्वक आपसे पूछता हूं और आप समभाव पूर्वक कह रहे हैं, उसी प्रकार क्या पाखण्डी से भी कहते हैं? अथवा उसका मान भंग करने के लिए और प्रकार से भी कहते हैं? *अर्थात् सराग होने के कारण जैसे मैं अपने–पराये का भेद* देखता हूं, वैसा भेद आप तो नहीं देखते? संभवतः गौतम स्वामी का यह संकेत गोशालक और जमाली आदि की ओर है।

अथवा–'एत्थ' का अर्थ है–'स्वात्मा' यानि आप अपने स्वात्मा में सुख से जैसा देख रहे हैं, पर आत्मा में भी वैसा ही देखते हैं? आप अपने आत्मा को जैसे सुख प्यारा देखते हैं वैसे ही दूसरे की आत्मा को भी देखते हैं?

अथवा–'एत्थ' और 'इहं' दोनों समानार्थक शब्द हैं और उनका अर्थ है–प्रत्यक्षाधिकरणता। जैसे 'एत्थ' यह 'एतत्' शब्द का रूप है उसी प्रकार 'इह' यह भी 'एतत्' शब्द का ही रूप है। अतः इन दोनों शब्दों का अर्थ समान ही समझना चाहिए। जो वस्तु प्रत्यक्ष हो, उसके लिए 'एतत्' शब्द का प्रयोग होता है। इसीलिए 'एत्थ' और 'इह' दो का अर्थ है–'प्रत्यक्षगम्य'।

कांक्षामोहनीय के बंध आदि के कारण

प्रश्न–जीवा णं भंते! कंखामोहणिज्जं कम्मं बंधंति?

उत्तर–हंता, गोयमा! बंधंति।

प्रश्न–कह णं भंते! जीवा कंखामोहणिज्जं कम्मं बंधंति?

उत्तर–गोयमा! पमादपच्चया, जोगनिमित्तं च।

प्रश्न–से णं भंते! पमाए किंपवहे?

उत्तर–गोयमा! जोगप्पवहे।

प्रश्न–से णं भंते! जोए किंपवहे?

उत्तर–गोयमा! वीरियप्पवहे।

प्रश्न–से णं भंते! वीरिए किंपवहे?

उत्तर–गोयमा! सरीरप्पवहे।

प्रश्न–से णं भंते! सरीरे किंपवहे?

उत्तर–गोयमा! जीवप्पवहे। एवं सति अत्थि उट्ठाणेइ वा, कम्मेइ वा, बलेइ वा, वीरिएइ वा, पुरिसक्कार परिक्कमेइ वा?

संस्कृत–छाया

प्रश्न–जीवा भगवन्! कांक्षामोहनीय कर्म बंधन्ति?

उत्तर–हन्त, गौतम! बंधन्ति।

प्रश्न–कथं भगवन्! जीवा कांक्षामोहनीय कर्म बंधन्ति?

उत्तर–गौतम! प्रमादप्रत्यात् योगनिमित्तं च।

प्रश्न–तत् भगवन्! प्रमाद किंप्रवहः?

उत्तर–गौतम! योगप्रवहः।

प्रश्न–तद् भगवन्! योगः किंप्रवहः।

उत्तर–गौतम! वीर्यप्रवहः।

प्रश्न–तद् भगवन्! वीर्यं किंप्रवहम्?

उत्तर–गौतम! शरीरप्रवहम्।

प्रश्न–तद् भगवन्! शरीर किंप्रवहम्?

उत्तर–गौतम! जीवप्रवहम्। एवं सति अस्ति उत्थाननिमिति वा, कर्मेति वा, बलमिति वा, वीर्यमिति वा, पुरुषकार पराक्रम इति वा।

शब्दार्थ

प्रश्न–भगवन्! जीव कांक्षामोहनीय कर्म बांधते हैं?

उत्तर–गौतम! हां, बांधते हैं।

प्रश्न–भगवन्! जीव कांक्षामोहनीय कर्म किस प्रकार बांधते हैं ?

उत्तर–गौतम! प्रमाद के कारण और योग के निमित्त से।

प्रश्न–भगवन्! प्रमाद किससे उत्पन्न होता है?

उत्तर–गौतम! प्रमाद योग से उत्पन्न होता है।

प्रश्न–भगवन्! योग किससे उत्पन्न होता है?

उत्तर–गौतम! योग वीर्य से उत्पन्न होता है।

प्रश्न–भगवन्! वीर्य किससे उत्पन्न होता है?

उत्तर–गौतम! वीर्य शरीर से उत्पन्न होता है।

प्रश्न–भगवन्! शरीर किससे उत्पन्न होता है?

उत्तर–गौतम! शरीर जीव से उत्पन्न होता है। और ऐसा होने से उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पुरुषकार पराक्रम है।

व्याख्यान

कांक्षामोहनीय कर्म के बंध के विषय में प्रश्नोत्तर हो चुके हैं पर जब बंध होता है तो बंध के कारण भी होने चाहिएं। बिना निमित्त के ही अगर कर्म बंधने लगें तो अव्यवस्था हो जाय। फिर तो सिद्ध जीवों को भी कर्मबंध होने लगेगा और उन्हें संसार में आना पड़ेगा। लेकिन ऐसा नहीं होता। बिना कारण के कर्म का बंध नहीं होता। अतः कारण जानने के लिए गौतम स्वामी पूछते है–भगवन्! जीव कांक्षामोहनीय कर्म बांधता है तो किस कारण से बांधता है? अर्थात् कांक्षामोहनीय कर्म के बंध का कारण क्या है?

इस प्रश्न के उत्तर में भगवान फरमातें हैं–हे गौतम! जीव प्रमाद रूप हेतु से और योग रूप निमित्त से कांक्षामोहनीय कर्म बांधता है।

प्रमाद में मिथ्यात्व, अविरति और कषाय का अन्तर्भाव हो जाता है। जब तक यह कारण विद्यमान है तब तक कर्म का बंध होता ही है।

यहां यह आशंका की जा सकती है कि सातवें गुणस्थान में और उसके आगे के गुणस्थानों में प्रमाद नहीं होता, परन्तु कषाय दसवें गुणस्थान

तक रहता है। ऐसी हालत में कषाय, प्रमाद के अन्तर्गत किस प्रकार हो सकता है? इसका उत्तर यह है कि जहां तक कषाय है, वहां तक प्रायः मोहनीय कर्म का बंध होता ही है। यद्यपि दसवें गुणस्थान में भी छह कर्म का बंध होता है, वहां मोह का बंध नहीं कहा गया है, मगर दसवें गुणस्थान की स्थिति अत्यल्प होने से उसकी गणना यहां नहीं की गई है। इसीलिए जब तक कषाय है तब तक मोहनीय कर्म का बंध है लेकिन दसवें गुणस्थान में बंध सूक्ष्म है। तात्पर्य यह है कि स्थूल प्रमाद छठे गुणस्थान से आगे नहीं रहता, मगर सूक्ष्म प्रमाद दसवें गुणस्थान तक विद्यमान रहता है। अतएव कषाय प्रमाद के अन्तर्गत है। मिथ्यात्व, अविरति और कषाय बंध के कारण हैं और प्रमाद में इन तीनों का समावेश हो जाता है। शास्त्रकारों ने प्रमाद के आठ भेद बतलाये हैं–

पमाओ य मुणिंदेहिं, भणिओ अट्ठमेयओ।
अण्णाणं संसओ चेव, मिच्छानाणं तहेव य।।
रागदोसो मइब्भंसो, धम्मम्मि य अणायरो।
जोग णं दुप्पणिहाणं, अट्ठहा वज्जियव्वओ।।

अर्थात्–अज्ञान, संशय, मिथ्याज्ञान, राग–द्वेष, मतिभ्रंश, धर्म में अनादर–बुद्धि, योग और दुर्ध्यान–ये प्रमाद के आठ भेद हैं। इन्हें त्याग देना चाहिए।

अज्ञानवान् आत्मा धर्म से पतित हो जाता है। इसी प्रकार संशय करने वाला आत्मा भी धर्म से गिर जाता है।

यहां यह तर्क किया जा सकता है कि अगर संशय प्रमाद है और संशय का त्याग करना चाहिए तो गौतम स्वामी भी संशय के कारण प्रमादी और धर्म से च्युत होने चाहिएं? प्रश्न के प्रारम्भ में उनके लिए 'जायसंसए' विशेषण प्रयुक्त हुआ है। अगर गौतम स्वामी का संशय ऐसा नहीं था तो फिर यहां संशय को त्याज्य क्यों बतलाया गया है?

इस तर्क का समाधान यह है कि संशय दो प्रकार का होता है–(1) वस्तुनिर्णयात्मक और (2) अविश्वास रूप। इनमें वस्तुनिर्णयात्मक संशय ज्ञान है, प्रमाद नहीं। अविश्वास रूप संशय मिथ्यात्व का जनक है। उदाहरणार्थ–अंधकार में एक स्तम्भ देखा। उसे देखकर यह स्तम्भ है या पुरुष है, इस बात के निर्णय के लिए जो संशय होता है, वह ईहाज्ञान का एक भेद [illegible] संशय में ही पड़ा रहना, निर्णय न करना और अविश्वास को ही [illegible] उचित नहीं है। इससे आत्मा का नाश होता है।

न संशय मनारुह्य नरो भाद्राणि पश्यति।

अर्थात्–संशय किये बिना किसी भी आत्मा को कल्याण प्राप्ति नहीं होती। जो मनुष्य संशय करके उसका निर्णय करता है, उसी का कल्याण होता है।

केवल संशय में पड़े रहना अपने आपको सब प्रकार की विपत्तियों में डालना है। केवल संशय में पड़े रहने से लोक व्यवहार भी नहीं चल सकता। कल्पना कीजिए, एक साहूकार ने अपनी कन्या का विवाह किया। विवाह के बाद ही कन्या का देहान्त हो गया। जब उस साहूकार की दूसरी कन्या विवाह के योग्य हुई तब वह कहने लगा–अब मैं इस कन्या का विवाह नहीं करूंगा। क्योंकि मेरी पहली कन्या विवाह होते ही मर गई थी। लोग उसे समझाते हैं कि दुनिया में कन्याएं ब्याही जाती हैं। ब्याहने से कोई कन्या नहीं मरती। मगर वह साहूकार नहीं मानता। अब आप बतलाइए इस संशय का क्या इलाज है? ऐसे संशय के चक्कर में पड़ा हुआ मनुष्य अपनी सम्पूर्ण निर्णायक शक्ति खो बैठता है। उसमें उचित–अनुचित का विवेक नहीं रह जाता। इस प्रकार केवल संशय से लोकव्यवहार भी रुक जाता है। यही बात धर्म के लिए कही जा सकती है। संशय ही संशय में पड़े रहना, उसका निर्णय न करना, धर्म और लोकव्यवहार दोनों को ही डुबाने वाला है, अतएव श्रद्धापूर्वक किया जाने वाला संशय हानिकर नहीं प्रत्युत लाभप्रद है, जबकि अश्रद्धापूर्वक किया जाने वाला संशय घोर अनर्थ का कारण है। गौतम स्वामी का संशय श्रद्धापूर्ण था, अश्रद्धामय नहीं।

कोई मनुष्य धर्म की बात कहता है किन्तु सुनने वाले को अगर प्रसन्नता नहीं होती तो समझना चाहिए कि उसे धर्म में रुचि नहीं है। धर्म के प्रति आदर बुद्धि न रखना धर्म का अनादर है। धर्म का कोई विशेष कार्य अपने से न हो सके, यह बात दूसरी है, लेकिन उसके प्रति आदरभाव तो होना ही चाहिए। भक्त तुकाराम ने एक जगह कहा है–

उपदेश भलत्या हातीं, जाल चितीं धरावा।।1।।
नथेजाउपात्रावरीं, कवटी सारी नारले।।2।।
स्त्री पुत्र वंदीजन, नारायण स्मरविती।।3।।
तुकाम्हणे रत्नसार, पर उपकार चिंधीवे।।4।।

अर्थात्–धर्म की बात कोई साधारण आदमी कहे तो भी उसे आदरपूर्वक सुनना चाहिए। जैसे नारियल ऊपर से कठोर होता है, लेकिन भीतर से नरम होने के कारण उसे सब लोग ग्रहण करते हैं, उसी प्रकार कोई नीच व्यक्ति

भी अगर अच्छी बात कहता है तो उसे अग्राह्य नहीं समझना चाहिए। एक कवि ने कहा है:-

उत्तम विद्या लीजिए, यद्यपि नीच पै होय।
पर्‍यो अपावन ठौर में, कंचन तजै न कोय।।

भले ही पुरुष नीच गिना जाता हो, पर यदि उसके पास उत्तम ज्ञान है तो उसे ग्रहण करना ही चाहिए। अपवित्र स्थान में पड़े हुए सोने को कौन छोड़ता है?

अतएव धर्म की बात कहने वाला, चाहे उसका अधिकारी या अनाधिकारी हो, अगर उसकी बात हितावह है तो उसे कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार करना चाहिए। पुरुष को देखकर धर्म का अनादर नहीं करना चाहिए। कोई कसाई भी अहिंसा का उपदेश दे तो उसे मानना चाहिए।

सूयगडांग सूत्र में कहा है—अगर तू चक्रवर्ती भी रहा हो, और तेरे घर की दासी की दासी भी तुझे गिरते देखकर समझावे, तो उसकी बात को ऐसे प्रेम से सुने, जैसे वह बड़ी उपकारिणी है। जंगल में मार्ग बतलाने वाली भीलनी की वात मानी जाती है, इसी प्रकार घर की दासी भी अगर कोई अच्छी बात वतलाती है, तो उसे स्वीकार करना चाहिए।

मन, वचन और काय का असावधानी में वर्त्तना—अशुभ रूप में प्रवृत्त होना भी प्रमाद कहलाता है।

प्रमाद के अन्य भेद सरलता से समझे जा सकते हैं। तात्पर्य यह है कि प्रमाद—गफलत को छोड़कर सावधान बनना चाहिए।

प्रकृत विपय यह है कि प्रमाद के कारण और योग के निमित्त से कांक्षामोहनीय कर्म का बंध होता है। प्रमाद का निरूपण किया जा चुका है। मन वचन और शरीर के व्यापार को योग कहते हैं।

स्पप्ट यह है कि कर्म बंध के पांच कारण हैं—(1) मिथ्यात्व, (2) अविरति (3) प्रमाद (4) कपाय (5) योग। यहां प्रमाद का उल्लेख करके मिथ्यात्व, अविरति और कषाय को उसी के अन्तर्गत कर दिया गया है। और योग का पृथक् उल्लेख है ही। इसी प्रकार बंध के कारणों की संख्या में किसी प्रकार की असंगति नहीं है।

अगर प्रमाद कर्म बंध का कारण है तो प्रमाद कहां से आता है? प्रमाद का कारण क्या है? यह जानने के लिए गौतम स्वामी ने फिर प्रश्न किया है कि—भगवन्! प्रमाद की उत्पति का कारण क्या है? यहां मूल पाठ में 'किंपवहो'

पद आया है। उसके स्थान पर कहीं–कहीं 'किंपमवो' पाठ भी आता है। मगर दोनों का अर्थ एक ही है।

गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में भगवन् फरमाते हैं– हे गौतम! प्रमाद की उत्पति योग से अर्थात् मन, वचन और काय के व्यापार से होती है।

मद आदि आठ दोषों के सेवन से अथवा मिथ्यात्व आदि के सेवन से जो प्रमाद होता है, वह सब मन, वचन और काय के व्यापार से होता है। अतएव प्रमाद की उत्पत्ति मन, वचन और काय के व्यापार से कही गई है।

फिर कारण–परम्परा को समझने के लिए गौतम स्वामी पूछते हैं–भगवन्! योग किससे उत्पन्न होता है? उत्तर में भगवान् फरमाते हैं–हे गौतम! योग वीर्य से उत्पन्न होता है।

अन्तरायकर्म के पांच भेदों में से एक वीर्यान्तराय कर्म भी है। इस वीर्यान्तराय कर्म के क्षय या क्षयोपशम से जो शक्ति उत्पन्न होती है, उसे वीर्य कहते हैं। आत्मा का स्वतन्त्र पराक्रम वीर्य कहलाता है।

किन्हीं–किन्हीं का कथन है कि क्षयोपशमिक भाव से एकान्त सद्‌गुण ही होता है, मगर यह कथन भ्रमपूर्ण है। क्षयोपशम से बाल वीर्य भी उत्पन्न होता है और पंडित वीर्य भी उत्पन्न होता है। बालवीर्य सद्‌गुण नहीं है, अतएव उनका कथन भी समीचीन नहीं है।

वीर्य ज्ञान में भी लगता है और अज्ञान में भी लगता है। अर्थात्–सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञान–दोनों के लिए वीर्य की आवश्यकता है। किसी को मारना हो तब भी वीर्य की आवश्यकता है और किसी की रक्षा करने में भी वीर्य की आवश्यकता है। ऐसी अवस्था में यह नहीं कहा जा सकता कि क्षयोपशमिक भाव एकान्ततः आज्ञा में ही है।

गौतम स्वामी फिर पूछते है–भगवन्! वीर्य किससे उत्पन्न होता है ? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् कहते है– हे गौतम! वीर्य की उत्पत्ति शरीर से होती है। बिना शरीर के वीर्य उत्पन्न नहीं हो सकता।

यहां पर शंका की जा सकती है कि वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से वीर्य उत्पन्न होता है और सिद्ध इस कर्म का क्षय कर चुके है। ऐसी दशा मे सिद्धो को सवीर्य कहना चाहिए या निर्वीर्य?

इस शंका का समाधान यह है कि–वीर्य के दो भेद हैं– सकरण वीर्य और अकरण वीर्य। सिद्ध या केवली भगवान् जानने योग्य सम्पूर्ण पदार्थों को

केवल ज्ञान और केवल दर्शन से जानते और देखते हैं। वीर्य के अभाव में ज्ञान और दर्शन नहीं हो सकते। यद्यपि केवली जानते हैं ज्ञान से ही और देखते हैं दर्शन से ही, तथापि वीर्य के अभाव में नहीं। सिद्धों में और केवलियों में; जो कि लेश्या से रहित—अलेश्य हैं, जो वीर्य विद्यमान है वह अकरण वीर्य कहलाता है। यहां इस अकरण वीर्य का प्रकरण नहीं है। यहां सकरण वीर्य से तात्पर्य है। सकरण वीर्य का स्वरूप यह है—लेश्या वाले जीव का मन, वचन, काय रूप साधन वाले आत्मप्रदेशों के परस्परात्मक व्यापार को सकरण वीर्य कहते हैं। करण का अर्थ साधन है। जिसका साधन मन, वचन और काय का व्यापार है, उसे सकरण वीर्य समझना चाहिए। यह वीर्य शरीर से उत्पन्न होता है, बिना शरीर के नहीं हो सकता।

मतलब यह है कि वीर्य सिद्धों में और अयोगी केवलियों में भी है, लेकिन यह अकरण वीर्य है। अगर उनमें वीर्य न होता तो वे जानते और देखते कैसे? तथा चौदहवें गुणस्थान वाले अयोगी केवली सिद्ध कैसे होते ? सिद्धों के वीर्य में चंचलता नहीं है। वह वीर्य, केवल जीव का ही परिणाम है।

शरीर से जो उत्पन्न होता है, उसमें इस अकरण वीर्य का समावेश नहीं है। शरीर से उत्पन्न वीर्य योग के वर्णन के लिए है और सिद्धों में योग नहीं है। अतएव अकरण वीर्य को योग की उत्पत्ति वाले वीर्य में नहीं समझना चाहिए।

सकरण वीर्य, मन, वचन और काय के व्यापार से होता है। पहले गुणस्थान से तेरहवें गुणस्थान तक के जीव का, आत्मप्रदेशों से चलायमान होना जीव व्यापार कहलाता है। इस व्यापार को सकरण वीर्य कहते हैं। सकरण वीर्य मन, वचन, काय रूप साधन के बिना नहीं होता और बिना इस वीर्य के योगय की उत्पति नहीं होती। इसलिए योग को उत्पन्न करने वाले वीर्य की उत्पति शरीर से है।

इसके अनन्तर गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवन्! शरीर किससे पैदा होता है? इसके उत्तर में भगवान् ने कहा—हे गौतम! शरीर जीव से उत्पन्न होता है।

शरीर की एक जरा—सी बिगड़ी हुई आंख को सुधार देने वाले की प्रशंसा की जाती है, तो हे चिदानन्द! तू अपनी रचना पर विचार कर कि तूने यह शरीर किस प्रकार बना लिया है।

यूरोप में मनुष्य के शरीर के एक—एक अंग के निष्णात बहुत से डाक्टर हैं। जो आंख का काम करता है, वह आंख का ही करता है, दांत का

डाक्टर दांत का ही इलाज करता है। यद्यपि वे डाक्टर एक–एक अंग पर ही अपनी सारी आयु समाप्त कर देते हैं, फिर भी शरीर का कोई अंग नया नहीं बना सकते। इस जीव ने जो शरीर बनाया है वह अनुपम है। कान–कान में भी छिद्र है और नाक में भी छिद्र है। छिद्र दोनों में समान है, लेकिन सुनने का काम कान का ही छिद्र करता है और सूंघने का काम नाक का छिद्र ही करता है। मांस जीभ में भी है और हथेली में भी। मगर खट्टा–मीठा चखने का काम जीभ ही करती है, हथेली नहीं। जिस शरीर की बनावट का अन्त आज तक किसी को नहीं मिला है, ऐसा शरीर इस जीव ने बनाया है। फिर भी लोग इस चैतन्य विज्ञान को भूल कर जड़ विज्ञान के पीछे पागल बन रहे हैं।

शरीर की एक जरा–सी आंख का इलाज करने वाला डाक्टर विद्वान् कहलाता है तो जिस आत्मा ने यह सम्पूर्ण शरीर बनाया है, उस देह के अधिष्ठाता आत्मा को ईश्वर क्यों न माना जाय? आत्मा जब सकर्म अवस्था में है– कर्म के कारण इसकी अनेक शक्तियां कुंठित हो रही हैं, तब भी वह ऐसा कर सकता है। जब उसकी तमाम शक्तियां उद्भासित हो जायंगी, तब का क्या कहना है?

ईश्वर कर्त्ता है और तुम्हीं ईश्वर हो। सकर्म ईश्वर (आत्मा) शरीर का कर्त्ता है और अकर्म ईश्वर (परमात्मा) शरीर का कर्त्ता नहीं है।

यहां एक आशंका की जा सकती है कि शरीर कर्म से–नाम कर्म से बनता है, ऐसा सुना जाता है। फिर यहां जीव से शरीर की उत्पत्ति क्यों कही गई है ?

इसका उत्तर यह है कि शरीर का कारण कर्म भी है। केवल जीव ने शरीर नहीं बनाया है। अगर केवल जीव ही शरीर बनाने में कारण होता तो सिद्धों को भी शरीर बनाने में कारण मानना पड़ता क्योंकि सिद्ध भी जीव हैं। अतएव कर्म भी शरीर–निर्माण में कारण है। ऐसी स्थिति में जीव को शरीर का कारण कहने पर भी कर्म का निषेध नहीं समझना चाहिए।

अब यहां गौशालक के मत का प्रसंग आता है। जीव से शरीर बना है, लेकिन होनहार (नियति) से बना है या पराक्रम से; यह प्रश्न उपस्थित होता है। गौशालक के होनहारवाद का निषेध करते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि यहां कार्य–कारण की शृंखला बन गई है। कांक्षामोहनीय कर्म प्रमाद से; प्रमाद योग से, योग वीर्य से, वीर्य शरीर से और शरीर जीव से उत्पन्न होता है। अतएव गौशालक के इस कथन का कि जीव कर्त्ता नहीं है इसका निषेध हो जाता है।

हमें इस बात पर विचार करना चाहिए कि जीव में बल, पराक्रम आदि है या नहीं? अगर है तो वह किस काम आते हैं? जब उनका अस्तित्व है तो कहीं उनका उपयोग होता ही होगा। उनका उपयोग होना ही जीव का कर्त्तृत्व है। अतएव जीव कर्त्ता है।

गौतम स्वामी का प्रश्न यह था कि शरीर किससे पैदा होता है ? इसके उत्तर में भगवान् ने कहा—शरीर जीव से उत्पन्न होता है। जब शरीर जीव से उत्पन्न होता है तो जीव में उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पुरुषकार पराक्रम भी है।

गोशालक का मत यह है कि जीव के पुरुषार्थ करने से कुछ नहीं होता। जो कुछ होता है, होनहार से ही होता है। नियतिवादी अपने पक्ष की पुष्टि के लिए कहते हैं:—

उदयति यदि भानुः पश्चिमायांदिशायां,
प्रचलित यदि मेरुः शीततां याति वुह्निः।
विकसति यदि पद्मं पर्वताग्रे शिलायां,
तदपि न चलतीयं भाविनी कर्मरेखा।।1।।

अर्थात्—होनहार के प्रभाव से शुभ या अशुभ जो पदार्थ मनुष्य को मिलना होता है, वह अवश्य मिल जाता है। जीव चाहे जितना प्रयत्न करे, हाथ—पैर पछाड़े, मगर जो होनहार नहीं है, वह होता नहीं, और जो होनहार है वह टलता नहीं। इसलिए पुरुषार्थ की आवश्यकता नहीं।

नियतिवादी इस प्रकार की बातें कहता है लेकिन उन्हें मान लिया जाय तो प्रत्यक्ष सिद्ध पुरुषार्थ की अवहेलना होती है। इस पुरुषार्थ की सिद्धि प्रत्यक्ष से देखते हैं। फिर इसे कैसे छोड़ा जाय और होनहार के भरोसे निठल्ले कैसे बैठे रहें ?

सूर्य हमें प्रत्यक्ष दिखाई देता है। कोई कैसे भी प्रमाण दे, कैसी भी काव्य रचना करके या कसम खा करके यह सिद्ध करना चाहें कि सूर्य नहीं है, तब भी हम सब अपने प्रत्यक्ष को कैसे छोड़ें? और अप्रत्यक्ष को कैसे मानें? इसी प्रकार नियतिवादी कैसे भी प्रमाण क्यों न उपस्थित करें, लेकिन जो बात सर्व साधारण के अभ्रान्त प्रत्यक्ष के विरुद्ध है, उसे कैसे स्वीकार किया जाय? उसकी तमाम दलीलें प्रत्यक्ष से ही खंडित हो जाती हैं।

जीव में उत्थान, बल, वीर्य, पुरुषाकार—पराक्रम विद्यमान हैं। अगर जीव कुछ नहीं करता है तो उत्थान आदि किस काम में आते हैं? जो प्रकाश नहीं करता, उसे सूर्य नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार बिना कुछ किये बल,

वीर्य आदि कैसे कहे जा सकते हैं? जीव में जब बल, वीर्य आदि मौजूद हैं तो फिर उसी को कर्त्ता क्यों न माना जाय?

यह पहले ही कहा जा चुका है कि अस्तित्व अस्तित्व में परिणत होता है, यानि होना होने में परिणमता है, लेकिन पुरुषार्थ बेकार नहीं है। पुरुषार्थ से ही होना होने में परिणत होता है। उदाहरणार्थ–लब्धिधारी महात्मा कांच को बोलवाते हैं सो होनी हुई या अनहोनी हुई? हम कहते हैं, यह होनी हुई। अलबत्ता साधारण आदमी के लिए यह अनहोनी है, लेकिन लब्धिधारी के लिए तो होनी ही है। अगर लब्धिधारी के लिए भी होनी नहीं है तो फिर सभी लोग कांच को क्यों नहीं बोलवा लेते? इस प्रकार होता वही है जो होना होता है, मगर होता है पुरुषार्थ से।

इसके सिवा यह होना है या नहीं होना है यह बात पुरुषार्थ करने से ही ज्ञात होती है, बिना पुरुषार्थ के ज्ञात नहीं हो सकती। इससे यह स्पष्ट है कि पुरुषार्थ का नंबर पहला है। होनी और अनहोनी का पता पुरुषार्थ के पश्चात् ही चल सकता है। इसलिए होनहार के भरोसे कोई बैठा नहीं रहता सभी पुरुषार्थ करते हैं। अतएव पुरुषार्थ को छोड़ कर होनहार के भरोसे बैठे रहना अकर्मण्यता है।

आप लोग भगवान् के पीछे चलने वाले हैं। इसलिए आपको पुरुषार्थ नहीं छोड़ना चाहिए। होना होगा सो होगा और न होना होगा सो न होगा इस प्रकार सोच कर पुरुषार्थहीन बन कर मत बैठो।

कर्मण्यवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन। गीता–2/47

कार्य करने का अधिकार तुम्हें है, फल का विचार करने का नहीं। इसलिए पुरुषार्थ की ओर से निराश न होओ, परन्तु कर्म–नाश के लिए निरन्तर पुरुषार्थ करते रहो। होनहार पर निर्भर रहने वाले कायर हो जाते हैं। एक नीतिकार ने कहा है:–

आलस्यं हि मनुष्याणां शरीरस्थो महान् रिपुः।

अर्थात्– आलस्य ही प्रधान शत्रु है। यह अपने में ही रहता है। वैरी तो कभी ही मारता है, पर यह प्रमाद पद–पद पर प्रहार करता रहता है।

अब यह देखना चाहिए कि उत्थान, बल, वीर्य और पुरुषकार–पराक्रम किसे कहते हैं?

ऊर्ध्व होने, खड़े होने या ऊपर उठने का नाम उत्थान है। जीव की चेष्टा विशेष को कर्म कहते है। शारीरिक प्राण बल कहलाता है। जीव के

उत्साह को वीर्य कहते हैं। पुरुष का स्वाभिमान पुरुषाकार कहलाता है और इष्ट फल का साधक पुरुषाकार और शत्रु नष्ट करना पराक्रम है।

यहां कोई यह प्रश्न कर सकता है कि क्या स्त्रियां क्रिया नहीं करती हैं ? अगर करती हैं तो 'पुरुषाकार' के साथ 'स्त्रीकार' क्यों नहीं कहा? इसका उत्तर यह है कि स्वभावतः स्त्रियों की क्रिया की अपेक्षा पुरुषों की क्रिया विशेष होती है। और विशेष को लक्ष्य करके ही बात कही जाती है। इसलिए यहां 'पुरुषाकार' कहा है। उपलक्षण से स्त्री का उद्योग भी पुरुषार्थ ही समझना चाहिए।

पुरुषाकार यानि पुरुष की क्रिया और पराक्रम यानि शत्रु की पराजय। यह दोनों कार्य स्त्री और नपुसंक की अपेक्षा पुरुष अधिक करता है। पुरुष की क्रिया और शत्रु की पराजय यह दोनों मिलकर 'पुरुषाकार–पराक्रम' कहलाते हैं।

कांक्षा मोहनीय की उदीरणा आदि

प्रश्न—से णूणं भंते! अप्पणा चेव उदीरेइ, अप्पणा चेव गरहइ, अप्पणा चेव संवरइ?

उत्तर—हंता, गोयमा! अप्पणा चेव, तं चेव उच्चारेअव्वं।

प्रश्न—जं तं भंते! अप्पणा चेव उदीरेइ, अप्पणा चेव गरहइ, अप्पणा चेव संवरेइ, तं किं उदिण्णं उदीरेइ, अणुदिण्णं उदीरेइ, अणुदिण्णं उदीरणाभवियं कम्मं उदीरेइ, उदायाणंतर पच्छा कडं कम्मं उदीरेइ?

उत्तर—गोयमा! णो उदिण्णं उदीरेइ, णो अणुदिण्णं उदीरेइ, अणुदिण्णं उदीरणाभवियं कम्मं उदीरेइ, णो उदयाणंतर पच्छा कडं कम्मं उदीरेइ।

प्रश्न—जं तं भंते! अणुदिण्णं उदीरणाभवियं कम्मं उदीरेइ तं किं उट्ठाणेणं, कम्मेणं, बलेणं, वीरिएणं, पुरिसक्कार परक्कमेणं अणुदिण्णं, उदीरणाभवियं कम्मं उदीरेइ? उदाहु तं अणुट्ठाणेणं, अकम्मेणं, अबलेणं, अवीरिएणं, अपुरिसक्कार—परिक्कमेणं अणुदिण्णं उदीरणाभवियं कम्मं उदीरेइ?

उत्तर—गोयमा! तं अट्ठाणेणं वि, कम्मेण वि, बलेण वि, वीरिएण वि, पुरिसक्कार परक्कमेण वि, अणुदिण्णं उदीरणाभवियं कम्मं उदीरेइ। णो तं अणुट्ठाणेणं अकम्मेणं, अबलेणं अवीरिएणं, अपुरिसक्कार परक्कमेणं अणुदिण्णं उदीरणाभवियं कम्मं उदीरेइ। एवं सती अत्थि उट्ठाणेइ वा, कम्मेइ वा, बलेइ वा, वीरिएइ वा, पुरिसक्कार परिक्कमेइ वा।

प्रश्न—से णूणं भंते! अप्पणा चेव उवसामेइ, अप्पणा चेव गरहइ, अप्पा चेव संवरेइ?

उत्तर–हंता, गोयमा! एत्थ वि तहेव भणियव्वं। नवरं–अणु दिण्णं उवसामेइ, सेसा पडिसेहेयव्वा तिण्णि।

प्रश्न–जं तं भंते! अणुदिण्णं उवसामेइ, तं किं उट्ठाणेणं?

उत्तर–जाव पुरिसक्कार परिक्कमेत्ति वा।

प्रश्न–से णूणं भंते! अप्पणा चेव वेदेइ, अप्पणा चेव गरहइ?

उत्तर–एत्थ वि सव्वे वि परिवाडी, नवरं उदिण्णं वेएइ, णो अणुदिण्णं वेएइ; एवं जाव पुरिसक्कार परक्कगमेइ वा।

प्रश्न–से णूणं भंते। अप्पणा चेव निज्जरेइ, अप्पणा चेव गरहइ?

उत्तर–एत्थ वि सव्वे वि परिवाडी, णवरंउदयाणंतर पच्छाकडं कम्मं निज्जरेइ एवं जाव परक्कमेइ वा।

संस्कृत–छाया

प्रश्न–तद् नूनं भगवन्। आत्माना चैव उदीरयति, आत्मना चैव गर्हति, आत्मना चैव संवृणोति?

उत्तर–हन्त, गौतम! आत्मना चैव तच्चैव उच्चारयितिव्यम्।

प्रश्न–यत् तद् भगवन्! आत्मना चैव उदीरयति, आत्मना चैव गर्हति, आत्मना चैव संवृणोति, तत् किमुदीर्णम् उदीरयति, अनुदीर्णम् उदीरयति, उदीरणाभव्यं कर्म उदीरयति, उदयानन्तर पश्चात्कृतं कर्म उदीरयति?

उत्तर–गौतम! नो उदीर्णम् उदीरयति, नो अनुदीर्णम् उदीरयति, अनुदीर्णम् उदीरणाभव्यं कर्म उदीरयति नो उदयानन्तर पश्चात्कृतं कर्म उदीरयति।

प्रश्न–यत् तद् भगवन्! अनुदीर्णम्–उदीरणाभव्यं कर्म उदीरयति तत् किमुत्थानेन, कर्मणा, वलेन, वीर्येण, पुरुषकार पराक्रमेण अनुदीर्णम् उदीरणाभव्यं कर्म उदीरयति? उताहो तद् अनुत्थानेन अकर्मणा, अवलेन, अवीर्येण, अपुरुषकार पराक्रमेण अनुदीर्णम् उदीणाभव्यं कर्म उदीरयति?

उत्तर– गौतम्! तद् उत्थानेनापि, कर्मणाऽपि, वलेनापि वीर्येनापि, पुरुषकार–पराक्रमेनापि अनुदीर्णम्–उदीरणाभव्यं कर्म उदीरयति। नो तद् अनुत्थानेन, अकर्मणा, अवलेन, अवीर्येन, अपुरुषकार पराक्रमेन अनुदीर्णम्–उदीरणाभव्यं कर्म उदीरयति। एवं सति अस्ति उत्थानमिति वा, कर्मेति वा वलमिति वा, वीर्यमिति वा, पुरुषकार पराक्रमइति वा।

प्रश्न–तद् नूनं भगवन्! आत्मना चैव उपशमयति, आत्मना चैव गर्हते, आत्मना चैव संवृणोति।

उत्तर—हन्त, गौतम! अत्रापि तथैव भणितव्यम्। नवरं अनुदीर्णम् उपशमयति, शेषा प्रतिषेधयितव्यास्त्रयः।

प्रश्न—यत् तद् भगवन्! अनुदीर्णम् उपशमयति तत् किम् उत्थानेन ?

उत्तर—यावत् पुरुषकार पराक्रम इति वा।

प्रश्न—तद् नूनं भगवन्! आत्मना चैव वेदयति, आत्मना चैव गर्हते ?

उत्तर—अत्रापि सर्वाऽपि परिपाटी; नवरम्—उदीर्णं वेदयति, एवं यावत् पुरुषकार पराक्रम इति वा।

प्रश्न—तद् नूनं भगवन्! आत्मनैव निर्जरयति, आत्मनैव गर्हते?

उत्तर—अत्रापि सर्वाऽपि परिपाटी। नवरम्—उदयान्तर पश्चात्कृत कर्म निर्जयति, एवं यावत्—पराक्रम इति वा।

शब्दार्थ—

प्रश्न—हे भगवन्! क्या जीव आपसे ही उसे (कांक्षामोह को) उदीरता है ? अपने आपसे ही उसकी गर्हा करता है? और अपने आपसे ही उसका संवर करता है?

उत्तर—हां, हे गौतम! अपने आप से ही करता है—पहले के समान ही पाठ कहना चाहिए।

प्रश्न—भगवन्! वह जो आपसे ही उदीरणा करता है, गर्हा करता है और संवर करता है, सो क्या उदीर्ण (उदय में आये हुए) को उदीरणा करता है? अनुदीर्ण की उदीरणा करता है? अनुदीर्ण—उदीरणा के योग्य की उदीरणा करता है? या उदय के अनन्तर पश्चात्कृत कर्म की उदीरणा करता है?

उत्तर—हे गौतम! उदीर्ण की उदीरणा नहीं करता, अनुदीर्ण की भी उदीरणा नहीं करता तथा उदय के अनंतर पश्चात्कृत की भी उदीरणा नहीं करता, किन्तु अनुदीर्ण—उदीरणा के योग्य की उदीरणा करता है।

प्रश्न—भगवन्! जो अनुदीर्ण—उदीरणा योग्य की उदीरणा करता है, सो क्या उत्थान से, कर्म से, बल से, वीर्य से और पुरुषकार—पराक्रम से उदीरणा करता है या अनुत्थान से, अकर्म से, अबल से, अवीर्य से और अपुरुषकार—पराक्रम से उदीरणा करता है?

उत्तर—गौतम! अनुदीर्ण—उदीरणा योग्य कर्म की उत्थान से, कर्म से, बल से, वीर्य से और पुरुषकार—पराक्रम से उदीरणा नहीं करता है। अनुत्थान से, अकर्म से, अबल से, अवीर्य से और अपुरुषकार—पराक्रम से उदीरणा नहीं करता। ऐसा होने से उत्थान है, कर्म है, बल है, वीर्य है, पुरुषकार पराक्रम है।

प्रश्न—भगवन्! वह अपने आपसे ही उपशम, गर्हा और संवर करता है?

उत्तर—हां गौतम! यहां भी उसी प्रकार 'पूर्ववत्' कहना चाहिए। विशेषता यह है कि अनुदीर्ण का उपशम करता है। शेष तीनों विकल्पों का निषेध करना चाहिए।

प्रश्न—भगवन्! जीव अनुदीर्ण का उपशम करता है सो क्या उत्थान से, यावत् पुरुषकार—पराक्रम से? या अनुत्थान से यावत् अपुरुषाकार—पराक्रम से?

उत्तर—गौतम! पूर्ववत् जानना—यावत् पुरुषकार—पराक्रम से।

प्रश्न—भगवन्! जीव अपने आपसे ही वेदन और गर्हा करता है?

उत्तर—गौतम! यहां भी पूर्वोक्त समस्त परिपाटी समझनी चाहिए। विशेषता यह है—उदीर्ण को वेदता है, अनुदीर्ण को नहीं वेदता है। तथा इस प्रकार यावत् पुरुषकार पराक्रम से वेदता है अनुत्थान आदि से नहीं वेदता है।

प्रश्न—भगवन्! जीव अपने आपसे ही निर्जरा करता है, गर्हा करता है?

उत्तर—गौतम! यहां भी समस्त परिपाटी पूर्ववत् समझनी चाहिए। इस प्रकार यावत् पुरुषकार पराक्रम है।

व्याख्यान

यहां गौतम स्वामी ने कांक्षामोहनीय कर्म की उदीरणा, गर्हा और संवर के विषय में प्रश्न किया है। वे पूछते हैं—भगवन्! क्या जीव कांक्षामोहनीय को आप ही उदीरता है? आप ही गर्हता है? और आप ही संवरता है? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने फरमाया—हे गौतम! हां, जीव आप ही उदीरणा आदि करता है।

उदीरणा आदि का एक मात्र जीव ही कारण नहीं है, किन्तु काल आदि सामग्री भी कारण है। उसका वर्णन आगे किया जायगा। इसलिए प्रश्न मे काल आदि सामग्री का उल्लेख न करके केवल जीव का ही कथन किया गया हैं। इसी कारण भगवान् ने भी उत्तर में जीव का ही कथन किया है।

यहां यह आशंका की जा सकती है कि जीव उदीरणा करता है, काल आदि अन्य की सहायता से, फिर उनका नाम न लेकर केवल जीव का ही नाम क्यों लिया गया हैं? उनका नाम क्यों नहीं लिया गया? इस आशंका का समाधान यह है कि घडा कुंभार ही नहीं बनाता है, किन्तु उसके बनने में मिट्टी, डंडा, चाक और काल आदि की सहायता भी अपेक्षित होती है। ऐसी

हालत में घड़ा बनाने में कुंभार का ही नाम क्यों लिया जाता है? अन्य सहायकों का नाम क्यों नहीं लिया जाता? मिट्टी गधे पर लाद कर लाई जाती है, फिर गधा भी घट का कर्त्ता क्यों नहीं कहलाता? इसका कारण यही है कि चाक आदि घड़ा बनने में सहायक तो हैं, लेकिन मुख्य कर्त्ता कुंभार ही है। इसलिए सबको घड़े का कर्त्ता न मान करके केवल कुंभार को ही कर्त्ता कहा जाता है। अगर ऐसा न किया जाय तो धर्म और व्यवहार–दोनों में ही गड़बड़ी पैदा हो जायेगी। राज्य में सेनापति वही बनाया जाता है जो बल–पराक्रम आदि में सबसे श्रेष्ठ हो। इसी प्रकार अनेक कारणों में से जो कारण प्रधान होता है, उसी को कर्त्ता कहते हैं, क्योंकि वह कार्य करने में स्वतंत्र होता है। चाक, पानी आदि अन्य कारण उसी की इच्छा पर निर्भर रहते हैं।

कर्म के बंध और उदीरणा आदि में आत्मा का व्यापार ही मुख्य है। घड़े में चाक आदि की भांति और–और कारण सहायक अवश्य हैं, लेकिन वे गौण हैं। मुख्य को छोड़कर गौण को कर्त्ता नहीं बनाया जाता। कर्म के बंध आदि में मुख्य कर्त्ता जीव ही है, इसलिए जीव को ही कर्त्ता कहा है। आचार्य इस संबंध में प्रमाण का उल्लेख करते हैं।

अणुमेत्तो वि ण कस्सइ बंधो परवत्थुपच्चया भणिओ।

अर्थात्–आत्मा के सिवाय अणुमात्र बंध भी उसे किसी अन्य वस्तु के कारण नहीं हो सकता। किसी भी वस्तु का बंध किसी अन्य वस्तु के निमित्त से नहीं होता।

अब यह देखना चाहिए कि उदीरणा किसे कहते हैं? भविष्य काल में उदय आने वाले कर्म को, शीघ्र नष्ट करने के लिए, करण विशेष द्वारा खींचकर उदयावलिका में लाना उदीरणा कहलाता है। मान लीजिए किसी आदमी ने कर्म बांधे। वे भविष्य में उदित होंगे। लेकिन नियत समय में उदय आने के पूर्व ही तप आदि द्वारा उदयावलिका में खींचकर उन्हें भस्म कर देना उदीरणा है।

गर्हा–अतीत काल में जो कर्म किया है, उनके कारणों को ग्रहण करके अपने आत्मा की निन्दा करना अर्थात्–हाय! मैंने चोरी की, असत्य भाषण किया, इत्यादि रूप से कर्म बंध के कारणों का विचार करके आत्मनिन्दा करना गर्हा कहलाता है।

अपने यहां कई लोग कर्मो की निन्दा करते है, परन्तु उससे कोई विशेष लाभ नही है। वास्तव में कर्म करने वाले को स्व–आत्मा की निन्दा

करनी चाहिए। इससे भविष्य काल में पाप कर्म के प्रति विरक्ति का भाव जागृत होता है। गर्हा उदीरणा में सहायक होती है। बारह प्रकार के तप में एक प्रायश्चित्त भी तप है और वह गर्हा के पश्चात् होता है। जब तक गर्हा न हो, तक तक प्रायश्चित्त नहीं होता।

संवर–वर्तमान में किये जाने वाले पापकर्म के स्वरूप को जानकर या उसके हेतु को समझ कर उस कर्म को रोकना संवर कहलाता है। जैसे–चोरी या व्यभिचार को उसका निन्दनीय स्वरूप समझकर त्याग दिया, या चोरी और व्यभिचार के कारण को जानकर उसे त्याग दिया, तो वह संवर कहलाया।

आत्मा जैसे बंध का आप ही कर्त्ता है, उसी प्रकार उदीरणा, गर्हा और संवर का भी कर्त्ता आत्मा ही है।

शंका–अगर आत्मा स्वयं ही उदीरणा, गर्हा और संवर आदि का कर्त्ता है तो फिर गुरु के उपदेश आदि निरर्थक क्यों न माने जाएं ?

समाधान–ऐसी बात नहीं है। संवर आदि में गुरु के उपदेश की सहायता भी आवश्यक है। लेकिन गुरु का उपदेश होने पर भी संवर आदि करने वाला आत्मा ही है, इसलिए प्रधानता आत्मा की है; गुरु के उपदेश आदि वैसे प्रधान नहीं हैं। जब तक आत्मा स्वयं कुछ करने के लिए उद्यत न हो, गुरु आदि से कुछ भी नहीं हो सकता। जो स्वयं आत्मनिंदा करने को तैयार न होगा, उससे गुरु आदि कोई भी आत्मनिंदा नहीं करा सकते। गुरु आत्मा को शिक्षा देने वाले हैं, पर करने वाला तो आत्मा ही है। गुरु उपदेश देकर आत्मा के सुस्त पड़े हुए वीर्य को उत्साहित कर देते हैं लेकिन करता आत्मा ही है। इसलिए आत्मा आप ही उदीरणा करता है, आप ही गर्हा करता है और आप ही संवर करता है।

इसके पश्चात् गौतम स्वामी पूछते हैं–भगवन्! यह तो समझ में आ गया कि आत्मा स्वयं ही कर्म की उदीरणा, गर्हा और संवरण करता है, लेकिन वह किन कर्मों की उदीरणा करता है? उदीर्ण (उदय में आये हुए) कर्म की उदीरणा करता है या अनुदीर्ण (जो अभी तक उदय में नहीं आये) की उदीरणा करता है? या जो अनुदीर्ण हैं मगर उदीरणा करने के योग्य हैं उनकी उदीरणा करता है? या उदय हो चुकने के बाद पश्चात्कृत कर्म की उदीरणा करता है?

शंका–पहले प्रश्न में कहा गया है कि आत्मा स्वयं ही कर्म की उदीरणा, गर्हा और संवरणा करता है; लेकिन इसके बाद जो प्रश्न किया गया है कि आत्मा उदीर्ण कर्म की उदीरणा करता है या अनुदीर्ण की करता है, या अनुदीर्ण– उदीरणा योग्य की करता है या उदयानन्तर पश्चात्कृत की उदीरणा

करता है। सो इस प्रश्न में सिर्फ उदीरणा का ही ग्रहण क्यों किया है ? यहां गर्हा और सवंर को क्यों छोड़ दिया? अर्थात् यह क्यों नहीं पूछा कि उदीर्ण कर्म की गर्हा करता है, या अनुदीर्ण की गर्हा करता है आदि। इसी प्रकार संवर के विषय में भी प्रश्न क्यों नहीं किया?

समाधान–उदीर्ण, अनुदीर्ण, अनुदीर्ण–उदीरणायोग्य और उदयानन्तर पश्चात्कृत, यह चार विशेषण उदीरणा के विषय में ही हैं इसलिए इन चार विशेषणों द्वारा उदीरणा के विषय में ही प्रश्न किया गया है। इन चारों विशेषणों में से एक भी विशेषण का संबंध गर्हा और संवर के साथ नहीं है अतएव चारों में से किसी भी विशेषण का प्रयोग गर्हा और संवर के विषय में नहीं हो सकता।

शंका–अगर उदीरणा के साथ गर्हा और संवरणा का संबंध नहीं है तो फिर पहले के प्रश्न में इन तीनों को एक साथ क्यों रक्खा गया है? वहां सिर्फ उदीरणा को क्यों न ग्रहण किया?

समाधान–गर्हा और संवरणा, दोनों उदीरणा के साधन हैं। यह बात प्रकट करने के लिए ही इन दोनों पदों को उदीरणा के साथ रक्खा है। इसी प्रकार सब जगह समझना चाहिए। उक्त प्रश्न का जो उत्तर दिया गया है, उससे भी यह बात स्पष्ट हो जाती है।

गौतम स्वामी ने जो प्रश्न किया है उसका उत्तर यह है कि आत्मा उदीर्ण कर्म की उदीरणा नहीं करता है, क्योंकि वे तो स्वयं ही उदय में आये हुए है। जो कर्म उदय में आ चुके हैं, उनकी भी अगर उदीरणा की जाय तो उदीरणा का पार न रहे। इस प्रकार अव्यवस्था हो जायेगी। इसी प्रकार अनुदीर्ण कर्म की भी उदीरणा नहीं होती अर्थात् जिन कर्मों की भविष्य में बहुत देर से उदीरणा होने वाली है, या जिन कर्मो की उदीरणा भविष्य में नहीं होगी ऐसे उदीरणा के अयोग्य कर्मो की भी उदीरणा नहीं होती। जो कर्म स्वरूप से अनुदीर्ण है लेकिन उदीरणा के योग्य हैं वे उदीरणाभव्य कहलाते हैं। ऐसे ही कर्मो की उदीरणा होती है। जो होने वाला–जिसमें निश्चित रूप से होने की योग्यता पाई जाती है, उसे भव्य (भाविक) कहते हैं। इसलिए जिन कर्मो की उदीरणा होने वाली है उन्हें उदीरणाभव्य कहते है। उदीरणाभव्य कर्म विशिष्ट योग्यता को प्राप्त कर चुके है, इसलिए आत्मा ऐसे कर्मों की उदीरणा करता है। अर्थात् पूर्वोक्त चार भंगों में से तीसरे भंग के कर्मो की उदीरणा होती है। जो कर्म उदयानन्तर पश्चात्कृत हैं, उनकी भी उदीरणा नहीं होती। क्योंकि

वे कर्म उदय में आ चुके हैं, इसलिए अतीत रूप हैं और अतीत वस्तु असत्-रूप होती है। अतएव ऐसे कर्म की उदीरणा नहीं होती।

शास्त्रकार कहते हैं—कर्म की उदीरणा में काल, स्वभाव, नियति (होनहार) आदि भी कारण हैं, लेकिन प्रधानता आत्मा के वीर्य की ही है। कल्पना कीजिए, किसी ने कहा—पुत्र स्त्री के होता है।

इस कथन पर काला वादी कहता है,—स्त्री तो दो वर्ष की कन्या भी होती है। उसके पुत्र क्यों नहीं होता? इससे प्रतीत होता है कि काल ही पुत्रप्रसव का कारण है, क्योंकि अमुक काल व्यतीत होने पर ही पुत्र होता है।

स्वभाववादी ने कहा—अगर अमुक काल (अवस्था) से ही पुत्र होता है तो फिर बंध्या स्त्री भी उस अवस्था को प्राप्त है। इससे यह सिद्ध होता है कि स्वभाव ही पुत्र होने का कारण है।

तब नियतिवादी कहता है—हमने काल और स्वभाव दोनों देखे। न काल कारण है और न स्वभाव कारण है। एक स्त्री के तीस—चालीस वर्ष की अवस्था तक लड़का नहीं हुआ। यद्यपि वह अवस्था प्राप्त भी थी और लड़का जनने का उसमें स्वभाव भी मौजूद था। इसके बाद उसके लड़का हुआ। इससे यह साबित होता है कि नियति अर्थात् होनहार ही असली कारण है। जो कुछ होता है, होनहार से ही होता है।

नियतिवादी का कथन सुनकर ईश्वरवादी कहने लगा— होना या न होना ईश्वर के अधीन है। ईश्वर चाहता है तो लड़का होता है, नहीं चाहता तो नहीं होता।

पुरुषार्थवादी कहता है—अगर सभी कुछ होना ईश्वराधीन है तो हाथ—पैर हिलाने की क्या आवश्यकता है। पुरुषार्थ से सिद्धि होती है, यह बात प्रत्यक्ष से सिद्ध है। अतएव पुरुषार्थ को ही कारण मानना चाहिए। सब कुछ पुरुषार्थ से ही होता है। बिना पुरुषार्थ के पुत्र होना कभी और कहीं नहीं सुना जाता। अगर पूर्व जन्म के कर्म से पुत्र की उत्पत्ति मानी जाय तो वह कर्म भी पुरुषार्थ जन्य ही है।

इस प्रकार कर्म की उदीरणा में काल, स्वभाव आदि को भी अगर कर्त्ता माना जाय तो बड़ी गड़बड़ी होगी। इसके सिवा काल जड़ है। अगर काल ही कर्त्ता हो तो फिर पुरुषार्थ न करने पर भी कार्य (उदीरणा) होना चाहिए। इसी प्रकार स्वभाव और होनहार कोई स्वतंत्र पदार्थ नहीं हैं। जड़

को कर्त्ता मानना और साक्षात् कर्त्ता को कर्त्ता न मानना कैसे ठीक कहा जा सकता है ? इसी प्रकार अगर ईश्वर सब कार्यों का कर्त्ता हो तब भी पुरुषार्थ व्यर्थ हो जाता है। इसके अतिरिक्त ईश्वर को कर्त्ता मानने से और भी अनेक प्रकार की गड़बड़ी होती है। ईश्वर में अनेक दोषों का प्रसंग आता है। अतएव प्रधान कर्त्ता पुरुषार्थ ही है।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि उदीरणा आदि कार्यों में काल, स्वभाव आदि भी कारण होते हैं, मगर आत्मा का वीर्य ही प्रधान कारण है। इस बात को प्रकट करने के लिए गौतम स्वामी प्रश्न करते हैं—भगवन्! आत्मा अनुदीर्ण किन्तु उदीरणा के योग्य कर्म की उदीरणा करता है, सो वह उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पुरुषार्थ—पराक्रम से उदीरणा करता है यानि पुरुषार्थ से करता है या काल, स्वभाव आदि से आप ही उदीरणा हो जाती है?

इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् फरमाते हैं—हे गौतम! आत्मा ऐंसे कर्म की उदीरणा उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पुरुषकार पराक्रम से करता है। इसके बिना उदीरणा नहीं होती।

इससे यह सिद्ध हुआ कि जो कुछ होता है वह आत्मा के पुरुषार्थ से होता है और आत्मा में उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पुरुषकार—पराक्रम विद्यमान है।

इस प्रश्नोत्तर से पुरुषार्थ की सिद्धि होती है। यद्यपि कर्म उदीरणा के योग्य हैं, फिर भी उनकी उदीरणा अपने आप न होगी, किन्तु पुरुषार्थ से होगी। अतः जीव को किसी दूसरे के भरोसे न रहकर पुरुषार्थ करना चाहिए। क्या होने वाला है? और क्या नहीं होने वाला है? यह तभी मालूम होगा जब पुरुषार्थ करोगे। भगवान् ने स्पष्ट कह दिया है कि उदीरणा होने योग्य कर्म की उदीरणा भी पुरुषार्थ से होती है। इसलिए पुरुषार्थ करते रहना चाहिए। पुरुषार्थ से कदाचित् कोई कार्य विशेष न हो तब भी पुरुषार्थ कभी खाली नहीं जाता। उदाहरणार्थ एक आदमी फल लेने के लिए बाग में गया। बाग में उसे फल नहीं मिले। तब भी बाग में जाने से सुगंध और स्वास्थ्यवर्द्धिनी हवा तो मिली ही। साथ ही, बाग में जाने से यह ज्ञान भी हो गया कि इस बाग में फल नहीं हैं। जिस पुरुषार्थ से यह मालूम हुआ कि इस बाग में फल नहीं हैं, उस पुरुषार्थ को न छोड़ने पर कल किसी दूसरे बाग में फल मिलेंगे ही। लेकिन बिना पुरुषार्थ किये, केवल होनहार के भरोसे बैठे रहने से फल कैसे मिलेंगे? इसलिए कर्म की उदीरणा के लिए पुरुषार्थ करना चाहिए। पुरुषार्थ करने पर भी, यदि उदीरणा के योग्य कर्म न होने से कभी उदीरणा नही होगी,

तब भी पुरुषार्थ खाली नहीं जायगा। गर्हा और संवरणा करते रहने से लाभ ही होगा।

यहां तक कांक्षामोहनीय कर्म की उदीरणा के संबंध में प्रश्नोत्तर हुए। अब कांक्षामोहनीय के उपशान्त होने के विषय में गौतम स्वामी प्रश्न करते हैं। प्रश्न यह है—भगवन्! यह निश्चय है कि आत्मा अपने आप ही कर्म को उपशान्त करता है, गर्हता है और संवरता है? भगवान् ने उत्तर फरमाया—हे गौतम! हां यह सब कथन उदीरणा के विषय में दिये गये उत्तर की ही तरह समझना चाहिए। विशेष बात यह है कि जो कर्म उदय में नहीं आये हैं वे ही उपशान्त होते हैं। तात्पर्य यह है कि पूर्वोक्त चार भंगों में से यहां दूसरा भंग कहना चाहिए।

मोहनीय कर्म का ही उपशम होता है। इस विषय में शास्त्र का पाठ है:—

मोहस्सोवोवसमो, खओवसमो चउण्हं घाईणं।
उदय—क्खय परिणामा, अट्ठण्हं वि होंति कम्माणं।।

अर्थात्—उपशम मोहनीय कर्म का ही होता है, क्षयोपशम ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय, इन चार घाति कर्मों का ही होता है, तथा उदय, क्षय और परिणाम आठों ही कर्मों का होता है।

उपशम का अर्थ यहां है—उदीर्ण कर्म का क्षय होना, और जो उदय में नहीं आये हैं उनके विपाक और प्रदेश का अनुभव न होना। कर्म की ऐसी अवस्था को उपशम कहते हैं।

यहां यह कहा जा सकता है कि ऐसा होना तो क्षयोपशम है, उपशम क्यों कहा? इसका समाधान यह है कि क्षयोपशम में भी उदीर्ण कर्म का क्षय होता है, लेकिन वहां प्रदेश से कर्म का अनुभव होता है, सिर्फ विपाक से अनुभव नहीं होता। इस प्रकार जब कर्म के प्रदेश और विपाक का अनुभव नहीं होता तब उपशम कहलाता है और जब सिर्फ विपाक से अनुभव नहीं होता, लेकिन प्रदेश से अनुभव होता है तब क्षयोपशम कहलाता है। यह उपशम और क्षयोपशम में अन्तर है। उदाहरणार्थ—एक अग्नि जल रही थी और उसकी लपटें उड़कर जला रही थीं। उस अग्नि पर टोकरी भर कर राख डाल दी गई। राख पडने से लपटों का निकलना बंद हो गया और अग्नि से जो गर्मी मालूम होती थी वह भी रुक गई। इस प्रकार राख डालने से लपटें निकलना और गर्मी पहुंचाना, दोनों बातें रुक गई। यही बात उपशम के विषय में है।

क्षयोपशम में तो कर्म रूपी अग्नि की थोड़ी–थोड़ी आंच लगती है, लेकिन उपशम में जरा भी नहीं लगती।

एक तो अनादिकालीन मिथ्यादृष्टि को सम्यक्त्व की प्राप्ति होने के समय उपशम होता है और दूसरे उन महात्माओं को होता है जो उपशम श्रेणी में पहुंच जाते हैं।

उपशम के संबंध में भी उदीरणा के समान ही कथन समझना चाहिए। विशेषता यह है कि अनुदीर्ण कर्म का ही उपशम होता है।

जैन शास्त्रों में कर्म का जैसा विचार किया गया है, वैसा सूक्ष्म और सर्वांगीण विचार किसी भी अन्य शास्त्र ने नहीं किया है। और किसी ने ऐसा विचार किया हो या न किया हो, लेकिन आपको जो ऐसी अनुपम चीज मिली है, यहां यह बारीक तत्वज्ञान उपलब्ध हुआ है, उससे आप लाभ न उठावें और वह ऐसे ही शास्त्रों में पड़ा रहे, यह कहां तक उचित है? भगवान् ने कहा है–पुरुषार्थ से कर्म को उपशान्त भी कर सकते हो और क्षीण भी कर सकते हो। ऐसा होते हुए भी आप उपशम या क्षय के लिए प्रयत्न न करो और कषाय बढ़ाने में लगे रहो, यह कितनी बुरी बात है?

भगवान् ने यह नहीं कहा है कि इन तत्वों को जानने वाला ही कर्म को उपशान्त करता है, न जानने वाला नहीं कर सकता। चाहे कोई इन तत्वों को न भी जानता हो, लेकिन जो इसके लिए पुरुषार्थ करेगा, वह कर्मो का क्षयोपशम, क्षय और उपशम कर सकता है।

इसके अनन्तर गौतम स्वामी प्रश्न करते हैं–भगवन्! जीव अपने आप ही कर्म वेदता है और गर्हता है? इसके उत्तर में भगवान् ने कहा–हे गौतम! हां, यह सब बात पूर्व की ही तरह समझो। विशेष यह है कि उदीर्ण को वेदता है, अनुदीर्ण को नहीं वेदता।

गौतम स्वामी ने यह प्रश्न दुनिया का भ्रम मिटाने के लिए किया है। दुनिया में भ्रम बहुत है। लोग कहते हैं–एक को वेदना होने के साथ ही दूसरा भी दुःख भोगता है। जैसे– पुत्र को जब वेदना होती है, तब पुत्र की वेदना से माता भी दुःखी होती है। इसी प्रकार और भी कई बातें देखी जाती हैं। जैसे एक का कष्ट दूसरा भोगता है। इस बात को लेकर प्रश्न होता है कि भगवान् ने यह क्यों कहा कि जीव अपने आप ही वेदता है? इस प्रश्न के उत्तर के लिए अनाथी मुनि का वृत्तान्त समझने योग्य है। यद्यपि अनाथी मुनि को वेदना होती थी और उनकी वेदना के कारण उनके माता–पिता को भी कष्ट होता था। लेकिन मां–बाप को उनकी वेदना होती थी और अनाथी मुनि को अनाथी मुनि

की वेदना होती थी। अनाथी मुनि ने अपनी वेदना तो ज्ञान से मिटा ली थी, अब उनके मां–बाप अपनी वेदना अपने आप ही मिटा सकते थे। तात्पर्य यह है कि किसी दूसरे की वेदना दूसरे को नहीं होती, अपने को अपनी ही वेदना होती है।

यह देखने में आता है कि वेदना वाले के पास बैठे हुए को तो वेदना नहीं होती और जो दूर हैं उन्हें वेदना होती है। इससे यह सिद्ध है कि दूसरे की वेदना दूसरे को नहीं होती, किन्तु जिसकी वेदना उसी को होती है।

भगवान् ने इस प्रश्न के उत्तर में फरमाया–जीव अपने आप ही कर्म को वेदता है और उदय में आये हुए कर्म को ही वेदता है। जो कर्म उदय में नहीं आया उसे नहीं वेदता है।

वेदना के इस प्रश्न में गर्हा भी आया है। मगर उत्तर में सिर्फ वेदना के विषय में ही कहा गया है। इसका कारण यह है कि सकाम वेदना और सकाम निर्जरा बिना गर्हा के नहीं होती। वेदना और निर्जरा तो बिना गर्हा के भी होती है, मगर वह अकाम वेदना और निर्जरा है, सकाम नहीं। सकाम वेदना और सकाम निर्जरा का कारण गर्हा है। अतएव प्रश्न में कारण को भी ग्रहण कर लिया गया था, उत्तर में उसे ग्रहण करना आवश्यक था।

वेदन किये हुए (भोगे हुए) कर्म की निर्जरा होती है, इसीलिए अब गौतम स्वामी निर्जरा के विषय में प्रश्न करते हैं। वे पूछते हैं–भगवन्! क्या आत्मा अपने आप ही कर्म की निर्जरा और गर्हा करता है? भगवान् फरमाते हैं–हे गौतम! अपने आप ही आत्मा कर्म निर्जरा करता है। और आप ही की गर्हा करता है। अर्थात्–आत्मा अपने उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषकार–पराक्रम से निर्जरा और गर्हा करता है। विशेष यह है कि उदयानन्तर पश्चात्कृत कर्म की निर्जरा होती है।

कई कर्मों की निर्जरा ऐसी होती है कि उनकी वेदना मालूम नहीं होती, लेकिन कोई भी कर्म उदय में आये बिना निर्जीर्ण नहीं हो सकता। वेदना, विपाक और प्रदेश–दो से होती है। कई कर्मों का विपाक तो मालूम होता है, मगर प्रदेश वेदना मालूम नहीं पड़ती। ज्ञानी कहते हैं कि हमें चाहे मालूम हो या नहीं, मगर वेदना के बिना कर्म की निर्जरा नहीं होती। वेदना के बाद ही निर्जरा होती है।

सकाम निर्जरा, गर्हा और संवरणा के बिना नहीं होती। गर्हा और संवरणा के अभाव में होने वाली निर्जरा में जीव हाय हाय करता है, जिससे बहुत सारे नये कर्मों का बंध होता है।

सनत्कुमार चक्रवर्ती को देवता का परिचय हुआ। उन्हें अहंकार हो आया। अहंकार करने से उनके शरीर में सोलह प्रकार के रोग हो गये। सनत्कुमार चक्रवर्ती कहते थे–यह रोग, रोग नहीं हैं–मेरे मित्र हैं। इनसे मेरा बड़ा उपकार हुआ है। इनके आने से, मुझे शरीर और संसार पर जो घमण्ड था, वह चकनाचूर हो गया है। ऐसा विचार कर सनत्कुमार चक्रवर्ती ने दीक्षा ले ली। वही पहले वाला देव, वैद्य बनकर सनत्कुमार मुनि के पास उनकी परीक्षा करने आया। उसने मुनि से कहा–महाराज! आपके शरीर में बहुत रोग हैं। मैं वैद्य हूं, आप कहें तो इनकी चिकित्सा कर दूं।

सनत्कुमार मुनि बोले–वैद्यराज, आप आन्तरिक रोगों की चिकित्सा करेंगे या बाह्य रोगों की?

वैद्य (देव)–महात्मन्! मैं आत्मा का रोग तो नहीं मिटा सकता। हां, शरीर के रोग मिटा दूंगा।

मुनि–मुझे ऐसी लब्धि प्राप्त है कि अगर चाहूं तो एक क्षण में तमाम रोग दूर हो सकते हैं। मगर यह रोग मेरे मित्र हैं, उपकारक हैं इसलिए मैं इन्हें नष्ट नहीं करना चाहता।

इतना कहकर मुनि ने एक जगह अपना पीव (मवाद) लगाया। देव यह देखकर चकित रह गया कि जिस जगह पीव लगाया गया, वह जगह कंचन–सी हो गई थी।

मतलब यह है कि वेदना को संवरणा और गर्हा से भोगा जाय तो नवीन कर्मों का बंध नहीं होता।

उदय में आये हुए कर्मों का आत्मप्रदेश से अलग हो जाना निर्जरा है। यों तो निर्जर शब्द के 'देव' आदि अनेक अर्थ होते हैं, मगर यहां कर्म के प्रकरण में वह नहीं समझना चाहिए।

उदीरणा, उपशमना, वेदना और निर्जरा संबंधी एक संग्रहगाथा कही है। वह इस प्रकार है–

तइएण उदीरेंति, उवसामेंति पुणो वि बीयेणं।
वेइंति निज्जरंति य, पढम चउत्थेहिं सव्वे वि।।

अर्थात् पहले जो चार भांगे कहे हैं, उनमें से तीसरे भांगे में उदीरणा होती है, दूसरे में उपशम होता है, पहले में वेदन होता है, और चौथे में निर्जरा होती है। शेष सब बातें सब में समान है।

मूलपाठ–

प्रश्न–नेरइया णं भंते! कंखामोहणिज्जं कम्मं वेएंति?

उत्तर–जहा ओहिया जीवा तहा नेरइया; जाव थणियकुमारा

प्रश्न–पुढविक्काइया णं भंते! कंखामोहणिज्जं कम्मं वेइंति?

उत्तर–हंता, वेइंति।

प्रश्न–कह णं भंते! पुढविक्काइया कंखामोहणिज्जं कम्मं वेदेंति?

उत्तर–गोयमा! तेसिणं जीवाणं णो एवं तक्काइ वा, सण्णाइ वा, पण्णाइ वा, मणेइ वा, बई इ वा अम्हे णं कंखामोहणिज्जं कम्मं वेएमो, वेएंति पुण ते।

प्रश्न–से णूणं भंते! तमेव सच्चं णीसंकं जं जिणेहिं पवेइअं?

उत्तर–सेसं ते चेव, जाव–पुरिसक्कार–परक्कमेइ वा, एवं जाव चउरिंदियाणं–पंचिं दियतिरिक्ख जोणिया जाव–वेमाणिया जहा ओहिया जीवा।

प्रश्न–अत्थि णं भंते! समणा वि णिग्गंथा कंखामोहणिज्जं कम्मं वेएंति?

उत्तर–हंता, अत्थि।

प्रश्न–कह णं भंते! समणा णिग्गंथा कंखामोहणिज्जं कम्मं वेएंति?

उत्तर–गोयमा! तेहिं तेहिं कारणेहिं णाणंतरेहिं दंसणंतरेहिं, लिंगंतरेहिं, पवयणंतरेहिं, पावयणंतरेहिं, कप्पंतरेहिं, मग्गंतरेहिं, मयंतरेहिं, भंगंतरेहिं, णयंतरेहिं, नियमंतरेहिं, पमाणंतरेहिं, संकिया, कंखिआ, वितिगिच्छिया, भेअ समावन्ना, कलुस समावन्ना एवं खलु समणा निग्गंथा कंखामोहणिज्जं कम्मं वेइंति।

प्रश्न–से णूणं भंते! तमेव सच्चं णीसंकं, जं जिणेहिं पवेइअं?

उत्तर–हंता, गोयमा! तमेव सच्चं, णीसंकं, एवं जाव पुरिसक्कार परक्कमेइवा, सेवं भंते! सेवं भंते।

संस्कृत–छाया

प्रश्न–नैरयिका भगवन्! कांक्षामोहनीयं कर्म वेदयन्ति?

उत्तर–यथौधिका जीवास्तथा नैरयिकाः, यावत् स्तनितकुमाराः।

प्रश्न–पृथ्वीकायिकाः भगवन् कांक्षामोहनीयं कर्म वेदयन्ति?

उत्तर–हन्त, वेदयन्ति।

प्रश्न–कथं भगवन्! पृथ्वीकायिकाः कांक्षामोहनीयं कर्म वेदयन्ति?

उत्तर–गौतम! तेषां जीवानां नो एवं तर्क इति वा, संज्ञेति वा, प्रज्ञेति वा, मनइति वा, वच इति वा,–वयं कांक्षामोहनीयं कर्म वेदयामः, वेदयन्ति पुनस्ते।

प्रयन–तद् नूनं भगवन्! तदेव सत्यं, निश्शंकं यज्जिनैः प्रवेदितम्?

उत्तर–शेषं तदेव, यावत् पुरुषकार पराक्रम इति वा। एवं यावत्–चतुरिन्द्रियानाम्। पंचेन्द्रिय तिर्यग्योनिका यावद्–वैमानिका यथौधिका जीवाः।

प्रश्न–अस्ति भगवन्। श्रमणा अपि निर्ग्रन्थाः कांक्षामोहनीय कर्म वेदयन्ति?

उत्तर–हन्त, अस्ति।

प्रश्न–कथं भगवन्! श्रमणा निर्ग्रन्थाः कांक्षामोहनीयं कर्म वेदयन्ति?

उत्तर–गौतम! तैस्तैः कारणैः–ज्ञानान्तरै, दर्शनान्तरैः, चरित्रान्तरैः, लिंगान्तरैः, प्रवचान्तरैः, प्रावचनिकान्तरैः, कल्पान्तरैः, मार्गान्तरैः, मन्तातरैः, भंगान्तरैः, नयान्तरैः, नियमान्तरैः, प्रमाणान्तरैः, शंकिता, कांक्षिताः, विचिकित्सिताः, भेदसमापन्नाः, कलुष समापन्नाः एवं खलु श्रमण निर्ग्रन्थाः कांक्षामोहनीयं कर्म वेदयन्ति।

प्रश्न–तद् नूनं भगवन्! तदेव सत्यं, निश्शंकं, यद् जिनै प्रवेदितम्?

उत्तर–हन्त, गोतम! तदेव सत्यं निश्शंकं, एवं यावत् पुरुपकार पराक्रम इति वा।

तदेवं भगवन्! तदेवं भगवन्!

प्रश्न–भगवन्! नारकी जीव कांक्षामोहनीय कर्म वेदते हैं?

उत्तर–जैसे सामान्य जीव कहे, वैसे ही नैरयिक भी समझना चाहिए। और इसी प्रकार यावत्–स्तनितकुमारों तक जानना चाहिए।

प्रश्न–भगवन्! पृथ्वीकाय जीव कांक्षामोहनीय कर्म वेदते हैं?

उत्तर–हे गौतम! हां, वेदते हैं।

प्रश्न–भगवन्! पृथ्वीकाय जीव कांक्षामोहनीय कर्म को किस प्रकार वेदते हैं?

उत्तर–हे गौतम! उन जीवों को ऐसा तर्क, संज्ञा, प्रज्ञा, मन या वचन नहीं होता कि 'हम कांक्षामोहनीय कर्म को वेदते हैं' मगर वे उसे वेदते हैं।

प्रश्न–भगवन्! वह सत्य और निःशंक है, जो 'जिनों' ने प्ररूपण किया है?

उत्तर–हे गौतम! शेष सब पहले के समान समझना। अर्थात्–जिनों ने जो प्ररूपण किया है, वह सत्य और असंदिग्ध है, यावत् पुरुषकार पराक्रम

से निर्जरा होती है। इस प्रकार चौइन्द्रियों तक जानना। जैसे सामान्य जीव कहे, वैसे ही पंचेन्द्रिय तिर्यंचयोनि वाले यावत् वैमानिक कहना चाहिए।

प्रश्न–भगवन्! श्रमण निर्ग्रन्थ भी कांक्षामोहनीय कर्म वेदते हैं?

उत्तर–हे गौतम! हां वेदते हैं।

प्रश्न–भगवन्! श्रमण निर्ग्रन्थ कांक्षामोहनीय कर्म को किस प्रकार वेदते हैं?

उत्तर–हे गौतम! अमुक अमुक ज्ञानान्तर, दर्शनान्तर, चरित्रान्तर, लिंगान्तर, प्रवचनान्तर, प्रावचनिकान्तर, कल्पान्तर, मार्गान्तर, मतान्तर, भंगान्तर, नयान्तर, नियमान्तर और प्रमाणान्तर के द्वारा शंका वाले, कांक्षा वाले, विचिकित्सा वाले, भेद समापन्न और कलुष समापन्न होकर, इस प्रकार श्रमण निर्ग्रन्थ भी कांक्षामोहनीय कर्म वेदते हैं।

प्रश्न–भगवन्! वही सत्य और असंदिग्ध है, जो जिनों ने प्ररूपण किया है?

उत्तर–हे गौतम! हां, वही सत्य है, असंदिग्ध है, यावत् पुरुषकार पराक्रम से निर्जरा होती है।

भगवन्! यह इसी प्रकार है। भगवन्! यही सत्य है।

व्याख्यान

अव चौवीसों दंडक की अपेक्षा से, वेदना से लगाकर निर्जरा तक का विचार किया जाता है।

गौतम स्वामी ने पूछा–भगवन्! नारकी जीव दुःखों की भट्टी में तप रहे हैं। क्या वे भी कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन करते हैं? भगवान् ने कहा–हां, गौतम! वे भी वेदन करते हैं। सामान्य जीवों के संवंध में जो वातें कही गई थीं, वही सव वातें यहां भी लागू होती हैं। और वही सव वातें स्तनितकुमारों तक भी समझ लेनी चाहिए।

इसके पश्चात् गौतम स्वामी ने प्रश्न किया–भगवन्! क्या पृथ्वीकायिक भी कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन करते हैं? भगवान् फरमाते हैं–हां, वे भी वेदन करते हैं।

पृथ्वीकायिक जीवों के संवंध में यह उत्तर सुनकर गौतम स्वामी को मानो आश्चर्य हुआ। जिन जीवों में केवल एक मात्र इन्द्रिय है, वे किस प्रकार कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन करते हैं? जिन्हें मनोलब्धि प्राप्त है, वे जीव कांक्षामोह का अनुभव करें, यह तो ठीक है लेकिन जिनमें मनोज्ञान नहीं है, जिन्हें अच्छे–बुरे की भी पहचान नहीं है, वे कांक्षामोह को कैसे वेदन करते हैं?

इस प्रकार के आश्चर्य से गौतम स्वामी ने प्रश्न किया—भगवन्! पृथ्वीकायिक जीव कांक्षामोहनीय कर्म किस प्रकार वेदन करते हैं? इसके उत्तर में भगवान् ने फरमाया हे गौतम! 'हम कांक्षामोहनीय कर्म वेदते हैं' इस प्रकार उन जीवों में तर्क, संज्ञा, प्रज्ञा, मन और वचन नहीं है, फिर भी वे वेदते हैं।

तर्क अर्थात् विमर्श, संज्ञा अर्थात् अर्थावग्रह रूप ज्ञान। अवग्रह ज्ञान दो प्रकार का है:—अर्थावग्रह और व्यंजनावग्रह। इनके संबंध में पहले ही कहा जा चुका है। प्रज्ञा का अर्थ बुद्धि है। विशेष रूप से देखना या सब विशेषों संबंधी ज्ञान प्रज्ञा कहलाता है। स्मरणादि रूप मतिज्ञान के भेद को मन कहते हैं। वचन का अर्थ प्रसिद्ध ही है।

पृथ्वीकाय के जीवों में तर्क, संज्ञा, प्रज्ञा और मन नहीं है, उनमें बोलने की शक्ति भी नहीं है, फिर भी हे गौतम! वे जीव कांक्षामोहनीय कर्म वेदते हैं।

गौतम स्वामी को आश्चर्य है कि वे पृथ्वीकाय के जीव यह भी नहीं जानते कि 'हम कांक्षामोहनीय कर्म वेदते हैं' फिर भी भगवान् कहते हैं—वे इस कर्म को वेदते हैं। इस प्रकार आश्चर्य करके गौतम स्वामी कहते हैं—प्रभो! हम अपने इस तर्कवाद को बंद करते हैं—इस विषय में किसी प्रमाण की मांग नहीं करते। हम केवल यही पूछना चाहते हैं कि जिन भगवान् का कथन सत्य और शंका रहित है न?

इसके उत्तर में भगवान् ने फरमाया—हे गौतम! हां, वह सत्य और शंकारहित है जो 'जिन' का कहा हुआ है। पृथ्वीकाय के जीव कांक्षामोहनीय कर्म किस प्रकार वेदन करते हैं, यह मैं स्पष्ट रूप से देख रहा हूं। तुम्हें कितना भी समझाया जाय, तुम्हारी समझ में यह बात नहीं आयेगी।

हम अपने ही संबंध में देखें तो विदित होगा कि बहुतेरी बातें हमारे ही संबंध की होती हैं, फिर भी उनका हमें पता नहीं चलता। इसीलिए ऐवन्ता मुनि ने कहा था—मै जिसे जानता हूं उसे नहीं जानता और जिसे नहीं जानता, उसे जानता हूं। अर्थात् यह जानता हूं कि 'जिन' की कही बात सत्य है, परन्तु यह नहीं जानता कि उन्होंने किस ओर क्या देखा है? अगर मुझे इतना ज्ञान और हो जाय तो जिन भगवान् में और मुझ में भेद न रहे। इसके लिए एक सुबोध उदाहरण लीजिए। हमें मालूम है कि हम जो भोजन करते हैं, उसका सार रोम-रोम में जाता है लेकिन यह नहीं जानते कि किस अंग में कितना जाता है? दूध सफेद होता है, लेकिन उसका सार काले बालों में भी पहुंचता है और सफेद बालों में भी, आंख के सफेद भाग में भी इसका सार पहुंचता है और काले भाग में भी पहुंचता है। यह जानते हुए भी हम यह नहीं जानते

कि किस भाग में कितना और कैसे पहुंचता है? जब हम अपने शरीर का ही हाल नहीं जानते तो पृथ्वीकाय का हाल कैसे जान सकते हैं? इसके अतिरिक्त पृथ्वीकाय के जीव कांक्षामोहनीय कर्म नहीं वेदते, यह कैसे कहा जा सकता है? इस विषय में क्या प्रमाण है? अतएव वही बात सत्य है, जो भगवान् ने कही है।

गौतम स्वामी आगे प्रश्न करते हैं–भगवन्! पृथ्वीकाय के जीव कांक्षामोहनीय कर्म अपने आप–उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषकार पराक्रम से वेदते हैं या होनहार आदि से? इसके उत्तर में भगवान ने फरमाया–गौतम! उत्थान, कर्म, बल, वीर्य आदि से वेदते हैं, होनहार आदि से नहीं वेदते।

इससे पुनः यही सिद्ध होता है कि आत्मा ही कर्त्ता है, होनहार आदि कर्त्ता नहीं है। यह बात दूसरी है कि किस तरह से क्या होता है? यह तुम नहीं जानते। लेकिन यह भी अगर जानते हो तो फिर उपदेश की आवश्यकता ही क्या थी ? उपदेश तो न जानने वाले के लिए ही है।

पृथ्वीकाय–जीव की तरह अपकाय, वायुकाय, तेजस्काय, वनस्पतिकाय और चौरिन्द्रिय तक जानना चाहिए। तिर्यंच पंचेन्द्रिय से वैमानिक तक समुच्चय जीव के वर्णन की तरह समझना चाहिए। पांच स्थावरों और तीन विकलेन्द्रियों के गर्हणा सवंरणा नहीं होती, क्योंकि उनके मन नहीं है।

कांक्षामोहनीय कर्म के संबंध में एक बात का विचार और भी होता है। वह यह है कि दूसरे जीव कांक्षामोहनीय कर्म बांधते हैं, यह तो ठीक है, लेकिन शायद साधु इसका बंध नहीं करते होंगे ? साधु संसार का त्याग कर चुके हैं, उनकी बुद्धि जिनागम से पवित्र हो चुकी है। अतएव वे कांक्षामोहनीय को कैसे वेदते होंगे ? साथ ही मोह का वेग कितना प्रबल होता है, उसकी शक्ति कितनी प्रचण्ड है, यह बात बाल जीवों को समझाने के लिए गौतम स्वामी प्रश्न करते हैं–भगवन्! क्या श्रमण निर्ग्रन्थ भी कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन करते हैं ?

शत्रु मित्र पर समभाव रखने वाले को श्रमण कहते हैं और संसार एवं परिग्रह की ग्रंथि से जो मुक्त हो उसे निर्ग्रन्थ कहते हैं।

गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में भगवान ने फरमाया– हे गौतम! श्रमण निर्ग्रन्थ भी कांक्षामोहनीय कर्म वेदते हैं। तब गौतम स्वामी फिर पूछते हैं–'भगवन् श्रमण निर्ग्रन्थ किस प्रकार कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन करते हैं?

यहां 'अपि' शब्द सम्भावना के अर्थ में है। अर्थात् क्या यह सम्भव है कि श्रमण निर्ग्रन्थ कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन करते हैं ? उत्तर में भगवान

बोले–हे गौतम! यद्यपि श्रमण निर्ग्रन्थ जिनागम के ज्ञाता और ज्ञानी हैं, जिनागम से उनकी बुद्धि विशाल और विशद हो गई है लेकिन उनके हृदय में भी बुद्धि की खटपट से गड़बड़ हो जाती है और तब वे कांक्षामोहनीय कर्म वेदते हैं।

बुद्धि की खटपट से आत्मा का विश्वास चला जाता है। ऐसी अवस्था में बड़ा अनर्थ होता है। अधिक जानकार है वे ही अधिक गड़बड़ में पड़ते हैं। ग्रामीणों की अपेक्षा नागरिक को अधिक घबराहट होती है, क्योंकि वे अधिक जानकार होते हैं। अधिक जानकारी वाले बुद्धि की खटपट में अधिक पड़ते हैं।

भगवान् कहते हैं–इन कारणों से श्रमण निर्ग्रन्थ भी कांक्षामोहनीय कर्म वेदन करते हैं–ज्ञानान्तर, दर्शनान्तर, चारित्रान्तर, लिंगान्तर, प्रवचनान्तर, प्रावचनिकान्तर, कल्पान्तर, मार्गान्तर, भंगान्तर, नयान्तर, नियमान्तर और प्रमाणान्तर। इन कारणों से शंकित, कांक्षित, विचिकित्सायुक्त, भेदसमापन्न और कलुषसमापन्न होकर कांक्षामोहनीय कर्म का उन्हें वेदन करना पड़ता है।

एक ज्ञान से दूसरे ज्ञान, ज्ञानान्तर कहलाते हैं। इसके विषय में शंका हो जाना कि ऐसा क्यों है? यथा–अवधिज्ञान परमाणु से लेकर अनन्त प्रदेश वाले रूपी स्कंध को जानता है, इसलिए उसके असंख्यात प्रकार हैं। अर्थात् वह रूपी पदार्थो को जानता है। मनःपर्याय ज्ञान मनोद्रव्य को जानता है; मनोद्रव्य भी रूपी है। रूपी होने के कारण मनोद्रव्य अवधिज्ञान के द्वारा जाने जा सकते हैं। ऐसी हालत में दो ज्ञानों की क्या आवश्यकता है? जैसे एक महाप्रकाश से सब पदार्थ दिखाई देते हैं, तब एक पदार्थ को प्रकाशित करने वाले छोटे प्रकाश की क्या आवश्यकता है? कौन जाने इसमें क्या तत्व है? न जाने इन दोनों ज्ञानों की कल्पना क्यों की गई है? इस प्रकार का सन्देह हो जाना और उसमें अश्रद्धा की मिलावट होना शंका है।

इस प्रकार की शंका होने से कलुषता आती है और इससे कांक्षामोहनीय का बंध होता है। इस तरह एकान्त पकड़ बैठने से साधुपन भी चला जाता है और मिथ्यात्व आ जाता है।

ऊपर ज्ञानों के विषय में जो शंका बतलाई गई है उसका समाधान होना भी आवश्यक है। इसके लिए शास्त्रकार कहते हैं–यद्यपि मनोगत पदार्थ रूपी हैं और अवधिज्ञान द्वारा जाने जा सकते हैं, तथापि मन–पर्याय ज्ञान और अवधिज्ञान एक नही हो सकते। दोनों भिन्न है। दोनों का स्वभाव भिन्न– भिन्न है। मनःपर्याय ज्ञान, मन के भीतर आने वाले पदार्थ के विकल्प को ही जानता

है और किसी पदार्थ को नहीं जानता। एक पदार्थ हाथ में हो तब उसे मनःपर्याय ज्ञान नहीं जान सकता, लेकिन उसी पदार्थ का मन में चिन्तन किया जाय तो वह जान लेगा। उदाहरण के लिए, मनःपर्याय ज्ञानी कलकत्ता नगर को मनःपर्याय ज्ञान से नहीं जान सकता। लेकिन जिसने कलकत्ता देखा है, वह यदि अपने मन में कलकत्ता का विकल्प करेगा तो मनःपर्याय ज्ञानी उस मन के द्रव्यों को मनःपर्याय ज्ञान से देख लेगा। अवधिज्ञानी सामान्य देखकर विशेष देखता है अर्थात् अवधिज्ञान दर्शनपूर्वक होता है किन्तु मनःपर्यायज्ञान दर्शनपूर्वक नहीं होता। इसके अतिरिक्त कोई--कोई अवधिज्ञान, मनोद्रव्यों को विषय नहीं करता है और कोई–कोई मनोद्रव्य के साथ अन्य रूपी पदार्थों को भी विषय करता है। अर्थात् कोई भी अवधिज्ञान ऐसा नहीं है जो मनःपर्याय ज्ञान की तरह सिर्फ मनोद्रव्यों को ही जानता हो, यह दोनों ज्ञानों में विषय की अपेक्षा अन्तर है।

अवधिज्ञान और मनःपर्यायज्ञान में और भी बहुत अन्तर है। मनःपर्यायज्ञान सिर्फ अढ़ाई द्वीप के संज्ञी जीवों के मनोद्रव्य को ग्रहण करता है, जबकि अवधिज्ञान समस्त लोकाकाश के रूपी पदार्थों को ग्रहण कर सकता है। अवधिज्ञान की अपेक्षा मनःपर्याय अत्यन्त सूक्ष्मज्ञेय को भी जानता है। अवधिज्ञान के स्वामियों में मनःपर्याय के स्वामियों में भी भेद है। अवधिज्ञान चारों गतियों के जीवों को हो सकता है, किन्तु मनःपर्याय ज्ञान केवल मनुष्य को होता है और वह भी उत्कृष्ट चारित्र वाले, लब्धिधारी मुनि को ही होता है। इस प्रकार विषय, क्षेत्र, स्वामी और अनेक अपेक्षाओं से दोनों ज्ञानों में अन्तर है।

अवधिज्ञान और मनः पर्यायज्ञान में और भी भेद है। जैसे सूर्य के होते हुए भी चन्द्र की आवश्यकता है--सूर्य गर्मी देता है और चन्द्र शीतलता प्रदान करता है। उसी प्रकार अवधिज्ञान के विद्यमान होने पर भी मनःपर्याय ज्ञान की आवश्यकता है। अवधिज्ञान वाले को कोप भी आ जाता है, संसार के भोग भोगते हुए भी इन्द्रादिक अवधिज्ञानी होते हैं। लेकिन मनःपर्याय ज्ञानी शुद्ध और शीतल होते हैं।

इसे कहते हैं ज्ञानान्तर। ज्ञानों के अन्तर को न समझकर उनके विषय में शंका करने से और फिर शंका न मिटाने से कांक्षा, विचिकित्सा और कलुषता आती है और इससे कांक्षामोहनीय कर्म का बंध होता है।

ज्ञानान्तर की तरह दर्शनान्तर से भी कांक्षामोहनीय का बंध होता है। वस्तु के सामान्य धर्म को जानने वाली शक्ति दर्शन कहलाती है। उदाहरण

के लिए—पुस्तक के काले अक्षर सब आंख वालों को दीखते हैं। इन्हीं अक्षरों को पढ़ा—लिखा मनुष्य विशेष रूप से देखता है और अनपढ़ सामान्य रूप से देखता है। अनपढ़ को तो सब अक्षर एक—से काले—काले ही नजर आएंगे। इन दो प्रकार के देखने में विशेष रूप से देखना ज्ञान है और सामान्य रूप से देखना दर्शन है।

सामान्य बोध (दर्शन) दो प्रकार से होता है—इन्द्रिय निमित्त से और अनिन्द्रियनिमित्त से। इन्द्रियों में श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना और स्पर्शन हैं तथा अनिनिद्रय में—मन है। कोई सामान्य बोध इन्द्रियों से होता है, कोई मन से।

यहां यह शंका उत्पन्न होती है कि—जब इन्द्रिय और मन से होने वाला सामान्यबोध दर्शन कहलाता है, तो फिर एक चक्षुदर्शन और दूसरा अचक्षुदर्शन, इस प्रकार दो भेद करने की क्या जरूरत है? अगर इन्द्रियजन्य और अनिन्द्रियजन्य भेद करने थे तो श्रोत्रदर्शन, चक्षुदर्शन, घ्राणदर्शन, रसनादर्शन और स्पर्शनदर्शन तथा मनोदर्शन इस प्रकार छः भेद करने चाहिएं थे। अथवा संक्षेप में इन्द्रियदर्शन और मनोदर्शन रूप दो भेद ही किये होते तो उचित था। लेकिन चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शन भेद क्यों किये हैं? कौन जाने इस प्रकार दो भेद करने का क्या अभिप्राय है? इस प्रकार अश्रद्धापूर्ण शंका होने से कांक्षा, विचिकित्सा और कलुषता आती है तथा मोहनीय कर्म का वेदन हो जाता है।

इस शंका का समाधान इस प्रकार है:— प्रत्येक वस्तु में सामान्य धर्म भी होते है और विशेष धर्म भी होते हैं। अतएव कभी सामान्य रूप से वस्तु का कथन किया जाता है और कभी विशेष रूप से। यहां चक्षुदर्शन कहकर विशेष रूप से कथन किया गया है और अचक्षुदर्शन कहकर सामान्य रूप से निरूपण किया गया है। अर्थात् चक्षुदर्शन यह भेद विशेष है और अचक्षुदर्शन भेद सामान्य है।

यहां यह शंका होती है कि चक्षु को विशेष और शेष चार इन्द्रियों को सामान्य कहने का क्या कारण है? अपने—अपने कार्य में सभी इन्द्रियां विशेष है। देखते समय आंख विशेष है तो सुनने के समय कान विशेष हैं। सूंघने के समय नाक विशेष है तो आस्वादन करते समय जिह्वा विशेष है। फिर अकेली आंख को विशेष बताना और शेष को सामान्य बताना कैसे उचित कहा जा सकता है?

इस शंका के उत्तर मे शास्त्रकार कहते हैं—यह कथन ठीक हो सकता है और दर्शन के भेद दूसरे रूप से भी किये जा सकते हैं। लेकिन चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शन—इस प्रकार दो भेद करने का और भी कारण है।

इन्द्रियां दो प्रकार की हैं–प्राप्यकारी और अप्राप्यकारी। जो इन्द्रियां अपने ज्ञेय पदार्थ को प्राप्त करके–स्पर्श करके ज्ञान कराती हैं वह प्राप्यकारी कहलाती है और जो प्राप्त किये बिना ही ज्ञान करा देती हे उसे अप्राप्यकारी कहते हैं। चक्षु इन्द्रिय अप्राप्यकारी है और शेष चार इन्द्रियां प्राप्यकारी हैं। उदाहरणार्थ–अगर शब्द का कान के साथ संबंध न हो, शब्द को कान में न पड़ने दिया जाय तो शब्द का ज्ञान नहीं होता है। शब्द जब कान में पड़ता है तभी उसका ज्ञान होता है। इसी प्रकार नाक मूंद लेने पर गंध का ज्ञान नहीं होता। जीभ और त्वचा से स्पर्श हुए बिना वस्तु का रस–खट्टा–मीठापन आदि और स्पर्श सर्द–गर्म आदि मालूम नहीं हो सकता। इस प्रकार श्रोत्र, घ्राण, रसना और स्पर्शन इन्द्रिय को अपने विषय का ज्ञान तब होता है, जब विषय इन्हें प्राप्त हो जाता है। इसलिए यह चारों इन्द्रियां प्राप्यकारी हैं। आंख के विषय में यह बात नहीं है। आंख जिस रूप को देखती है, उसका आंख के साथ स्पर्श नहीं होता। आंख दूर की चीज को तो देखती है, मगर अपने आप में के काजल को और अपनी पुतली को नहीं देखती। इसलिए आंख अप्राप्यकारी है। इस भेद को लेकर चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शन, यह दो भेद दर्शन के किये गये हैं।

इस समाधान के विषय में भी एक प्रश्न किया जा सकता है। वह यह कि अगर प्राप्यकारी और अप्राप्यकारी के भेद से दर्शन के दो भेद किये गये हैं तो मन अप्राप्यकारी होने से मनोदर्शन को प्राप्यकारी इन्द्रियों के दर्शन के साथ क्यों कहा है?

इस प्रश्न का समाधान करने के लिए आचार्य कहते हैं– मन अप्राप्यकारी अवश्य है, वह अपने विषय का स्पर्श किये बिना ही उसे देख लेता है, लेकिन वह प्राप्यकारी इन्द्रियों के साथ भी रहता है। मन, सब इन्द्रियों के साथ रहता है–श्रोत्र, घ्राण आदि प्राप्यकारी इन्द्रियों के साथ भी और अप्राप्यकारी चक्षु के साथ भी। मगर प्राप्यकारी इन्द्रियां चार हैं और अप्राप्यकारी सिर्फ एक है। अतएव मन प्राप्यकारी इन्द्रियों के साथ अधिक रहता है। इस कारण अप्राप्यकारी होने पर भी उसे प्राप्यकारी इन्द्रियों के साथ गिना है।

अथवा–दर्शन का दूसरा अर्थ 'सम्यक्त्व' है। दर्शन अर्थात् सम्यक्त्व के संबंध में आगे कहे अनुसार शंका होने पर कांक्षा, कलुषितता आदि होने पर कांक्षामोहनीय कर्म का बंध होता है।

शास्त्रों में क्षयोपशमिक सम्यक्त्व और औपशमिक सम्यक्त्व अलग–अलग बतलाये गये हैं। मिथ्यात्व वा अनन्तानुबंधी चौक का, जो उदय में आ गया हो क्षय हो जाय और जो मिथ्यात्व उदय में नहीं आया है, उसका

उपशम हो ऐसी अवस्था में होने वाला सम्यक्त्व क्षयोपशमिक कहलाता है। कहा भी है–

मिच्छत्तं जमुदिण्णं तं खीणं, अणुदियं च उवसंतं।

अर्थ–इसका ऊपर बतलाया जा चुका है। दूसरे औपशामिक सम्यक्त्व का लक्षण इस प्रकार है–

खीणंमि उइन्नम्मि अणुदिज्जंते य सेस मिच्छत्ते।
अंतोमुहुत्तमेत्तं उवसमसम्मं दहइ जीवो।।

अर्थात्–उदय में आये हुए मिथ्यात्व का क्षय होने पर तथा शेष मिथ्यात्व के उदय में नहीं आने पर अन्तर्मुहूर्त मात्र के लिए जीव को उपशम सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है।

इस प्रकार क्षयोपशमिक सम्यक्त्व और औपशमिक सम्यक्त्व का लक्षण एक–सा मालूम होता है, कोई अन्तर प्रतीत नहीं होता फिर भी इन दोनों दर्शनों को अलग–अलग क्यों कहा गया है?

इस प्रकार की शंका होने पर विचिकित्सा आदि के द्वारा कलुषितता में पड़ कर श्रमण भी कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन करता है।

इस शंका का समाधान इस प्रकार है–क्षयोपशम और उपशम का लक्षण एक नहीं अलग–अलग है। अतएव इन दोनों से होने वाले सम्यक्त्व भी अलग–अलग है।

क्षयोपशम और उपशम में यह भेद है–क्षयोपशम में, उदय में आये का तो क्षय हो जाता है लेकिन जो उदय में नहीं आया है उसका विपाक से उपशम होता है मगर प्रदेश से उपशम नहीं होता। अर्थात् विपाक–अनुभव नहीं होता किन्तु प्रदेश–अनुभव होता है। जैसे क्लोरोफोर्म सुंघा कर चीरा देने से न मालूम होना– विपाक से अनुभव न होना है मगर प्रदेश से वेदना तो होती ही है। इसी प्रकार क्षयोपशम में विपाक अनुभव बंद हो जाता है, तथापि प्रदेश–अनुभव होता है। उपशम–सम्यक्त्व में ऐसा नहीं होता। इसमें विपाक–अनुभव और प्रदेश–अनुभव दोनों ही नहीं होते।

उपशम–सम्यक्त्व में प्रदेश का अनुभव भी नहीं होता है। इसके लिए प्रमाण की आवश्यकता हो तो वह इस प्रकार है–

वेएइ संतकम्मं खओवसमिएसु नाणुभावं सो।
उवसंतकसाओ पुण, वेएइण संतकम्मंति।।

अर्थात्–क्षायोपशमिक भाव मे विपाक का वेदन नही करता, प्रदेश अनुभव होता है। किन्तु अपशान्त कषाय वाला जीव विपाक–अनुभव और प्रदेश अनुभव दोनो का वेदन नही करता है।

इसके अतिरिक्त उपशम–सम्यक्त्व की स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त मात्र की है और क्षयोपशम सम्यक्त्व की छयासठ (66) सागर की है। इस प्रकार यह दोनों दर्शन भिन्न–भिन्न हैं।

चारित्रान्तर का स्वरूप इस प्रकार है–सामायिक चारित्र और छेदोपस्थापनीय चारित्र अलग–अलग हैं। इनके विषय में यह शंका होती है कि इन दोनों का लक्षण तो एक–सा मालूम होता है फिर इन्हें अलग–अलग क्यों कहा है? सामायिक चारित्र में सर्वसावद्य योग का त्याग और छेदोपस्थापनीय चारित्र में महाव्रत है, लेकिन महाव्रत भी सर्वसावद्य योग का त्याग ही है। फिर इन दोनों चारित्रों को अलग करने की क्या आवश्यकता थी?

चारित्र के विषय में इस प्रकार की शंका, कांक्षा, विचिकित्सा और कलुषता द्वारा जीव कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन करता है।

चारित्र विषयक शंका का समाधान यह है–वास्तव में तो सामायिक चरित्र ही है लेकिन समय और प्रकृति के भेद से उनमें भेद किया है। पहले तीर्थकर के साधु ऋजुजड़ थे। उन्हें न समझाना कठिन था और न उन्हें आचरण करने में ही कठिनाई जान पड़ती थी। अन्तिम तीर्थंकर के साधु वक्र जड़ हैं। इन्हें समझाना भी कठिन है और आचरण करना भी उनके लिए कठिन है। यह काल का प्रभाव है। इन वक्र जड़ साधुओं को आश्वासन देने के लिए छेदोपस्थापनीय चारित्र बतलाया है, जिससे इनका कल्याण हो सके। कल्पना कीजिए–भारत का एक मनुष्य इंग्लैण्ड गया। भारत गर्म देश है और इंग्लैण्ड शीत प्रधान देश है वहां उसे शीत का सामना करना पड़ा। इस कारण वह घबड़ा गया। वह सोचने लगा–भारत में पहने जाने वाले इन वस्त्रों से शीत का सामना कैसे करूं? इतने में किसी ने उसे आश्वासन दिया–हमने तुम्हारे लिए शीत से बचाने वाले वस्त्रों का प्रबंध कर रखा है। इसी प्रकार मध्य के बाईस तीर्थंकर के समय के विरुद्ध अन्तिम तीर्थंकर का समय जब हुआ तब ज्ञानियों ने आश्वासन दिया कि काल का पलटा देखकर घबराओ मत, हमने छेदोपस्थापनीय चारित्र की स्थापना कर दी है। इस चारित्र से वक्र–जड़ काल तुम्हारा कुछ न बिगाड़ सकेगा।

वक्र–जड़ साधु को पहले सामायिक चारित्र ही दिया जाता है और फिर सात दिन, चार मास या छह मास बाद छेदोपस्थापनीय चारित्र यानि महाव्रत पढ़ाये जाते हैं। महाव्रत धारण करने के बाद यदि वक्रजड़ जमाने के प्रभाव से सामायिक में दोष लग भी जावे, तब भी इस विचार से शान्ति होगी कि मेरे महाव्रत सुरक्षित हैं।

अगर ऐसा न किया गया होता, सामायिक चारित्र ही धारण कराया गया होता और महाव्रत रूप छेदोपस्थापनीय चारित्र धारण न कराया जाता, तो वक्र–जड़ काल के प्रभाव से सामायिक चारित्र में दोष लग जाने पर साधु यही सोचता कि मेरे सामायिक चारित्र में दोष लगने से मेरा चारित्र ही नष्ट हो गया है। इसलिए आश्वासन दिया कि घबराओ मत। सामायिक चारित्र में दोष लग गया है लेकिन तुम्हारा महाव्रत भंग नहीं हुआ है।

इस प्रकार सामायिक चारित्र और छेदोपस्थापनीय चारित्र को अलग–अलग करने का कारण यही है कि सामायिक चारित्र में दोष लग जाने पर भी मुनि एकदम घबरा न जाय। अगर दोष लग भी जाय तो फिर निशीथसूत्र इसीलिए है। छह मास के दण्ड तक तो छेदोपस्थापनीय चारित्र रहता है मगर इससे अधिक का दंड होने पर नष्ट हो जाता है। इस प्रकार काल की विषमता से दो भिन्न–भिन्न चारित्रों की व्यवस्था की गई है।

टीकाकार आचार्य कहते हैं–यह बात मैं अपनी ओर से नहीं कहता; इसके लिए प्रमाण मौजूद हैं। वह इस प्रकार–

रिउवक्कजडा पुरिमेयराणा सामाइए वयारुहणं।
मणयमसुद्धेवि जओ, सामाइए हुंति हु वयाइं।।

अर्थात्–पहले तीर्थकर के साधु ऋजु जड़ और पिछले तीर्थकर के वक्र जड़ होने के कारण छेदोपस्थापनीय चारित्र की स्थापना की है। क्योंकि सामायिक चारित्र में थोड़ा सा दोष लगने पर भी व्रत रूप चारित्र का निभाव हो जाता है।

कांक्षामोहनीय के वेदन का चौथा कारण लिंगान्तर है। लिंग (वेष) के विषय मे यह शंका होती है कि पहले और अन्तिम तीर्थकर के सिवा बीच के बाईस तीर्थकरों ने अपने साधुओं के लिए जैसा मिले वैसा ही वस्त्र रखने की आज्ञा दी है। इन तीर्थकरों के शासन में वस्त्र संबंधी कोई नियम नहीं था कि काले, पीले, सफेद या गेरुआ रंग के ही वस्त्र पहने जाएं, या कम मूल्य वाले पहने जाएं अथवा अधिक मूल्य वाले पहने जाएं। इन तीर्थकरों के साधुओं को जब जैसा वस्त्र मिल जाता था तब तैसा ही पहन लेते थे। यह आदेश भी सर्वज्ञों का था। इस लिंग में भी संयम था। फिर प्रथम और अंतिम तीर्थकर ने वस्त्रों का परिमाण और रंग क्यों नियत किया? अर्थात् यह क्यों कहा कि इतने ही वस्त्र रखना, कम कीमत के रखना और सफेद ही वस्त्र रखना। मध्य के तीर्थकरो द्वारा समर्थित वस्त्र मिलने में किसी प्रकार की कठिनाई नहीं थी। फिर यह नियम बनाकर साधुओ को कठिनाई में क्यों डाला गया? सर्वज्ञों के

वचन में इस अन्तर का क्या कारण है? अगर साधु के लिए वस्त्र का परिमाण होना अनिवार्य है तो बाईस तीर्थंकरों के साधुओं के लिए क्यों अनिवार्य न था? क्या वे साधु नहीं थे?

इस प्रकार की शंका होने पर विचिकित्सा और कलुषता द्वारा कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन होता है।

इस शंका का समाधान इस प्रकार है–महावीर और पार्श्व आदि तीर्थंकरों का सिद्धान्त एक ही है। इनके शासन में वेष का जो अन्तर दीखता है, वह कोई मौलिक सैद्धान्तिक अन्तर नहीं है। गौतम स्वामी ने केशी मुनि से कहा था कि तत्व का निर्णय तत्व से होना चाहिए। वेष तत्व से पृथक् है। तत्व सभी तीर्थंकरों का एक ही है।

केशी श्रमण पार्श्वनाथ के साधु थे। अतएव उनके शिष्यों के विचित्र कपड़े थे और गौतम स्वामी महावीर के शिष्य थे अतः इनके शिष्यों के एक ही सफेद रंग के थे। इस पर से उन्हें सन्देह हुआ कि पार्श्वनाथ और महावीर दोनों एक समान ही सर्वज्ञ थे, फिर उनके साधुओं में कपड़ों की यह भिन्नता क्यों पाई जाती है? फिर भी इन मुनियों ने अपने गुरु से निर्णय कराना उचित समझा। इसी बीच केशी श्रमण और गौतम स्वामी का समागम हो गया। तब गौतम स्वामी ने केशी स्वामी से कहा–बाहर से दीखने वाला वस्त्रों संबंधी मतभेद कोई वास्तविक भेद नहीं है। वस्त्र, मोक्ष का अंग नहीं है। लोगों की दृष्टि जमाने को, उन्हें आकर्षित करने के लिए या पहचान के लिए लिंग की आवश्यकता होती है। पहले दूसरा जमाना था, अब वक्र जड़ काल है। इसमें लिंग का विशेष भेद रखने पर ही साधु–असाधु की पहचान हो सकती है। इस जमाने में नियत वेष न रखने से कई प्रकार की अव्यवस्था होगी।

यहां गौतम स्वामी की उदारता कितनी आदर्श है कि वे अपने साधुओं को वक्र और जड़ प्रकट करते हैं और पार्श्वनाथ की परम्परा के साधुओं को ऋजुप्रज्ञ (सरल और बुद्धिशाली) बतलाते हैं।

तात्पर्य यह है कि जमाने को पलटा देखकर लिंग में विशेषता की गई है। यह बात इस उदाहरण से समझना सरल होगा–

एक श्वसुर के घर में दो बहुएं थीं। सब बहुओं के साथ समान व्यवहार करना श्वसुर का कर्त्तव्य है लेकिन इन दो बहुओं की प्रकृति में बड़ा भेद था। एक बहू सभी काम–काज मर्यादापूर्वक करती थी। खाना–पीना, लेन–देन आदि मर्यादा के साथ करती थी। उसे कितना ही सताया जाय मगर

वह अपनी मर्यादा का उल्लंघन नहीं करती थी। दूसरी बहू ऐसी थी कि अगर उसके भरोसे घर छोड़ दिया जाय तो वह जल्दी ही घर को फूंक दे। बहुओं का यह प्रकृतिभेद समझकर श्वसुर ने पहली बहू से कहा—बहू, यह घर तेरा ही है। तू जैसा चाहे वैसा कर। दूसरी बहू के लिए खाना—खर्च नियत कर दिया। यद्यपि श्वसुर को किसी बहू के प्रति पश्चात्ताप नहीं है, फिर भी घर की रक्षा करने के लिए उसने दूसरी बहू के वास्ते यह नियम बना दिया। पहली बहू की प्रकृति अच्छी थी। उसके लिए कोई नियम बांधना जरूरी नहीं था।

इस दृष्टान्त की तरह ही पार्श्वनाथ भगवान् के साधु ऋजुप्रज्ञ थे। वे प्राण जाने पर भी अपना नियम नहीं छोड़ते थे। उनके मन साफ थे। इसलिए उनके लिए कपड़ों का कोई नियम नहीं था। उन्हें छूट थी—जैसा मिले वैसा ही कपड़ा ले लो। जब वक्र जड़ जमाना आया तो नियम बनाना पड़ा कि परिमित सफेद वस्त्र ही लिया जा सकता है। इस प्रकार काल की विषमता से लिंग में विशेषता हुई है।

लिंगान्तर के पश्चात् प्रवचनान्तर है। प्रवचन का अर्थ आगम है। वचन दो प्रकार के होते हैं—वचन और प्रवचन। साधारण आदमी के कहे हुए वचन, वचन कहलाते हैं और रागादि शत्रुओं को जीतने वालों के वचन प्रवचन कहलाते हैं। अथवा साधारण लोक—व्यवहार संबंधी भाषा को वचन कहते हैं। लोकोत्तर विषय संबंधी वीतरागवाणी प्रवचन कहलाती है। उदाहरणार्थ—एक न्यायाधीश अपने घर में स्त्री—पुत्रों से जो शब्द बोलता है, वे शब्द वचन कहलाते हैं। लेकिन वही न्यायाधीश जब न्यायालय में न्यायासन पर आसीन होता है और वादी—प्रतिवादी की बातें सुनकर निर्णय रूप में जो शब्द बोलता या लिखता है वह फैसला कहलाता है। क्योंकि उन शब्दों से वादी—प्रतिवादी का हानि लाभ होता है। इसी प्रकार भगवान् ने तत्त्वों का निचोड़ करके जो आत्महितकारी निर्णय दिये हैं वे प्रवचन कहलाते हैं।

प्रवचन के विषय में इस प्रकार शंका हो सकती है— पार्श्वनाथ आदि तीर्थंकर के भी प्रवचन हैं और ऋषभदेव एवं महावीर के भी प्रवचन हैं। सभी तीर्थंकर वीतराग और सर्वज्ञ थे। इन प्रवचनों के विषय में शंका यह है कि बीच के बाईस तीर्थंकरों ने तो चार महाव्रतों का प्रतिपादन किया है और प्रथम एवं चरम तीर्थंकर ने पांच महाव्रतों का उपदेश दिया है। यह भेद क्यों है? इन सर्वज्ञों के वचन में विरोध प्रतीत होता है, इसीलिए किसे प्रमाण माना जाय? अगर बीच के तीर्थंकरों को सर्वज्ञ मानें तो प्रथम और चरम तीर्थंकर

असर्वज्ञ ठहरते हैं। यदि ये दोनों सर्वज्ञ हैं तो बीच के तीर्थंकर सर्वज्ञ नहीं रहते। न मालूम क्या सत्य है?

इस प्रकार शंका होने पर कांक्षा और कलुषता आदि द्वारा कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन होता है।

इस शंका का समाधान यह है–बीच के बाईस तीर्थंकरों ने चार व्रत रूप जो धर्म कहा है, वह पांच व्रत रूप ही समझना चाहिए। इन चार व्रतों में पांचों व्रत अन्तर्गत हो गये हैं। बीच के तीर्थंकरों ने संक्षेप में चार व्रत कहे हैं और प्रथम तथा चरम तीर्थंकर ने विस्तार से कथन किया। अतएव पांच व्रतों का निर्देश किया। मध्य के बाईस तीर्थंकरों ने चौथा ब्रह्मचर्य महाव्रत, परिग्रहविरमण व्रत के अन्तर्गत किया है और प्रथम तथा चरम तीर्थंकर ने उसे पृथक् रखकर अलग नाम दिया है।

बाईस तीर्थंकरों ने मैथुन विरमण को परिग्रहविरमण से अलग नहीं बतलाया है, क्योंकि–

योषा हि नाऽपरिगृहीता भुज्यते।

अर्थात्–अपरिगृहीत बिना ग्रहण की हुई अर्थात् जिस स्त्री को स्वीकार नहीं किया है वह भोगी नहीं जाती। परिगृहीता स्त्री ही भोगी जाती है।

मतलब यह है कि चार व्रतों की स्थापना करने वालों ने परिग्रह का निषेध किया है और उसी में स्त्री का भी निषेध हो जाता है। इसलिए स्त्री का त्याग रूप व्रत अलग नहीं बतलाया है। इस दृष्टि से सोचने पर तीर्थंकरों के प्रवचन में किसी प्रकार का विरोध नहीं आता। विरोध उस हालत में होता जब चार व्रतों की स्थापना करने वाले तीर्थंकर स्त्री संसर्ग का अनुमोदन करते। मगर ऐसा नहीं है। अतएव विरोध की गुंजाइश नहीं है।

यहां यह प्रश्न किया जा सकता है कि जब परिग्रह में स्त्री का समावेश हो जाता है और परिग्रह का त्याग बतला दिया था तो फिर मैथुन त्याग को अलग बताने की क्या आवश्यकता थी? इसका उत्तर यह है कि अब वक्र और जड़ जमाना आया है। कदाचित् कोई यह भी कुतर्क करने लगे कि बिना ममत्व आसक्ति के स्त्री संसर्ग करने में क्या हर्ज है? ऐसी कुतर्कणाओं को दूर करने के लिए मैथुन त्याग व्रत अलग बतला दिया गया है।

पहले और अन्तिम तीर्थंकर के विषय में पाखण्ड बहुत फैला था। सूयगडांग सूत्र में उस समय के पाखण्ड मत का वर्णन करते हुए कहा है:–

इस प्रकार का पाखण्डमत फैल रहा था। यह दोष जैन धर्म में भी न आ जावे, इसके लिए स्त्री त्याग व्रत को अलग बना दिया है। जब लोग सरल बुद्धि और प्राज्ञ थे, तब चार महाव्रतों से ही मैथुन का त्याग हो जाता था। जब लोग वक्रबुद्धि और जड़मति होने लगे तो पांच महाव्रत बतलाये गये। यह कोई वास्तविक मतभेद नहीं है।

प्रवचन का अध्ययन करने वाला अर्थात् जो कालानुसार बहुश्रुत हो वह प्रावचनिक कहलाता है। पहले समय में बहुसूत्री पुरुष पूर्वधारी भी होते थे लेकिन यह बात सदा के लिए नहीं है। समय के अनुसार बहुत श्रुतों का ज्ञाता ही उस समय बहुश्रुत कहलाता है।

बहुश्रुत पुरुषों में मतभेद देखकर शंका में पड़ जाने से कलुषता आदि दोष उत्पन्न होते हैं और इस प्रकार कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन होता है।

चारित्र मोहनीय कर्म के क्षयोपशम की विचित्रता के कारण बहुसूत्री पुरुषों में मतभेद हो जाता है। किसी का क्षयोपशम विशेष निर्मल होता है, किसी का उतना निर्मल नहीं होता। इस कारण चारित्र में भेद पड़ जाता है। इसके अतिरिक्त उत्सर्ग और अपवाद, यह दो मार्ग हैं। इन दो मार्गों के कारण भी बहुसूत्री पुरुषों की स्थापना में भिन्नता आ जाती है।

प्रश्न हो सकता है कि इन दोनों की स्थापना में कौनसी स्थापना प्रमाण मानी जाय? इस प्रश्न का समाधान यह है कि दोनों में से किसी एक को अन्दाज से ही प्रमाण मानना उचित नहीं है। दोनों की स्थापना को आगम से मिलाकर जांचना चाहिए। जो आगमानुसार हो, उसे ही प्रमाणभूत समझना चाहिए।

उत्सर्ग और अपवाद शास्त्रानुमोदित मार्ग हैं। उत्सर्ग मार्ग में साधु नदी का पानी छूता भी नहीं है लेकिन अपवाद मार्ग में नदी उतरता भी है। दो साधुओं में से एक नदी नहीं उतरा और दूसरा आवश्यकता समझकर अपवाद मार्ग का आश्रय लेकर नदी उतरा। एक तीसरा देखने वाला आदमी इन दोनों का विभिन्न आचरण देखकर चक्कर में पड़ गया। उसने सोचा—इन दोनों में से किसका व्यवहार ठीक समझना चाहिए? निर्णय करने के लिए उसने आगम देखा। दशवैकालिकसूत्र में साधु को कच्चे पानी का स्पर्श करने का निषेध किया गया है, किन्तु आचारांगसूत्र में अपवाद रूप से नदी उतरने का कथन पाया जाता है। अतएव दोनों का ही व्यवहार शास्त्र से विपरीत नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार आगम की कसौटी पर कसने से जिस बहुश्रुत

पुरुष का कथन आगम के अनुकूल हो वह ठीक है। जिसका कथन आगम से प्रतिकूल हो वह मान्य नहीं हो सकता।

किन्तु अपवाद या उत्सर्ग का नाम लेकर कोई मनचाहा सिद्धान्त प्रचलित करना चाहे तो वह अनुमोदनीय नहीं है। आगम ही इस विषय में अभ्रान्त कसौटी है। इस काल में आगम ही अन्तिम निर्णायक है। आगम से जो विधान प्रतिकूल है वह न उत्सर्ग है, न अपवाद है। उदाहरणार्थ—अगर कोई यह स्थापना करे कि उत्सर्ग मार्ग में साधु को स्त्री संसर्ग करना निषिद्ध है लेकिन अपवाद मार्ग में हर्ज नहीं है। ऐसी स्थापना के लिए स्थापना करने वाले से पूछना चाहिए कि किस आगम के आधार पर ऐसी प्ररूपणा की जाती है? अगर तुम्हारी स्थापना को आगम का आधार नहीं है तो वह मान्य नहीं हो सकती।

सारांश यह है कि प्रावचनिकों में मतभेद देखकर किसी प्रकार की शंका नहीं करना चाहिए किन्तु आगम में प्रमाण देखकर निर्णय कर लेना चाहिए कि किसका कथन ठीक है। जो अपनी बात के लिए आगम का प्रमाण बतलावे उसकी बात मानने योग्य है। जो न बतलावे उससे स्पष्ट कहना चाहिए कि आगम—प्रमाण के अभाव में हमें यह बात मान्य नहीं है।

कई बातें ऐसी होती हैं जिनके संबंध में आगम में स्पष्ट उल्लेख नहीं पाया जाता। इसके लिए भगवतीसूत्र में और व्यवहारसूत्र में पांच व्यवहार बतलाये हैं। जब आगम व्यवहार चलता हो, दशपूर्वधारी तक मुनि विचरते हों, तब उनकी आज्ञा मान्य है। दशपूर्वधारियों के अभाव में, सूत्रों में जो लिखा हो वह मान्य होता है। कोई अपनी परम्परा की समाचारी का आग्रह करे तो सूत्र की बात के विरुद्ध परम्परा की समाचारी नहीं चल सकती। जब सूत्र में कोई स्पष्ट बात न हो तब परम्परा की समाचारी मानना चाहिए। परम्परा की समाचारी भी न हो तो धारणा को मानना चाहिए और जब धारणा भी न हो तो लोक और लोकोत्तर आचार से अविरुद्ध जित—आचार जिसकी स्थापना बहुत आचार्यो ने मिल कर की हो मान्य है। यह जिताचार भी भगवान् की आज्ञा में है।

प्रावचनिक के आगे कल्पान्तर की बात आती है। कोई मुनि जिनकल्पी और कोई स्थविर कल्पी हैं। दोनों के आचार में अन्तर भी है। इन दोनों के कल्प देखकर शंका हो जाती है और कांक्षा, विचिकित्सा, कलुषता आदि द्वारा कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन होता है।

कल्प के विषय में शंका इस प्रकार होती है—जिन—कल्पी मुनि नग्न रहते हैं। नग्न रहने में बड़ा कष्ट होता है उनके कल्प में यह कष्ट सहन कर्म क्षय के लिए है। इस पर शंका होती है कि नग्न रहकर कष्ट सहन करना ही अगर कर्मक्षय का कारण है तो स्थविर कल्पी मुनि वस्त्र पात्र आदि का परिभोग करते हैं, इन्हें जिनकल्पी की भांति कष्ट नहीं होता, फिर इनका कल्प कर्मक्षय का कारण किस प्रकार हो सकता है? अगर स्थविरकल्प भी कर्मक्षय का कारण है तो फिर नग्न रहने का उपदेश क्यों दिया गया है?

यही दिगम्बर—श्वेताम्बर का झगड़ा है। कई लोग हठ में पड़कर कहते हैं कि कपड़े रखने वाला साधु नहीं हो सकता और कई इसके विपरीत कहते हैं कि कपड़े न रखने वाला— नग्न रहने वाला साधु नहीं हो सकता। यह झूठी खींचतान है। अगर कपड़े रखने में साधुत्व न होता और जिन शास्त्रों में कपड़ा रखने का विधान है, वे शास्त्र बाद में रचे गये होते तो श्वेताम्बर शास्त्रों में लिखा होता कि कपड़ा न रखने में साधुत्व नहीं है। लेकिन श्वेताम्बर शास्त्रों में कपड़ा रखने और न रखने—दोनों में ही साधुपना माना गया है।

इस शंका का समाधान यह है कि सर्वज्ञ भगवान् ने जो उपदेश दिया है वो कल्प कहलाता है। उसमें कोई भेद नहीं है। कर्म का क्षय दोनों कल्पों से होता है। अवस्था और शक्ति के भेद से यह दोनों कल्प अलग—अलग हैं, मगर कर्म का क्षय दोनों से होता है। जिनकल्पी साधु में यह कल्प पालने की शक्ति है, और स्थविर कल्पी में वस्त्र छोड़ने की शक्ति नहीं है। या काल के भेद से उन्हें वस्त्र पात्र न रखने में असुविधा प्रतीत होती है, तो स्थविर कल्पी रहकर वस्त्र—पात्र रखने में भी हर्ज नहीं है। अवस्था और काल के अनुसार दोनों कल्प कर्मक्षय के कारण हैं। इसके अतिरिक्त कष्ट सहना ही कर्मक्षय का कारण नहीं है। साधुता मूलगुण है और कष्ट सहना उत्तर गुण है। उदाहरण के लिए कल्पना कीजिए, कोई साधु मासखामण का पारणा करता है। दूसरा साधु ऐसा तो नहीं करता किन्तु संयम अच्छी तरह पालता है। जो मासखामण की तपस्या करता है वह उत्तरगुण की वृद्धि करता है लेकिन जो साधु मासखामण की तपस्या नहीं करता, इसके लिए यह नहीं कहा जा सकता कि वह मूल गुण साधुता का पालन नहीं करता है बल्कि ऐसा भी होता है कि मासखामण करने वाला उसी भव में मोक्ष नहीं जाते और कई न करने वाले उसी भव में कर्मक्षय करके मोक्ष को चले जाते हैं। इसके अतिरिक्त जिस मुनि पर संघ तथा धर्म की सेवा का बोझ है, वह यदि भोजन न करेगा, तो

उससे काम कैसे हो सकेगा? उसके लिए तो अन्न खाकर वैयावृत्य करना ही उचित है। अगर वह ऐसा नहीं करता तो भगवान् की आज्ञानुसार वह आराधक नहीं होता, बल्कि कृतघ्न और महामोहनीय कर्म बांधने वाला है। जो मुनि तपस्या का नाम लेकर बैठ जाता है और अपनी जिम्मेदारी की वैयावृत्य नहीं करता उसे भगवान् ने आराधक नहीं कहा है।

कल्पना कीजिए संवत्सरी के दिन दो श्रावकों में से एक ने विचार किया—आज मुझे पोषध (पोषधोपवास) करना था, लेकिन मेरे जिम्मे पशुओं को घास पानी देना है। अगर मैं उन्हें घास—पानी न दूंगा तो वे भूखे रहेंगे। दूसरे श्रावक ने सोचा 'आज मैं भूखा रहूंगा और इसी प्रकार मेरे संरक्षण के पशु भी भूखे रह जाएंगे। उन्हें भी निर्जरा धर्म की प्राप्ति होगी। इस प्रकार विचार कर दूसरे श्रावक ने पोषध किया और उसने पोसा नहीं किया। पहले श्रावक ने सोचा—किसी और को भूखे मारना भगवान् की आज्ञा में नहीं है। मुझसे जितना होगा उतना प्रतिक्रमण आदि करूंगा, लेकिन पशुओं को भूखा नहीं मारूंगा।

संध्या समय दोनों श्रावक साधु के पास पहुंचे। दोनों ने अपने—अपने विचार साधु के सामने उपस्थित किये और पूछा हम दोनों में कौन आराधक है? कौन विराधक है? साधु यह उत्तर देंगे—भगवान् ने श्रावक के स्थूल प्राणातिपात विरमण व्रत के पांच अतिचार बतलाये हैं। यह व्रत मूलगुण है। बिना मूलगुण के उत्तर गुण ठीक नहीं रहता। श्रावक के बारह व्रतों में पांच मूल गुण हैं, तीन गुण व्रत हैं और चार शिक्षाव्रत हैं। मूल गुण को छोड़ देना और उत्तर गुण को ले बैठना ठीक नहीं है।

साधु ने कहा—पहला व्रत मूलगुण है। भगवान् ने आनन्द श्रावक से इस पहले व्रत की पांच मर्यादाएं बतलाकर कहा है— इन मर्यादाओं का उल्लंघन करने से व्रत का नाश होता जाता है। वह मर्यादाएं हैं—बंध, वध, छविच्छेद, अतिभारारोपण और भक्तपान—विच्छेद। अपने आश्रित को भात पानी न देने से श्रावक को अतिचार लगता है। जिसने अपने आश्रित पशुओं के भोजन—पानी की उपेक्षा करके पोषध किया, भात—पानी न देने के कारण उसे हिंसा हुई। उसके मूलगुण का भंग हो गया। जिसने अपनी जवाबदारी का काम करके अपने आश्रित पशुओं को भोजन पानी दिया है और पोषध नहीं किया है, उसने अपने मूलव्रत का पालन किया है। पोषध न करने से पहले व्रत में अतिचार नहीं लगता, वरन् भोजन—पानी न देने पर अतिचार लगता है।

अतएव पहला श्रावक आराधक है, दूसरा विराधक है। करुणाभाव उठ जाने पर फिर कोई धर्म नहीं ठहरता।

मतलब यह है कि कर्म का क्षय कष्ट सहने और कष्ट न सहने मात्र से ही नहीं होता। कष्ट सहने के लिए अपनी शक्ति का और संघ की शक्ति का विचार न करना भगवान् का मार्ग नहीं है। निर्ग्रन्थपन मूलगुण है और कष्ट सहना उत्तरगुण है। जैनधर्म यह नहीं कहता कि कोई काम अपनी शक्ति से अधिक करो। इस प्रकार दोनों कल्पों का लक्ष्य एक ही है। कल्पभेद से शंका, कांक्षा आदि में न पड़कर जिनदेव की मूल आज्ञा का विचार करना चाहिए।

कल्पान्तर के पश्चात् मार्गान्तर है। मार्ग का अर्थ है– परम्परा से चली आती हुई समाचारी–पद्धति। उस समाचारी में किसी की समाचारी दो चेत्यवंदन और अनेक प्रकार के कायोत्सर्ग रूप है और किसी की समाचारी ऐसी नहीं है। आजकल भी कोई पक्खी के दिन बारह 'लोगस्स' गिनकर कायोत्सर्ग प्रतिक्रमण करता है और कोई कम 'लोगस्स' गिनकर। इस प्रकार का अन्तर देखकर शंका हो जाती है कि न मालूम कौन–सी समाचारी सच्ची है? और न जाने किस समाचारी से मोक्ष होता है? इस प्रकार की शंका होने से कांक्षा; विचिकित्सा और कलुषता द्वारा मोहनीय कर्म का वेदन होता है।

यहां पर 'चैत्यवन्दन' का जो उल्लेख किया गया है, उसे देखकर कई लोग हठ करके कहते हैं कि मूर्तिवन्दन ही चैत्यवन्दन है। लेकिन यह बात ठीक नहीं है। ऐसा कहने वालों के माने हुए आचार्यो द्वारा ही इसका खण्डन हो जाता है। उनके आचार्यो द्वारा रचे हुए चैत्य वन्दन के भाष्य में लिखा है कि तीन बार नमस्कार मंत्र का जाप करना चैत्यवन्दन कहलाता है।

आवश्यक समाचारी के अन्तर्गत आये हुए चैत्यवन्दन का अर्थ अगर मूर्तिवन्दन ही होता हो तो फिर कहना होगा कि प्रत्येक साधु को अपने साथ एक–एक मूर्ति भी रखनी चाहिए। अतएव चैत्यवन्दन का अर्थ मूर्तिवन्दन करना ठीक नहीं है। 'लोगस्स' का ध्यान करना ही उपयुक्त अर्थ है और यही समाचारी में है भी।

मार्गान्तर विषयक शंका का समाधान यह है कि सब की समाचारी ठीक है। क्योंकि समाचारी के प्रवर्त्तक, गीतार्थ और सरल हैं तथा सब समाचारियां आचरित लक्षण से युक्त हैं। आचरित लक्षण का आशय बतलाने के लिए कहा गया है कि–

असठेण समाइण्णं जं कत्थइ केणइ असावज्जं।
न निवारयिमन्नेहिं, बहुमणुमयमेयमायरियं।।

अर्थात् सरल भाव वाले, निष्कपट पुरुष ने जिसका आचरण किया हो, जिसका शास्त्र में किसी स्थल पर निषेध न किया गया हो, जो असावद्य–निष्पाप हो, तथा बहुजन द्वारा अनुमत हो, उसे आचरित कहते हैं।

अगर चैत्यवन्दन का अर्थ मूर्तिवन्दन किया जाय तो फिर इस समाचारी में आचरित लक्षण नहीं घट सकता, क्योंकि फूल–माला द्वारा मूर्तिपूज्य करना असावद्य नहीं सावद्य है। साथ ही द्रव्यपूजा का साधुओं के लिए स्थान–स्थान पर निषेध किया गया है। अतएव चैत्यवन्दन का अर्थ मूर्तिवन्दन नहीं किन्तु 'लोगस्स' का ध्यान करना है।

आशय यह है कि वास्तविक समाचारियों में जो अन्तर दिखलाई देता है उनमें से किसी की समाचारी झूठी नहीं है। चाहे कोई चार 'लोगस्स' गिनकर कायोत्सर्ग करे, चाहे बारह गिनकर करे, चाहे बीस गिनकर। 'लोगस्स' गिनना कोई बुरा नहीं मानता। 'लोगस्स' एक पवित्र पाठ है, उसे जो जितना गिने उतना ही अच्छा है। किसी ने ज्यादा स्थिरता देखी तो ज्यादा 'लोगस्स' गिनने का नियम बनाया; किसी ने कम देखी तो कम गिनने का। इसमें कोई बुराई की बात नहीं है, अतएव सब की समाचारी प्रमाण है।

अब कुछ दिनों से संवत्सरी एक होने लगी है। पहले आगे–पीछे होती थी। कोई एक दिन पहले करता था, कोई एक दिन बाद। कोई एक मास पहले करता था, कोई मास पश्चात्। लेकिन भगवान् ने कहा है कि चातुर्मास लगने से एक मास बीस दिन पश्चात् संवत्सरी करना चाहिए। सवंत्सरी होने पर चातुर्मास के सत्तर दिन शेष रह जाते हैं। आचार्यों का कथन है कि चातुर्मास कम से कम चार महीनों का, मध्यम पांच महीनों का और अधिक से अधिक छह महीनों का होता है। अधिक मास चातुर्मास के मध्य में नहीं आता था, लेकिन आज जैन पंचांग नहीं है, इसीलिए इतना कह देना भर पर्याप्त नहीं है। अतएव आचार्यो का कथन ही ठीक है। संवत्सरी के अन्तर के कारण झूठा कोई नहीं है। सब सच्चे हैं। सभी का उद्देश्य सांवत्सरिक प्रतिक्रमण करना है। अतएव आगे–पीछे करने वाले सभी भगवान् की आज्ञा के आराधक हैं। अलवत्ता मेल करके एक साथ संवत्सरी करना सर्वश्रेष्ठ है।

मार्गान्तर के पश्चात् मतान्तर है। एक ही विषय में आचार्यों का भिन्न–भिन्न मत होना मतान्तर कहलाता है। यह मतविभिन्नता देखकर शंका करना फिर एकान्त पकड़कर कांक्षा, विचिकित्सा, कलुषता द्वारा–कौन सच्चा है ? कौन झूठा है? इस प्रकार की गड़बड़ में पड़ने से कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन होता है।

मतान्तर किस प्रकार होता है, इसके लिए एक उदाहरण दिया गया है—श्री सिद्धसेन दिवाकर और जिनभद्र गणि क्षमाश्रमण, दोनों बड़े विद्वान् आचार्य हुए हैं। इन दोनों में एक विषय पर मतभेद हो गया। सिद्धसेन दिवाकर का कथन है कि केवलज्ञान और केवलदर्शन एक साथ ही होता है। अगर ऐसा न माना जाय तो अनेक दोष आते हैं। यथा—जिस समय केवलज्ञान का उपयोग हो रहा है उस समय केवलदर्शन का उपयोग न माना जाय तो पूछा जा सकता है कि केवलज्ञान के उपयोग के समय केवलदर्शनावरण कर्म का उदय है या क्षय ? केवलदर्शनावरण का उदय तो केवली में नहीं माना जा सकता। फिर भी अगर केवलदर्शन का उपयोग नहीं होता तो उस समय केवलदर्शनावरण का क्षय निरर्थक ही माना जायगा। इसके अतिरिक्त केवली केवलज्ञान के समय, अगर केवल दर्शन के ज्ञेय को नहीं जानते तो असर्वज्ञ हो जाएंगे। इसी प्रकार अगर केवलदर्शन के उपयोग के समय केवलज्ञान के ज्ञेय को नहीं जानते तब भी असर्वज्ञता का प्रसंग आएगा। अतएव दोनों का एक साथ उपयोग मानना ही युक्तिसंगत है।

जिनभद्र गणि—क्षमाश्रमण का कथन है कि दोनों भिन्न– भिन्न समय–समय में होते हैं, क्योंकि जीव का स्वभाव ही ऐसा है। जीव जब सामान्य देखता है तो उसे विशेष का ज्ञान नहीं होता और जब विशेष का ज्ञान होता है तो सामान्य को नहीं देखता। जीव का ऐसा ही स्वभाव है। जैसे मतिज्ञानावरण और श्रुतज्ञानावरण कर्मो का क्षयोपशम एक साथ ही होने पर भी दोनों का उपयोग एक साथ नहीं होता। जब मतिज्ञान का उपयोग होता है तब श्रुतज्ञान का नहीं और जब श्रुतज्ञान का उपयोग होता है तब मतिज्ञान का नहीं। एक ज्ञान का उपयोग होने पर दूसरे का क्षयोपशम मिट जाता हो, ऐसी बात भी नहीं है। अतएव जैसे मतिज्ञान और श्रुतज्ञान, दोनों एक साथ क्षयोपशम होने पर भी क्रमपूर्वक ही होते है, उसी प्रकार केवलदर्शन और केवलज्ञान भी क्रमपूर्वक ही होते हैं।

मतिज्ञानावरण और श्रुतज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम की स्थिति 66 सागरोपम की है। अगर एक के उपयोग के समय दूसरे का उपयोग निरर्थक मान लिया जाय तो 66 सागरोपम पूरे न होंगे और स्थिति में कमी माननी पड़ेगी।

विशेषावश्यक भाष्य में इस चर्चा का विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है। सिद्धसेन दिवाकर ने क्षयिक और क्षायोपशमिक ज्ञानो का अन्तर दिखलाते हुए दोनों का खूब विचार किया है। जिनभद्र गणि क्षमाश्रमण ने भी

बहुत विचार किया है। इस विषय को लेकर दोनों आचार्यों में खूब प्रश्नोत्तर हुए हैं। अतएव इस प्रकार के मतभेद को देखकर शिष्यगण शंका में पड़ जाते हैं और कांक्षा, विचिकित्सा में पड़कर कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन करते हैं।

हमारे सामने यह प्रश्न उपस्थित होता है कि ऐसा मतभेद होने पर हमें क्या करना चाहिए? इस संबंध में शास्त्र कहता है कि अगर किसी पक्ष का युक्ति के बल से विधिनिषेध न किया जा सके तो शास्त्र से मिलान करो। जो पक्ष शास्त्र संगत हो उसे स्वीकार कर लो।

उक्त प्रश्नोत्तर के संबंध में, पन्नवणासूत्र में कहा है कि केवली भगवान जिस समय देखते हैं, उस समय जानते नहीं हैं और जिस समय जानते हैं, उस समय देखते नहीं हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि केवलज्ञान और केवलदर्शन का एक साथ उपयोग होना शास्त्र को अभीष्ट नहीं है। शास्त्र में दोनों का उपयोग अलग–अलग समय में बतलाया गया है। अतएव जिनभद्र गणि श्रमाश्रमण की बात शास्त्रानुकूल है।

यहां एक प्रश्न यह उपस्थित होता है कि यदि किसी मतभेद के विषय में शास्त्र में स्पष्ट उल्लेख न मिले तो किस प्रकार निर्णय करना चाहिए। इस संबंध में कहा गया है कि किसी पक्ष का आग्रह न करके जिस बात का निर्णय समझ में न आवे, उसके लिए कहना चाहिए कि जिन भगवान् की कही हुई बात ही सत्य है। 'नान्यथावादिनो जिनाः' अर्थात् जिनेन्द्र भगवान् अन्यथा भाषण नहीं करते। बड़े–बड़े आचार्यों का परस्परिक मतभेद कुछ भी क्यों न हो लेकिन जो आदमी सत्य झूठ का निर्णय नहीं दे सकता, जो बहुसूत्री नहीं है, उसे यह समझना चाहिए कि आचार्यों में यह मतभेद सम्प्रदाय (परम्परा) के कारण है; जिन भगवान् का मत तो एक ही है–भिन्न–भिन्न प्रकार का नहीं हो सकता। उनके मत में मतभेद नहीं है। जब विवादास्पद बात के विषय में आगम में कुछ भी निर्णय न प्रतीत हो तब यही भावना करनी चाहिए कि जिन भगवान् का कथन ही सत्य है। 'तत्वं केवलिगम्यम्।'

जैन धर्म में ही विवादास्पद बातों के विषय में ऐसा नहीं कहा गया है किन्तु संसार के समस्त धर्मों में ऐसा ही है। जैन धर्म में तो छोटी–सी बात में ही मतभेद हो सकता है लेकिन महाभारत और वेदों में तो बड़ी–बड़ी शंकाएं हो सकती हैं फिर भी अन्त में यही कहा जाता है कि जो बात हमारी समझ में नहीं आती है, उनका विचार महापुरुष करेंगे।

तात्पर्य यह है कि इस प्रकार की मत विभिन्नता की बातों के संबां में या तो शास्त्रों से निर्णय करना चाहिए या भगवान पर उन्हें छोड़ देना चाहिए। ऐसा निराग्रह निर्णय करने से कर्म का बंध न होगा।

धर्म के नाम पर ठगाई भी बहुत चलती है। कई लोग नीतिविरुद्ध कार्यों को भी धर्म में परिणत कर लेते हैं और इस प्रकार उसका समर्थन करते हैं कि दूसरे लोग भी ऐसे कामों में धर्म मानने लगे। जैसे—कुछ लोलुप लोगों ने मांस, मदिरा और मैथुन सेवन करने में भी धर्म मान लिया है। मगर ज्ञानी जन कहते हैं कि—तुम इन झगड़ों में मत पड़ो। वही बात मानो जो वीतराग ने कही है। वीतराग की वाणी सत्य क्यों है, इस विषय में कहा है:—

अणुवकयपराणुग्गह परायणा जं जिणा जुगप्पवरा।
जियराग—दोष—मोहा य, णण्णहा वाइणो तेणं।।

अर्थात्—जिन लोगों ने किसी प्रकार का उपकार नहीं किया है, उन लोगों पर भी अनुग्रह करने में परायण रहते हैं— उनका भी कल्याण किया करते हैं, युग प्रधान होते हैं और राग—द्वेष, मोह पर पूरी तरह विजय पाने वाले है, इसलिए जिन भगवान् मिथ्या कदापि नहीं बोल सकते।

दूसरे के उपकार के बदले में अनुग्रह करना विशेषता नहीं है। विशेषता इसी में है कि जिन्होंने उपकार नहीं किया, उन पर भी अनुग्रह किया जाये। जिन भगवान् उपकार न करने वाले का भी उपकार करते हैं। इतना ही नहीं, वरन् अपकार करने वाले का भी उपकार ही करते हैं। चण्डकौशिक ने भगवान् को दांत लगाये, काट भी खाया, फिर भी—

नाथ बिना बिगरी कौन सुधारे।
साधु सरोषी भयो चण्डकोशी, पन्नग महा दुखदाई रे।
डंक दियो तब प्रभु प्रतिबोधा, दिया स्वर्ग सुखदाई रे।।

।।बिगरी०।।

भगवान् महावीर में चण्डकौशिक के विष को सहन करने की शक्ति के साथ ही ऐसी शक्ति भी थी कि अगर वे उसकी ओर क्रोध की नजर से देख भी लेते तो भी वह भस्म हो जाता। भगवान् उसी समय चंडकौशिक को उसके अपराध की सजा दे सकते थे। लेकिन भगवान् चाहकर स्वयं उसकी बांबी पर गये। लोगों ने मना किया, फिर भी वे न माने। उन्होंने परानुग्रह परायणता से उसके वहां जाकर, उससे डंक लगवा कर भी उसे बोध दिया।

सूर्य किसी की विनय—भक्ति से प्रसन्न होकर प्रकाश नहीं देता किन्तु उसका स्वभाव ही ऐसा है कि वह विनयभक्ति करने वाले को और निन्दा करने वाले, दोनों को प्रकाश देता है। सूर्य द्रव्य प्रकाश करता है और भगवान् इसी प्रकार ज्ञान का भाव प्रकाश करते हैं।

भगवान् महावीर से पहले, लोगों में हाहाकार मचा हुआ था। औरों की बात छोड़िए एक चंडकौशिक से ही बहुत लोग घबराये हुए थे। भगवान् ने सब लोगों का दुःख दूर करने के लिए ही स्वयं कष्ट सहे थे और इन्द्र द्वारा पूजित होने पर भी अपने आपको चंडकौशिक से कटवाया था।

आज कई लोगों में परोपकार की भावना कम है। उन पर दूसरों का जो ऋण है, उसे भी वे नहीं समझते। उनसे यह भी तो नहीं होता कि उपकार का बदला ही चुका दें। यद्यपि दया बदले के लिए नहीं की जाती। किसी का कोई उपकार चढ़ा हो तो उसका बदला देने के लिए दया नहीं की जाती है, फिर भी किसी का उपकार न मानना कृतघ्नता है। जिसका हृदय दया से भरा हुआ है, वे बदले की आशा से दया नहीं करेंगे। वे तो सर्वथा निरपेक्ष एवं निस्पृह भाव से दया करते हैं। सच्ची दया है भी यही। निस्वार्थ बुद्धि से दूसरे का हित करना ही सच्ची दया है। ऐसी दया करने वाले परोपकारपरायण कहलाते हैं।

मतलब यह है कि जिसका मत सम हो, जिसमें राग–द्वेष न हो, उसका ही मत मानना चाहिए। जो राग–द्वेष को जीत चुके हैं, ऐसे अर्हंत के वचन झूठ नहीं हो सकते। इसलिए मतभेद के समय शास्त्र से निर्णय करना चाहिए। अगर शास्त्र से भी किसी बात का स्पष्ट समाधान न मिलता हो तो उसे अर्हंत के ऊपर छोड़ देना चाहिए। शंका, कांक्षा आदि करके मोहनीय कर्म का बंध–वेदन नहीं करना चाहिए।

मतान्तर के पश्चात् कांक्षामोहनीय कर्म के वेदन का कारण भंगान्तर है। भंगान्तर का अर्थ है–भांगों का अन्तर। भांगों में अन्तर देख कर शंका हो जाती है और फिर कांक्षा, विचिकित्सा द्वारा कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन होता है।

भंगों के विषय में शंका इस प्रकार होती है–

(1) द्रव्य से हिंसा, भाव से नहीं।

(2) भाव से हिंसा, द्रव्य से नहीं।

(3) द्रव्य से भी हिंसा नहीं, भाव से भी हिसा नहीं।

(4) द्रव्य से भी हिंसा, भाव से भी हिंसा।

यह हिंसा संबंधी चार भंगे हैं। इनमें से पहले भागे के लिए यह शंका होती है कि उसमें हिंसा का लक्षण नहीं घटता, फिर उसे हिंसा कहने का क्या प्रयोजन है? द्रव्य से हिंसा हो पर भाव से न हो तो वह हिंसा नहीं कहलाती। जैसे मुनि ईर्या समिति से देखकर चलते हैं, फिर भी उनके पैर से कीड़ी मर

जाय तो मुनि को कीड़ी मारने की हिंसा नहीं लगती। इसी प्रकार भावहीन द्रव्य हिंसा में हिंसा का लक्षण घटित नहीं होता। हिंसा का लक्षण इस प्रकार है:–

जो उ पमत्तो पुरिसो, तस्स उ जोगं पडुच्च जे सत्ता।
वावज्जंति नियमा, तेसिं सो हिंसओ होइ।।

अर्थात्–जो पुरुष प्रमादी है, अहंकार, विषय–कषाय आदि प्रमादों का वशवर्त्ती है, उसके योग द्वारा प्राणी की जो हिंसा होती है; उसे नियम से हिंसा समझना चाहिए। तात्पर्य यह है कि प्रमाद के योग से जीव का मारना हिंसा है।

हिंसा का यह लक्षण है, इसलिए ईर्यासहित चलने वाले मुनि द्वारा जीव के मरने के पहले भांगे के अनुसार हिंसा कैसे कह सकते हैं? मुनि के द्वारा जो जीव मरता है वह प्रमाद के अभाव से हिंसा के अन्तर्गत नहीं होता। अगर इस प्रकार जीव के मरने को भी हिंसा माना जाय तो कोई भी अहिंसक नहीं हो सकेगा। ऐसी दशा में प्रथम भंग में हिंसा का सन्निवेश क्यों किया गया है? इस प्रकार की शंका, कांक्षा, कलुषता आदि से कांक्षामोह का वेदन होता है।

इस शंका का समाधान आचार्य ने इस प्रकार किया है– हिंसा का जो लक्षण बतलाया गया है वह किस अभिप्राय से? लक्षण बतलाने की आवश्यकता वहीं होती है जहां वस्तु के समझने में गड़बड़ पड़ती हो। जैसे किसी ने गाय लाने को कहा। जिसे गाय लाने का कहा गया है उसने कभी गाय नही देखी और गाय के ही समान रोझ (गंवय) नामक पशु भी होता है। लाने वाला मनुष्य कहीं गाय के बदले रोझ न ले आवे, इसलिए उसे सींग, पूंछ आदि बतलाते हुए यह भी बतला दिया कि गाय के गले में झालर (सास्ना–गले मे लटकता हुआ चमड़ा) होती है। इस लक्षण को बतला देने से वह गड़बड़ मे नही पड़ेगा। इसी प्रकार हिंसा का लक्षण भी इसी अभिप्राय से बतलाया गया है कि दीखती हिंसा को ही हिंसा न समझा जाय। केवल जीव का मर जाना ही हिंसा नही है किन्तु प्रमाद के कारण जीव के प्राणो का व्यपरोपण करना हिंसा हैं। उक्त लक्षण केवल द्रव्यहिंसा मे घटित नही होता, बल्कि दोनो प्रकार की हिंसा मे घटित होता है। केवल द्रव्यहिंसा का लक्षण जीव का मरना ही है। इसीलिए पहले भांगे में संदेह करने का कोई कारण नही है।

दूसरा भांगा–भाव से हिंसा पर द्रव्य से हिंसा नही यह हैं। जैसे–तंदुलमच्छ, मछलियो को खा जाने का विचार करता है। उसने द्रव्यहिंसा तो नही हुई, किन्तु भावहिंसा अवश्य हुई।

तीसरा और चौथा भांगा स्पष्ट है। इसके संबंध में विवेचन की आवश्यकता ही नहीं है।

भंगान्तर के पश्चात् नयान्तर है। नय सात हैं। उन्हें संक्षेप में द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक, इन दो भेदों के अन्तर्गत किया जाता है। द्रव्यार्थिक नय के अभिप्राय से जो वस्तु नित्य है, वही पर्यायार्थिक नय के अभिप्राय से अनित्य है। द्रव्यार्थिक शुद्ध द्रव्य को विषय करता है। उसकी दृष्टि में द्रव्य ही तत्व है। द्रव्य त्रिकाल में सदा विद्यमान रहता है। जो वस्तु भूतकाल में थी, वह वर्तमान में भी है और भविष्य में भी सदैव रहेगी। उसका कभी नाश होना सम्भव नहीं है। पर्यायार्थिक नय कहता है कि कोई वस्तु जैसी की तैसी नहीं रहती। प्रतिक्षण पुरानी वस्तु नष्ट होती है और नई उत्पन्न होती है। अतएव जो भूतकाल में थी वह वर्तमानकाल में नहीं और जो वर्तमानकाल में है वह भविष्य में नहीं रहेगी।

दोनों नयों का अन्तर देखकर शंका होती है कि एक ही वस्तु में नित्यता और अनित्यता कैसे हो सकती है? यह दोनों धर्म परस्पर विरोधी' हैं, एक साथ कैसे सम्भव हैं? अतएव इनमें से कोई एक अभिप्राय सच्चा और दूसरा अभिप्राय झूठा होना चाहिए। न मालूम कौन सच्चा है? कौन झूठा है?

इस प्रकार की शंका से कांक्षा, विचिकित्सा और कलुषता द्वारा कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन होता है।

इस शंका का समाधान यह है कि दोनों ही अभिप्राय सच्चे हैं। जिस वस्तु को जिस अपेक्षा से नित्य कहा है, उसे उसी अपेक्षा से अनित्य कहा जाय तो विरोध की बात है। जैसे– वस्तु द्रव्य की अपेक्षा से नित्य है और द्रव्य की अपेक्षा से अनित्य भी है; यह कहना परस्पर विरुद्ध है लेकिन विभिन्न अपेक्षाओं से परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले धर्म भी अविरोधी हो जाते हैं। अपेक्षा में ऐसी शक्ति है कि विरोध को मथ डालती है। यह बात लोक में भी प्रसिद्ध है। एक ही आदमी अपने पिता की अपेक्षा पुत्र कहलाता है और पुत्र की अपेक्षा पिता कहलाता है। पिता होगा और पुत्र होना विरोधी बात प्रतीत होती है और एक ही अपेक्षा से दोनों का होना विरोधी ही है। जैसे–एक आदमी पिता भी है, यह कहना विरुद्ध है लेकिन भिन्न–भिन्न अपेक्षाओं के कारण विरोध हट जाता है। वही आदमी अपने पिता का पुत्र है और अपने पुत्र का पिता है।

इसमें विरोध की बात कौन–सी है?

इसी प्रकार एक बैठे हुए मनुष्य को छहों दिशाओं में कहा जा सकता है। एक ही जगह बैठा हुआ किसी अपेक्षा से पूर्व में है, किसी अपेक्षा से पश्चिम में, किसी अपेक्षा से उत्तर, दक्षिण और ऊर्ध्व तथा अधोदिशा में भी है।

इसी तरह द्रव्यास्तिक नय से किसी वस्तु को नित्य कहना और पर्यायास्तिक नय से अनित्य कहना परस्पर विरोधी नहीं, वरन् सत्य है। इसका कारण यह है कि वस्तु द्रव्य रूप भी है और पर्याय रूप भी है। द्रव्य और प्रर्याय–दोनों ही सत्य है। द्रव्य के अभाव में पर्याय और पर्याय के अभाव में द्रव्य रह नहीं सकता। हमें द्रव्य और पर्याय दोनों साथ–साथ रहते हुए ही प्रतीत होते हैं। द्रव्य त्रिकाल में एक–सा रहता है अतएव वह नित्य है। पर्याय प्रतिक्षण पलटता रहता है, इसलिए वह अनित्य है। द्रव्यास्तिक नय का विषय द्रव्य और पर्यायास्तिक नय का विषय पर्याय है।

नयान्तर के पश्चात् नियमान्तर आता है। नियम का अर्थ है–हठ या अभिग्रह। नियम में अन्तर देखकर भी शंका हो जाती है। जैसे–जब साधुपन अंगीकार किया तब सब प्रकार के सावद्ययोग का प्रत्याख्यान कर दिया है। फिर पोरसी, दोपोरसी आदि का पच्चक्खाण क्यों किया जाता है? सामायिक करने में सब गुण आ चुके फिर सामायिक करने के बाद भी पोरसी आदि का त्याग क्यों बतलाया गया है?

इस प्रकार की शंका होने से कांक्षा, विचिकित्सा और कलुषता द्वारा कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन होता है।

इस शंका का समाधान यह है कि सामायिक होने पर भी पोरसी आदि का त्याग लेना ठीक ही है क्योंकि सामायिक से प्रमाद का नाश और अप्रमाद की वृद्धि होती है। सामायिक में सावद्य योग का त्याग कर देने पर भी गफलत आ जाती है उसे मिटाने के लिए पोरसी, दो पोरसी आदि का त्याग करना अनुचित नहीं है। इस संबंध में प्रमाण यह है:–

सामाइए वि हु सावज्जचागरूवे उ गुण करं एयं।
अपमाय बुड्ढिजणगत्तणेण आणाओ विण्णेयं।।

अर्थात्–सर्व सावद्यत्याग रूप सामायिक के होने पर भी पोरसी वगैरह का नियम करना गुणकारक है, क्योंकि ऐसे नियम अप्रमाद को बढ़ाने वाले है। यह आज्ञा से है।

धारण किये जाएं, अच्छा ही है। जिसे प्राप्त करने के लिए घर छोड़ा है, उसे अधिक से अधिक प्राप्त करना बुरा नहीं है।

नियमान्तर के बाद प्रमाणान्तर आता है। शास्त्र में प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम और उपमान—यह चार प्रमाण माने गये हैं। इनमें शंका इस प्रकार होती है—आगम भी प्रमाण है और प्रत्यक्ष भी प्रमाण है मगर इन दोनों में विरोध प्रतीत होता है। जैसे—आगम में कहा है कि सूर्य सुमेरू की समतल भूमि से आठ सौ योजन ऊपर घूमता है और प्रत्यक्ष में सूर्य पृथ्वी से निकलते देखा जाता है। इस प्रकार के विरोध के कारण दोनों प्रमाण कैसे माना जाय?

इस प्रकार की शंका होने पर कांक्षा, विचिकित्सा आदि द्वारा कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन होता है।

इस शंका का समाधान यह है कि आंखों से जो कुछ जैसा दिखाई देता है, वह सदा सत्य ही हो, ऐसा नियम नहीं है। अनेक कारणों से आंखों को भ्रम हो जाता है। आंखों में पूर्णता नहीं है। पीलिया रोग वाला सफेद चीजों को पीला देखता है तो क्या उसका देखना प्रमाण माना जा सकता है? इसी प्रकार बहुत ऊपर से नीचे की वस्तु और नीचे से ऊपर की वस्तु छोटी दिखाई देती है लेकिन वास्तव में वह क्या छोटी हो जाती है? नहीं, यह आंखों का भ्रम है अतएव हम अपनी आंखों पर पूरी तरह निर्भर नहीं रह सकते। अतएव पूर्णज्ञानी महापुरूषों ने अपनी दिव्य दृष्टि से देखकर जो निरुपण किया है, वही सत्य है।

यहां यह शंका की जा सकती है कि अगर हमारा प्रत्यक्ष भ्रान्त है तो उसे प्रत्यक्ष प्रमाण क्यों माना गया है? इस शंका का समाधान यह है कि जिस ज्ञान में प्रत्यक्ष का लक्षण पाया जाय वही प्रत्यक्ष प्रमाण है। जो प्रत्यक्ष, भ्रान्त होता है वह प्रत्यक्ष नहीं। किन्तु प्रत्यक्षाभास है उसे प्रमाण नहीं माना जाता। इस प्रकार प्रमाणों में कोई विरोध नहीं है—प्रमाण और प्रमाणाभास में विरोध हो सकता है।

इन सब कारणों से श्रमण निर्ग्रन्थ कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन करता है। यहां यह प्रश्न उपस्थित होता है कि कांक्षा मोहनीय मिथ्यात्व मोहनीय है और श्रमण निर्ग्रन्थ में मिथ्यात्व होता नहीं है। श्रमण निर्ग्रन्थ को दो ही क्रियाएं लगती है—आरंभिया और मायावत्तिया। ऐसी दशा में श्रमण निर्ग्रन्थ कांक्षामोहनीय कर्म किस प्रकार वेदते हैं? अगर वेदते हैं तो उन्हें श्रमण निर्ग्रन्थ कैसे कहा जा सकता है?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि श्रमण निर्ग्रन्थ में मोह का किंचित् विकार अभी तक विद्यमान है। दर्शन मोहनीय कर्म का क्षयोपशम होने से सम्यक्त्व तो है लेकिन क्षयोपशम में प्रदेशों का किंचित् उदय रहता है और उससे कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन एवं बंध होना सहज है। शंका होने पर भी अगर खींच–हठाग्रह न करे तो अतिचार ही रहता है और जब तक अतिचार है तब तक साधुपना भी हैं। खींच करने पर अनाचार हो जाता है और अनाचार की अवस्था में साधुपना नहीं रहता। साधु प्रतिदिन शंका, कांक्षा का प्रतिक्रमण करते हैं। छद्मस्थ बुद्धि के कारण शंका कांक्षा हो ही जाती है, लेकिन हठ नहीं करना चाहिए। हठ न किया जाय तो शंका आदि का दोष प्रतिक्रमण से दूर हो जाता है।

इसके पश्चात् गौतम स्वामी पूछते हैं–अगर शंका हो और समाधान करने वाला कोई न मिले तो क्या 'जिन' के वचन सत्य और निःशंक हैं? छद्मस्थ होने के कारण शंका, कांक्षा तो हो ही जाती है लेकिन ऐसे समय में जिन भगवान् का शरण ग्रहण करलें तो क्या जिन के वचन सत्य हैं? इसके उत्तर में भगवान् ने फरमाया–हे गौतम! हां, वही बात सत्य और निःशंक है जो जिन ने कही है। जिन की कही हुई बात को तथ्य मानने से शंका कांक्षा आदि समस्त दोष दूर हो जाएंगे।

यहां पर आगे का पाठ भी बोलना चाहिए कि इस प्रकार विचार करे, आचरण करे (आदि) तो वह जिन भगवान् की आज्ञा का आराधक होगा।

भगवान् ने यह अमोघ मंत्र बतलाया है। भगवान् सर्वज्ञ थे, भूत और भविष्य का उन्हे पूर्ण ज्ञान था, आगे चलकर काल के दोष से कई बातें विरुद्ध नजर आएंगी और तरह तरह के तर्क–कुतर्क उत्पन्न होंगे और इन कारणो से कांक्षामोहनीय के वेदन का समय आयेगा। उस समय जीव किसका आश्रय लेगा इसी उद्देश्य से भगवान् ने कहा है कि 'जिन' की कही बात सत्य है। इस प्रकार का निश्चल श्रद्धान होने से कांक्षामोहनीय कर्म के वेदने का समय नही आता।

कही बात सत्य है।' इस प्रकार विचारने और मानने से काल का यह विकराल तूफान भी कुछ नहीं बिगाड़ सकता। धर्म–मार्ग में शंका आदि की तरंगें उठने पर ऐसा विचार करने से वे तरंगें और आनन्ददायी बन जाती हैं। उस समय श्रमण यह सोचने लगता है कि भगवान जिन ने श्रमण निर्ग्रन्थ को कांक्षामोहनीय कर्म वेदन के जो कारण बतलाये हैं, वे सर्वथा सत्य ही हैं यह अनुभव मुझे इस शंका के उठने से हो रहा है। सचमुच जिन का कथन सत्य है।

एक ग्रंथ में देखा है कि धर्मात्मा को दुःखी और पापी को सुखी देखकर सम्यग्दृष्टि के हृदय में और प्रसन्नता होती है। इस स्थिति को देखकर सम्यग्दृष्टि यह विचार करता है कि ज्ञानी पुरुषों ने दस प्रकार का जो विषमकाल बतलाया है वह सत्य दिखाई दे रहा है। यह विषमता भगवान् की वाणी की सत्यता को सूचित कर रही है।

जो लोग पाप का राज्य चला रहे हैं वे मौज करते दिखाई देते हैं। और जो लोग धर्म की तरफ रहते हैं, लाठियां खाते और मोटे कपड़े पहनते हैं? इस विषमता को देखकर सम्यग्दृष्टि घबराते नहीं हैं, किन्तु हृदय और अधिक स्थिर हो जाता है।

भगवान् ने गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में कहा– हां गौतम! वही बात सत्य और निशंक है, जो जिन की कही हुई है।

सेवं भंते! सेवं भंते! गौतम बोल्या सही।
श्री वीरजी का वचनां में सन्देह नहीं।।
हाथ जोड़ी मान मोड़ी, गौतम बोल्या सही।
श्री वीरजी का वचनां में सन्देह नहीं।।

श्री गौतम स्वामी ने 'सेवं भंते, सेवं भंते' कह कर अपनी बुद्धि को भगवान् के ज्ञानसागर में मिला दिया।

प्रथम शतकः चतुर्थ उद्देशक

कर्म प्रकृतियां

तीसरे उद्देशक में कर्म की उदीरणा एवं वेदना संबंधी चर्चा की गई है। इस चौथे उद्देशक में कर्म के भेदों का निरूपण किया जायेगा। शतक के प्रारंभ में जो संग्रह गाथा कही गई है, उसमें इस चौथे उद्देशक के लिए 'कर्मप्रकृति' संज्ञा दी गई है। उसी के अनुसार इस उद्देशक मे कर्म प्रकृतियों का वर्णन किया जाता है।

प्रश्न—कइ णं भंते! कम्मप्पगडीओ पण्णत्ताओ?

उत्तर—गोयमा! अट्ठकम्मप्पगडीओ पण्णत्ताओ, कम्मप्पगडीए पढमो उदेसो नेयव्वो जाव अणुभागो समत्तो।

गाहा—

कइ पयडी? कह बंधई? कइहिं च ठाणेहिं बंधइ पयडी?
कइ वेदेइ य पयडी? अणुभागो कइविहो कस्स?।।

संस्कृत—छाया

प्रश्न—कति भगवन्! कर्मप्रकृतयः प्रज्ञप्ताः?

उत्तर—गौतम! अष्ट कर्मप्रकृतयः प्रज्ञप्ताः। कर्मप्रकृत्याः प्रथम उद्देशको ज्ञातव्यो यावत् अनुभागः समाप्तः।

गाथा—

कति प्रकृतयः! कथं बध्नाति? कतिभिश्च स्थानैर्बध्नाति प्रकृतीः?
कति वेदयति च प्रकृतीः? अनुभागः कतिविधः' कस्य?

शब्दार्थ

गाथा–

कितनी कर्म प्रकृतियां हैं? किस प्रकार बंधती हैं? कितने स्थानों से कर्म प्रकृतियां बंधती हैं? कितनी प्रकृतियां वेदता है? और किस प्रकृति का कितना रस है?

व्याख्यान

यहां सर्व प्रथम गौतम स्वामी ने कर्म प्रकृतियों की संख्या के संबध में प्रश्न किया है। भगवान् ने उत्तर में आठ कर्म प्रकृतियां बतलाई हैं।

कर्म के विषय में पहले कहा जा चुका है। व्याकरण के अनुसार कर्त्ता, जिसके साथ क्रिया–रूप व्यापार करता है, उसे कर्म कहते हैं। जैसे 'देवदत्त चावल पका रहा है।' इस वाक्य में पकाने की क्रिया चावल के साथ की जाती है, इसलिए यहां चावल कर्म है और देवदत कर्त्ता है। व्याकरण के अनुसार दो प्रकार की क्रिया होती है–सकर्मक और अकर्मक। जिस क्रिया का कोई कर्म हो, वह सकर्मक कहलाती है। जैसे पूर्वोक्त पकाने की क्रिया। जिस क्रिया में कर्म नहीं होता, वह अकर्मक कहलाती है, जैसे देवदत्त सोता है। इस वाक्य में कर्म नहीं है, यहां कर्त्ता के साथ ही क्रिया का व्यापार है। कर्म पृथक् नहीं है। गीता में कहा है–

कर्मण्येवाधिकारस्ते, मा फलेषु कदाचन।

यहां कर्त्ता द्वारा होने वाली क्रिया को ही कर्म शब्द से कहा गया है।

यद्यपि व्याकरण और गीता के इस वाक्य में कर्म का जो अर्थ लिया गया है, उसे मानने में कोई आपति नहीं है तथापि इस प्रकरण में कर्म का अर्थ दूसरा है। सम्पूर्ण चौदह राजू लोक में कार्मण वर्गणा के परमाणु भरे हुए हैं। आत्मा अपने अध्यवसाय से खींचकर उन्हें अपने साथ वद्ध करता है। तव उनकी कर्म संज्ञा होती है। मदिरा पुद्गल–परमाणुओं का समूह है, जड़ है। उसमें पीने वाले को नशा लाने का धर्म है। नशा मदिरा पीने पर होता है, नहीं पीने पर नहीं होता। मनुष्य को जव मदिरा पीने की इच्छा होती है, तभी वह पीता है और जव पीता है तभी मदिरा का धर्म पीने वाले पर आता है। इसी प्रकार कर्म वर्गणा के परमाणु लोक में सव जगह भरे हैं। मिथ्यात्व आदि कारणों से जीव उन परमाणुओं को अपनी ओर खींचता है और दूध–पानी की तरह एकमेक कर लेता है। जव जीव उन्हें अपने साथ मिला लेता है तव जिस प्रकृति का जो धर्म है, उसी के अनुसार वह उस जीव को फल देने लगती है।

प्रकृति का अर्थ है–स्वभाव। जैसे मदिरा के परमाणु नशा देते हैं, इमली खट्टापन देती है, शक्कर मिठास देती है, यह इन पुद्गलों का स्वभाव

है। इसी प्रकार कर्म की प्रकृतियों के विषय में समझना चाहिए। कर्म की कोई प्रकृति ज्ञान को आच्छादित करती है, उसका नाम ज्ञानावरणीय है। कोई प्रकृति दर्शन को ढंकती है, वह दर्शनावरणीय कहलाती है। इस प्रकार मूल प्रकृतियां आठ हैं और उनके कार्य भी भिन्न–भिन्न हैं।

गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में भगवान फरमाते हैं– हे गौतम! मूल प्रकृतियां आठ हैं। इनका विशेष वर्णन प्रज्ञापना सूत्र के कर्म प्रकृति नामक तेईसवें पद के पहले उद्देशक में है।

प्रज्ञापना सूत्र में प्रकृतियों का जो वर्णन किया गया है, उसका संक्षेप इस प्रकार है–

उक्त सूत्र में पहले प्रश्न किया गया है–भगवन्! कर्म प्रकृतियां कितनी हैं?

भगवान् ने फरमाया–हे गौतम! आठ कर्म प्रकृतियां हैं।

यहां एक प्रश्न उपस्थित होता है कि कर्म आत्मा को लगते कैसे हैं? कर्म जड़ हैं, उन्हें कुछ ज्ञान नहीं है। वे स्वयं आकर आत्मा को लग नहीं सकते। इसके सिवाय कर्म रूपी हैं और आत्मा अरूपी है। अरूपी के साथ रूपी का संबंध किस प्रकार होता है?

इस बात को दृष्टि में रखकर गौतम स्वामी फिर पूछते हैं–भगवन्। जीव कर्म प्रकृतियां कैसे बांधता है?

भगवान् फरमाते हैं–हे गौतम! कर्म ही कर्म को बांधता है। जिसमें कर्म है, उसी को कर्म बंध होता है। जिसके कर्म नहीं है, उसे नहीं बंधते।

इस पर यह शंका होती है कि जीव अगर स्वभाव से अरूपी और अकर्मा है, तो कभी न कभी कर्म बंध का आरम्भ हुआ होगा। उस समय अकर्मा (अरूपी) होने पर भी जीव के साथ जड़ रूपी कर्म का बंध कैसे हुआ ?

इसका समाधान यह है कि कर्मबंध आत्मा को अनादि काल से होता आया है। यद्यपि प्रत्येक बंधने वाले कर्म की आदि है, मगर कर्म के प्रवाह की आदि नही है। प्रवाह रूप में कर्मबंध अनादिकालीन है। इस विषय में आगम प्रमाण है ही मगर प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण भी हैं। आत्मा प्रत्यक्ष प्रमाण (स्वसंवेदन) से सिद्ध है। भले ही आंखो से आत्मा दिखलाई न दे, फिर भी यह जो बोलने वाला, खट्टा–मीठा बताने वाला और आत्मा का निषेध करने वाला है, वही आत्मा है। जिसे मैं और मेरा इस प्रकार का ज्ञान होता है वही आत्मा है। सुख–दुःख का अनुभव आत्मा ही करता है। इस प्रकार जब आत्मा है तो यह देखना चाहिए कि आत्मा स्वतंत्र है या परतंत्र है? आत्मा की अनेक

शक्तियां रुकावट में पड़ी हैं। अगर रुकावट न होती तो दीवार के दूसरी ओर की बात क्यों न जानी जाती? इससे यह मालूम होता है कि आत्मा में शक्ति तो है मगर दबी हुई है। इस रुकावट को ही शास्त्रकार 'कर्म' कहते हैं।

आत्मा के साथ कर्म कब से लगे हैं, इसके संबंध में कहा जा चुका है कि अनादिकाल से ही कर्म आत्मा के साथ लगे हुए हैं। कर्मों के संयोग से आत्मा अनादिकाल से ही; स्वभाव से अमूर्त्तिक होते हुए भी मूर्तिक हो रहा है। इसीलिए अरूपी के साथ रूपी कर्मों का संबंध कैसे हुआ? इस प्रश्न का समाधान हो जाता है। तात्पर्य यह है कि संसारी आत्मा रूपी है और उसी को कर्म लगते हैं; अतः आत्मा और कर्म का संबंध, रूपी और अरूपी का संबंध नहीं है वरन् रूपी का रूपी के साथ संबंध है।

कदाचित् यह कहा जाय कि आत्मा सच्चिदानन्द था परन्तु कर्म आत्मा के साथ आ लगे। तो यह प्रश्न उपस्थित होता है कि आत्मा के किये बिना कर्म कैसे आ लगे? अगर बिना किये कर्म लगने लगें तो बड़ी गड़बडी होगी। अतएव यह कहना ही ठीक है कि आत्मा कर्म का कर्त्ता है और अनादिकाल से वह कर्मों को उपार्जन कर रहा है। हां, यह अवश्य है कि कोई भी एक कर्म अनादिकालीन नहीं है और न अनन्तकाल तक आत्मा के साथ रह सकता है। मगर एक के बाद एक, दूसरा और दूसरे के साथ तीसरा इस प्रकार कर्म नदी के जल प्रवाह के समान आते जाते रहते हैं।

अब प्रश्न यह है कि आत्मा ने किस कारण से कर्म किये हैं ? इसके संबंध में भगवान् फरमाते हैं–हे गौतम! ज्ञानावरणीय कर्म जो आत्मा ने पहले उपार्जन किया है, उसके होने पर दर्शनावरणीय कर्म भी उदय होता है। जब दर्शनावरणीय कर्म उदय आता है तो दर्शनमोहनीय कर्म अनुभव में आता है। दर्शनमोहनीय कर्म के उदय से जीव मिथ्यात्व को प्राप्त करता है। इस प्रकार जीव आठ प्रकार की कर्म प्रकृतियां बांधता है।

लेकिन यह ध्यान में रखना चाहिए कि कर्म प्रकृतियों के बंध का जो क्रम बतलाया गया है, वह बोलने में है। कर्म प्रकृतियों का बंध तो अनादिकाल से होता आया है। सारांश यह है कि कर्म के आकर्षण से ही कर्म आते हैं। तेल के चिकने घड़े के ऊपर धूल लगती है। धूल को यह ज्ञान नहीं है कि मैं कहां लग रही हूं लेकिन घड़े में चिकनापन है अतएव धूल लगती ही है। इसी प्रकार आत्मा यद्यपि स्वभाव से शुद्ध है लेकिन कर्म के लगने से उसमें चिकनापन आ गया है और उस चिकनेपन से कर्म चिपकते हैं।

प्रज्ञापनासूत्र में, इससे आगे गौतम स्वामी पूछते हैं–भगवन्! जीव कितने स्थानों द्वारा ज्ञानावरणीय कर्म बांधता है? इसके उत्तर में भगवान ने फरमाया– दो स्थानों द्वारा– राग और द्वेष द्वारा।

तत्पश्चात् वेदना के विषय में प्रश्न किया गया है– भगवन्! जीव कितनी प्रकार की कर्म प्रकृतियां वेदता है? इसका उत्तर इस प्रकार दिया गया है–गौतम! जीव कई कर्म प्रकृतियां वेदता है और कई नहीं वेदता है। वे आठ कर्म प्रकृतियां है। कोई जीव कम प्रकृतियां वेदता है, कोई ज्यादा।

गौतम स्वामी फिर पूछते हैं–भगवन्! जीव ज्ञानावरणीय कर्म वेदता है? उत्तर में भगवान् फरमाते हैं–हे गौतम! कोई जीव वेदता है, कोई नहीं वेदता। केवली ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय कर चुके हैं इसलिए वे नहीं वेदते।

गौतम स्वामी प्रश्न करते हैं–भगवन्! नैरयिक ज्ञानावरणीय कर्म वेदते हैं? भगवान् उत्तर देते हैं–हे गौतम! नारकी जीव ज्ञानावरणीय कर्म अवश्य वेदते हैं।

गौतम स्वामी प्रश्न करते हैं–भगवन्। कर्म का रस कितने प्रकार का होता है? भगवान् ने फरमाया–गौतम! इस प्रकार है–श्रोत्र आदि पांच द्रव्येन्द्रियों का आवरण होता है और श्रोत्रज्ञान आदि रूप पांच भावेन्द्रियों का भी।

कर्म प्रकृतियों के संबंध में प्रज्ञापना सूत्र में जो वर्णन किया गया है और जिसका उल्लेख यहां किया गया है, उस का संक्षिप्त सार यही है।

उपस्थान–परलोक की क्रिया

प्रश्न–जीवे णं भंते। मोहणिज्जेणं कडेणं कम्मेणं उदिण्णेणं उवट्ठाएज्जा?

उत्तर–हंता, उवट्ठाएज्जा।

प्रश्न–से भंते! किं वीरियत्ताए उवट्ठाएज्जा, अवीरियत्ताए उवट्ठाएज्जा?

उत्तर–गोयमा! वीरियत्ताए उवट्ठाएज्जा, णो अवीरियत्ताए उवट्ठाएज्जा।

प्रश्न–जइ वीरियत्ताए उवट्ठाएज्जा, किं बालवीरियत्ताए उवट्ठाएज्जा, पंडियवीरियत्ताए उवट्ठाएज्जा, बालपंडियवीरित्ताए उवट्ठाएज्जा?

उत्तर–गोयमा! बाल वीरियत्ताए उवट्ठाएज्जा, णो पंडियवीरियत्ताए उवट्ठाएज्जा, णो बालपंडियवीरियत्ताए उवट्ठाएज्जा?

संस्कृत–छाया

प्रश्न–जीवो भगवन्! मोहनीयेन कृतेन कर्मणा उदीर्णे नोपतिष्ठेत्?

उत्तर–हन्त, उपतिष्ठेत्।

प्रश्न–तद् भगवन्! किं वीर्यतयोपतिष्ठेत्, अवीर्यतयोपतिष्ठेत्?

उत्तर–गौतम! वीर्यतयोपतिष्ठेत्, नो अवीर्यतयोपतिष्ठेत्।

प्रश्न–यदि वीर्यतयोपतिष्ठेत्, किं बालवीर्यतयोपतिष्ठेत्, पण्डितवीर्यतयोपतिष्ठेत, बालपण्डितवीर्यतयोपतिष्ठेत्,?

उत्तर–गौतम! बालवीर्यतयोपतिष्ठेत्, नो पण्डितवीर्यतयो–पतिष्ठेत्, नो बालपण्डितवीर्यतयोपतिष्ठेत।

शब्दार्थ

प्रश्न—भगवन्! जब मोहनीय कर्म उदय में आया हो तब जीव उपस्थान—परलोक की क्रिया करता है?

उत्तर—हे गौतम! हां, उपस्थान करता है।

प्रश्न—भगवन्! जीव वीर्य से उपस्थान करता है या अवीर्य से?

उत्तर—हे गौतम! वीर्य से उपस्थान करता है, अवीर्य से नहीं करता।

प्रश्न—भगवन्! अगर वीर्य से उपस्थान होता है तो क्या बालवीर्य से होता है, पंडितवीर्य से होता है या बालपंडितवीर्य से होता है?

उत्तर—हे गौतम! उपस्थान बालवीर्य से होता है, किन्तु पंडितवीर्य से अथवा बालपंडितवीर्य से नहीं होता।

व्याख्यान—कर्म प्रकृतियों के विषय में सामान्य रूप से विचार करने के पश्चात् मोहनीय कर्म के विषय में विचार किया गया है। गौतम स्वामी विशेष रूप से मोहनीय कर्म की बात पूछते हैं।

गौतम स्वामी के प्रश्न पूछने का अभिप्राय यह है कि संसार में अज्ञान और ज्ञान—दोनों की क्रिया देखी जाती है। अज्ञान के वश होकर के भी आत्मा महान् से महान् और घोर से घोर कष्ट सहता है और ज्ञानी को भी कष्ट सहना पड़ता है। लेकिन दोनों की क्रिया किस—किस भाव से होती है? यह जानने के लिए गौतम स्वामी निम्नलिखित प्रश्न करते हैं। इस प्रश्नोत्तर से उन लोगों का कथन भी खंडित हो जाता है जो मिथ्यादृष्टि की क्रिया को भगवान् की आज्ञा में मानते हैं।

गौतम स्वामी पूछते हैं—जीव ने जो मोहनीय कर्म किया है, वह जब उदय में आया हो तब जीव परलोक के लिए क्रिया करता है ?

यहां मोहनीय कर्म का अर्थ साधारण मोहनीय कर्म नहीं किन्तु मिथ्यात्व मोहनीय कर्म की विवक्षा करके ही यह प्रश्न किया है कि मिथ्यात्व मोहनीय कर्म का उदय होने पर जीव परलोक साधन के लिए की जाने वाली क्रिया करता है? क्रिया को स्वीकार करता है?

परलोक साधन के लिए कई अज्ञानी भी परिश्रम करते है तथा मोक्ष चाहते है। मोक्ष प्राप्ति के उद्देश्य से वे ऐसी उग्र क्रिया करते हैं कि देखने वाले चकित रह जाते है। अतएव गौतम स्वामी यह प्रश्न करते हैं कि—अज्ञानी जीव मिथ्यात्व के उदय से ऐसी क्रिया करता है या अनुदय से?

गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में भगवान फरमाते है— हे गौतम! हां, मिथ्यात्व का उदय होने पर भी जीव ऐसी क्रिया करता है।

शंका—मासखमण आदि तप क्रिया क्षयोपशम भाव से होती है और शास्त्र कहता है कि मिथ्यात्व मोहनीय कर्म से भी ऐसा होता है। यह बात समझ में नहीं आती। इस परस्पर विरोधी बात का समाधान क्या है?

समाधान—इस प्रकार की शंका के कारण कइयों ने (श्वे. तेरह पंथियों ने) तो मिथ्यादृष्टि की क्रिया आज्ञा में ही मान ली है। लेकिन मिथ्यादृष्टि की क्रिया यदि आज्ञा में होती तो वह मिथ्यात्वमोहनीय के उदय से की गई क्यों मानी जाती? जो वस्तु जैसी है, उसे वैसी न समझकर उल्टी समझना मिथ्यात्व कहलाता है। जब मिथ्यात्वी की समझ ही उल्टी है तो उसकी क्रिया उल्टी क्यों नहीं होगी? और उल्टी मिथ्या क्रिया भगवान् की आज्ञा में किस प्रकार हो सकती है? मान लीजिए तीन पुरुष हैं। एक उद्योग करता है, दूसरा उद्योग नहीं करता और तीसरा मूर्खतापूर्वक विपरीत उद्योग करता है। मिथ्यादृष्टि की क्रिया इनमें से तीसरे प्रकार के उद्योग के समान है। तीसरे प्रकार का उद्योग करने की अपेक्षा उद्योग न करना बुरा नहीं है। इसी कारण मिथ्यादृष्टि की विपरीत क्रिया आज्ञा में नहीं है।

मिथ्यादृष्टि, मिथ्यात्व के उदय से विपरीत क्रिया करता है। उससे अगर सम्यक् प्रकार से क्रिया करने को कहा जाय तो वह नहीं करता और उससे विपरीत ही करता है। वह सच्चे उपदेश को नहीं मानता। ढ़ोंग, धतिंग की बात उसे पसंद आती है, सत्य के संबंध में प्रमादी रहता है और विपरीत बात के लिए अपना तन, मन, धन भी दे देता है। मिथ्यादृष्टि की ऐसी परिणति देखकर ज्ञानियों ने कहा है—मिथ्यात्व के उदय से विपरीत श्रद्धा होती है, सत् श्रद्धा नहीं होती।

व्यवहार में देखिए कि जिस काम को आप सच्चा और ठीक समझते हैं, उसमें कितना परिश्रम करते हैं और जिसे हानि रूप समझते हैं, उसमें कितना परिश्रम करते हैं? विवाह, मृत्युभोज आदि में खर्च करके भी कितना कष्ट सहते हैं? कोई न करने का उपदेश देता है तब भी नहीं मानते। यह मोह का उदय है। जब सम्यग्दृष्टि को भी मोह ऐसा बना देता है, तो मिथ्यादृष्टियों का क्या कहना है?

इस प्रश्न का अभिप्राय यह है कि जब मोहनीय कर्म के उदय से परलोक की क्रिया करता है तो उसमें पुरुषार्थ की क्या आवश्यकता है ? लेकिन भगवान् फरमाते हैं—बिना पुरुषार्थ के तो काम होता ही नहीं है।

भगवान् ने इसलिए उत्तर दिया—हे गौतम! वह उपस्थान वीर्य से होता है, अवीर्य से नहीं होता।

वीर्य का योग होने से प्राणी भी वीर्य कहलाता है। जैसे धन योग से मनुष्य धनिक कहलाता है, उसी प्रकार वीर्य के योग से वीर्यवान कहलाता है।

मोह कर्म का उदय होने पर भी क्रिया की जाती है मगर उस क्रिया का कर्त्ता जीव ही है, कर्म नहीं। उस प्राणी के प्राणीपन को वीर्यता (वीर्यत्व) कहते है और उस वीर्यता द्वारा ही वह परलोक साधन की क्रिया करता है।

वीर्यता का दूसरा अर्थ पराक्रम है और जिसमें पराक्रम हो उसे वीर्य (वीर्यत्व) कहते हैं।

गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में भगवान् फरमाते हैं— हे गौतम! मोहनीय कर्म के उदय से परलोक की क्रिया करने वाला वीर्यता से परलोक की क्रिया करता है, अवीर्यता से नहीं करता। वह स्वपराक्रम से क्रिया करता है, इसीसे उसका फल भी भोगता है।

अगर परलोक की क्रिया करने वाला जीव न माना जाय, कर्म को ही कर्त्ता माना जाय तो उस क्रिया का फल किसे होगा? इसके अतिरिक्त जिन कर्मो को परलोक की क्रिया करने वाले कहोगे, वे कर्म किसके किये हुए हैं? इसलिए आत्मा स्वयं ही कर्त्ता है, यह मानना ही ठीक होगा।

वीर्य तीन प्रकार का होता है,—बाल वीर्य, पंडित वीर्य, बाल पंडितवीर्य। गौतम स्वामी पूछते है—भगवन्! मोहनीय कर्म के उदय वाला परलोक की जो क्रिया करता है, वह उक्त तीनों वीर्यो में से किस वीर्य द्वारा करता हैं? अर्थात्—किस वीर्यता से उपस्थान होता है?

जिस जीव में अर्थ का सम्यक् बोध न हो और सद्बोध के फलस्वरूप विरति न हो, (क्योकि सम्यग्ज्ञान का फल विरति—चरित्र है) अर्थात्—जो मिथ्यादृष्टि हो उसे 'बाल' कहते है। बाल जीव का वीर्य बालवीर्य कहलाता है।

पंडित का अर्थ यहां पोथे पढ़ लेने वाला नही है। बल्कि सर्व सावद्य योग का त्याग करने वाला पंडित कहलाता है। जो पोथे पढ़ कर भी पाप का त्याग न कर सका, परमार्थ की दृष्टि से उसे अज्ञानी ही कहना चाहिए।

जिसने शुष्क ज्ञान पढ़ा और पाप नहीं टाला, उसका ज्ञान निष्फल है। वह अज्ञानी है। कहा भी है–

तज्ज्ञानमेव न भवति, यस्मिन्नुदिते विभाति रागगणः।
तमसः कुतोऽस्ति शक्तिर्दिनकरकिरणाग्रतः स्थातुम् ?

अर्थात्–जिसकी मौजूदगी में भी राग–द्वेष पाये जावें, वह ज्ञान ही नहीं हो सकता। ज्ञान का फल राग–द्वेष को टालना है। जिस ज्ञान से यह फल प्राप्त न हो सका वह ज्ञान नहीं कहा जा सकता। सूर्य की किरणों के सामने ठहरने की शक्ति अंधकार में नहीं है। अर्थात् सूर्य का प्रकाश फैलने पर अंधकार नष्ट हो जाता है। अतः जिसके फैलने पर अंधकार नष्ट न हो, बल्कि बना रहे उसे सूर्य का प्रकाश कैसे कहा जा सकता है ? उसी प्रकार ज्ञान के होने पर राग–द्वेष का नाश होना चाहिए। अगर राग–द्वेष का नाश नहीं होता तो उसे ज्ञान ही नहीं कहा जा सकता। जो पुरुष ज्ञानवान् कहलाता हुआ भी राग–द्वेष के प्रबल चक्कर में पड़ा हुआ है उसमें ज्ञान नहीं, अज्ञान ही है। अगर वह राग–द्वेष को जीत लेता है और पढ़ा लिखा न होता तो भी वह ज्ञानी ही कहलाता। चाणक्य ने भी अपनी नीति में कहा है–

पठति पाठयति

अर्थात्–लोग व्यसन और मान–बड़ाई के लिए भी शास्त्रों का पठन–पाठन एवं चिन्तन करते हैं लेकिन ऐसे पंडित मूर्ख हैं। जिसमें ज्ञानानुसारिणी सत्क्रिया है, वही पुरुष पण्डित है।

नीति में अपनी मर्यादा के अनुसार ही बात कही गई है और शास्त्र में इस विषय पर अधिक विचार किया गया है। शास्त्रों में कहा है कि पांच समिति और तीन गुप्ति की आराधना करने वाले साधु को इन्द्र भी नमस्कार करता है। यद्यपि इन्द्र में प्रचण्डशक्ति है, प्रबल सामर्थ्य है और अवधिज्ञान भी है, तथापि वह अपने आपको बाल समझता है। वह मानता है कि मैं जिस बात को जानता हूं, उसे क्रिया में नहीं ला रहा हूं और मुनि उसे आचरण में ला रहे हैं।

तीसरा भेद बाल–पंडितवीर्य का है। जिन–जिन त्याज्य कामों को त्यागा नहीं है, उन्हें त्यागने योग्य समझना पंडितपन है परन्तु मोह के उदय से अभी जो नहीं त्यागा है सो बालपन है। त्याज्य कामों का न त्यागना अगर बालपन नहीं माना जायेगा तो वे काम त्याग के योग्य नहीं माने जा सकते। उदाहरणार्थ–एक मनुष्य हिंसा को त्याज्य जानता है। वह हिंसा कर रहा था इतने में किसी ने उससे पूछा–यह क्या कर रहा है? उसने उत्तर दिया–हिंसा कर रहा हूं। प्रश्नकर्त्ता ने फिर पूछा–हिंसा करने योग्य है या त्यागने योग्य है? उसने कहा त्यागने योग्य है। प्रश्नकर्त्ता फिर पूछता है–अगर हिंसा त्यागने योग्य है तो कर क्यों रहा है? उसने कहा–यह मेरी भूल है, प्रमाद है। इस प्रकार हिंसा को त्याज्य स्वीकार करना पण्डितपन है किन्तु आचरण से उसे नहीं छोड़ना बालपन है। सारांश यह है कि जो पुरुष एक देश से आंशिक रूप से–पाप से हट जाता है यानि देश विरति का पालन करता है वह बालपंडित कहलाता है। उसका वीर्य बालपंडितवीर्य कहा जाता है।

गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में भगवान् कहते हैं–हे गौतम! मोहनीय कर्म के उदय वाला परलोक की क्रिया बालवीर्यता से करता है, वह पंडितवीर्यता या बालपंडित–वीर्यता से नहीं करता। अर्थात् बालवीर्यता से वह क्रिया करने के लिए उपस्थान करता है।

अपक्रमण पतन

प्रश्न–जीवे णं भंते! मोहणिज्जेणं कडेणं कम्मेणं उदिण्णेणं अवक्कमेज्जा?

उत्तर–हंता, अवक्कमेज्जा।

प्रश्न–से भंते! जाव बालपंडिअवीरियत्ताए अवक्कमेज्जा?

उत्तर–गोयमा! बालवीरियत्ताए अवक्कमेज्जा नो पंडिअवीरियत्ताए अवक्कमेज्जा, सिय बालपंडिअवीरियत्ताए अवक्कमेज्जा। जहा उदिण्णेणं दो आलावगा तहा उवसंतेण वि दो आलावगा भाणियव्वा, णवरं उवट्ठाएज्जा पंडिअवीरियत्ताए, अवक्कमेज्जा, बालपंडिअवीरियत्ताए।

प्रश्न–से भंते! किं आयाए अवक्कमइ, अणायाए अवक्कमइ?

उत्तर–गोयमा! आयाए अवक्कमइ, णो अणायाए अवक्कमइ।

प्रश्न–मोहणिज्जं कम्मं वेएमाणे से कहमेयं भंते। एवं?

उत्तर–गोयमा! पुव्विं से एयं एवं रोयइ, इयाणिं से एयं एवं नो रोयइ, एवं खलु एयं एवं।

संस्कृत–छाया

प्रश्न—मोहनीयं कर्म वेदयन् तत् कथमेतत् भगवन् एवम्?

उत्तर—गौतम! पूर्व तस्यैतदेवं रोचते इदानी तस्यैतदेवं नो रचते, एवं खलु एतदेवम्।

शब्दार्थ

प्रश्न—भगवन्! कृत मोहनीय कर्म जब उदय में आया हो तो अपक्रमण करता है—उत्तम गुणस्थानक से हीन गुणस्थानक में जाता है?

उत्तर—हे गौतम! हां, अपक्रमण करता है।

प्रश्न—भगवन्! वह अपक्रमण यावत् बालवीर्य से, पंडितवीर्य से या बालपंडितवीर्य से होता है?

उत्तर—बालवीर्य से होता है और कदाचित् बालपंडितवीर्य से भी होता है परन्तु पंडितवीर्य से नहीं होता। जैसे 'उदय में आये हुए' पद के साथ दो आलापक कहे है, उसी प्रकार 'उपशान्त' पद के साथ भी दो आलापक कहने चाहिएं। विशेषता यह है कि यहां पंडितवीर्य से उपस्थान होता है और बालपंडितवीर्य से अपक्रमण होता है।

प्रश्न—भगवन्! अपक्रमण आत्मा से होता है, या अनात्मा से होता है?

उत्तर—हे गौतम! अपक्रमण आत्मा से होता है, अनात्मा से नहीं होता।

प्रश्न—भगवन्! मोहनीय कर्म को वेदता हुआ यह इस प्रकार क्यों होता है?

उत्तर—हे गौतम! पहले उसे इस प्रकार रुचता है और अब उसे इस प्रकार रुचता नहीं है इस कारण यह इस प्रकार होता है।

व्याख्यान

उठने का विपक्षी गिरना है, अतएव उठने संबंधी प्रश्न करने के पश्चात् गौतम स्वामी गिरने का प्रश्न करते है। गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवन्! पहले उपार्जन किया हुआ मोहनीय कर्म जब उदय में आया हो तब जीव अपक्रमण करता है? अर्थात्—उन्नत गुणस्थान से हीन गुणस्थान में आता है?

भगवान् ने उत्तर मे फरमाया—गौतम! हां, अपक्रमण करता है अर्थात् मोह कर्म के उदय से जीव ऊंचे गुणस्थान से गिरकर नीचे गुणस्थान मे आता है।

प्रश्न का उत्तर भगवान् यह देते हैं—गौतम! यह अपक्रमण बालवीर्यता से होता है और कदाचित् बालपंडितवीर्यता से भी होता है परन्तु पंडितवीर्यता से नहीं होता। जब मिथ्यात्व मोहनीय का उदय होता है तब जीव सम्यक्त्व से गिरकर मिथ्यादृष्टि हो जाता है। लेकिन मिथ्यात्व मोह के उदय से गिरकर जीव पंडितवीर्यता में नहीं जाता। कदाचित् चारित्र मोहनीय का उदय हो तो संयम से पतित होकर बालपंडितवीर्यता में देशविरत रूप में प्राप्त होता है।

यहां पाठान्तर भी है। दूसरे पाठ में पंडितवीर्य का और बालपंडित वीर्य का निषेध किया गया है। इस पाठ के अनुसार मिथ्यात्व मोहनीय के उदय से गिरने वाला जीव सिर्फ बालवीर्यता में आता है—बालपंडितवीर्यता में भी नहीं आता।

इस प्रश्नोत्तर में मोह की लीला बतलाई गई है। मोहकर्म सब कर्मों का मूल है। इसके प्रताप से उच्च से उच्च क्रिया करने वाला मुनि भी गिर जाता है। यद्यपि गिरता है वह मोह के कारण, मगर गिरता है अपने ही पराक्रम से। अगर वह न गिरता तो मोह जबर्दस्ती नहीं गिरा सकता था। इस प्रकार जीव अपने ही पुरुषार्थ से चढ़ता है और अपने ही पुरुषार्थ से गिरता है।

भगवान ने आत्मा में दोनों प्रकार की शक्तियां बतलाई है। आत्मा चाहे जिस शक्ति से काम ले। मदिरा मनुष्य को मत्त बनाती है लेकिन मदिरा पीना किसके हाथ में है? मनुष्य चाहे मदिरा पीए चाहे न पीए। मदिरा स्वयं भीतर चली नहीं जाती। पीने वाला स्वेच्छा से पीता है। जब वह पी लेता है तब उन्मत्त हो जाना उसके हाथ में नहीं रहता। मदिरा अपना असर अवश्य दिखलाती है। इसी प्रकार मिथ्यात्व का पान न करो—मिथ्यात्वजनक क्रिया न करो तो गिरोगे नहीं, मिथ्यात्व का पान करना या न करना जीव के पुरुषार्थ के अधीन है। मगर मिथ्यात्व का उपार्जन करके उसके फल से किस प्रकार बचा जा सकता है?

छोड़कर हिंसामय मैनचेस्टर का मलमल नहीं त्याग सकता। लेकिन सौ बात की एक बात यह है कि मोह को जीते बिना कल्याण नहीं है। मोह को जीतकर सादे रहोगे तो आजाद भी होओगे और इस लोक तथा परलोक–दोनों को सुधार सकोगे। मोहनीय कर्म के कारणों को जानकर, उनका त्याग करने से मोह से अतीत हो सकते हो।

मोहनीय कर्म के उदय का प्रश्नोत्तर हो चुका। उदय उदीरणा का विरोधी उपशम है। इसलिए अब उपशम के संबंध में प्रश्न किया जाता है। उपशम संबंधी प्रश्नोत्तर उदय के समान ही समझने चाहिएं। विशेषता यह है कि उपशम होने पर पंडित वीर्य में उपस्थान होता है और बालपंडितवीर्य में अपक्रमण होता है।

यहां एक प्रश्न किया जा सकता है। वह यह है कि पंडितवीर्यता में अपक्रमण क्यों नहीं होता? कोई जीव ग्यारहवें गुणस्थान से गिरकर दसवें और आठवें आदि गुणस्थानों में आ जाता है। फिर पंडितवीर्य से अपक्रमण क्यों नही कहा?

इसका उत्तर इस प्रकार है–वीर्यता के तीन भांगे हैं। उनमें से पंडितवीर्यता छठा गुणस्थान है। जब मोहनीयकर्म का क्षयोपशम हो जाता है, तब अकेला पंडितवीर्य ही होता है, दूसरे दो वीर्य नहीं होते। अतएव गिरता हुआ मनुष्य श्रावक के रूप में आता है या मिथ्यादृष्टि हो जाता है। वह गिर करके भी पंडितवीर्य में स्थिर हो जाय ऐसा नहीं होता।

गौतम स्वामी का प्रश्न है–भगवन्! मोहकर्म का उपशम होने पर जीव परलोक की क्रिया करने के लिए उद्यत हो सकता है? इसके उत्तर में भगवान् ने फरमाया है– हां, हो सकता है। गौतम स्वामी फिर प्रश्न करते हैं–भगवन्! वह वीर्यता से परलोक की क्रिया करता है या अवीर्यता से? इसके उत्तर मे भगवान् फरमाते है–हे गौतम! वीर्यता से करता है, अवीर्यता से नही। फिर गौतम स्वामी पूछते है–भगवन्, वह परलोक की क्रिया बालवीर्यता से करता है, पंडितवीर्यता से करता है या बालपंडितवीर्यता से करता है? भगवान उत्तर देते है–गौतम! पंडितवीर्यता से करता है, क्योंकि उपशान्त अवस्था मे पंडितवीर्य होता है, शेष दो वीर्य नही होते।

कुछ आचार्यों ने वाचनान्तर देख कर यहां दूसरी व्यवस्था की है। वे कहते है कि मोह का उपशम होने पर मिथ्यादृष्टि नही होता, लेकिन साधु या श्रावक होता है।

गौतम स्वामी का दूसरा प्रश्न यह है कि किये हुए मोहनीय कर्म का उपशम होने पर जीव अपक्रमण करता है? अर्थात् जीव गिर जाता है ? इसका उत्तर भगवान् ने यह दिया है–हां, गौतम! अपक्रमण करता है। तब गौतम स्वामी पूछते हैं–जीव गिरकर किस वीर्यता में जाता है? इसके उत्तर में भगवान् ने फरमाया–उपशान्त मोहवाला जीव गिरकर बालपंडितवीर्यता में आता है, बालवीर्यता में नहीं आता क्योंकि बालवीर्यता मिथ्यादृष्टि में होती है और मिथ्यादृष्टि मोह के उदय से होता है। यहां उदय का नहीं, किन्तु उपशम का प्रकरण है, अतः बालपंडितवीर्यता कहा है।

तदन्तर गौतम स्वामी पूछते हैं–भगवन्! वह अपक्रमण आत्मा द्वारा होता है या अनात्मा द्वारा? भगवान् फरमाते हैं–आत्मा द्वारा अपक्रमण होता है, अनात्मा द्वारा नहीं। तब गौतम स्वामी ने पूछा–भगवान् मोहनीय कर्म को वेदते हुए अपक्रमण किस प्रकार होता है? तात्पर्य यह है कि जो मनुष्य; साधु भी हो गया और फिर ग्यारहवें गुणस्थान तक भी पहुंच गया, वह मोहनीय कर्म को किस प्रकार वेदता है? गिरता भी अपने आत्मा से ही है और वेदता भी अपने आत्मा से ही है। फिर अपक्रमण क्यों और कैसे होता है?

इसका उत्तर यह है कि अपक्रमण होने से पहले वह जीव जीवादि नौं पदार्थों को मानता था–उन पर श्रद्धा रखता था और यह भी मानता था कि धर्म का मूल अहिंसा है। जिन भगवान ने जैसा कहा है, वैसा ही तत्व है। इस प्रकार धर्म के प्रति उसकी रुचि थी। लेकिन श्रद्धा बदलने से अब उसे अर्हन्त का धर्म नहीं रुचता। अब उसे पहले रुचने वाली बातें अरुचिकर लगती हैं। जब उसे जिनधर्म की बातें रुचती थीं तब वह सम्यग्दृष्टि था। जब नहीं रुचती तब मिथ्यात्व मोहनीय कर्म की वेदना होती है। इस अरुचि के फलस्वरुप मिथ्यात्व मोहनीय कर्म वेदता है और ऊपर के गुणस्थान से गिर जाता है।

रुचि रखता है, उसे कोई मिथ्यादृष्टि नहीं बता सकता और अरुचि रखता है वह सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता। अतएव क्रिया करने की शक्ति न हो तब भी तत्वों के प्रति रुचि तो होनी ही चाहिए।

सारांश यह है कि मिथ्यात्व मोहनीय की वेदना धर्म पर अरुचि रखने से होती है और धर्म पर अरुचि रखने से ही जीव मिथ्यात्व मोहनीय कर्म बांधता है। जिसे मिथ्यात्व मोहनीय की वेदना से बचना हो उसे शंका, कांक्षा आदि सम्यक्त्व के दोषों का त्याग कर देना चाहिए। यद्यपि आजकल की व्यावहारिक पढ़ाई के बिना संसार व्यवहार न चलता होगा, लेकिन उसी को सब कुछ नहीं समझ लेना चाहिए। धर्मतत्त्व का भी विचार करना चाहिए। इस बात की सावधानी सदैव रखनी चाहिए कि हम धर्म के विचार से दूर न जा पड़ें।

आज आप लोगों के तन, मन और धन की उदारता ऐसे कर्मों में लग रही है, जिसके कारण वीतराग धर्म का टिकाव होना कठिन हो रहा है। इसलिए धर्म के प्रसार का ध्यान रक्खो। धर्म की ओर अपनी प्रवृत्तियां झुकाओ।

कर्मभोग से मोक्ष

प्रश्न—से णूणं भंते! नेरइयस्स वा, तिरिक्ख जोणिअस्स वा, मणूसस्स वा, देवस्स वा, जे कडे पावे कम्मे, णत्थि तस्स अवेइयअत्ता मोक्खो?

उत्तर—हंता, गोयमा! नेरइअस्स वा, तिरिक्ख मणु देवस्स वा जे कडे पावे कम्मे, णत्थि तस्स अवेइयत्ता मोक्खो।

प्रश्न—से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ नेरइअस्स वा जाव मोक्खो?

उत्तर— एवं खलु मए गोयमा! दुविहे कम्मे पण्णत्ते, तंजहा—पएसकम्मे, य अणुभाग कम्मे य। तत्थ णं जं तं पएसकम्मं तं नियमा वेएइ, तत्थ णं जं तं अणुभाग कम्मं तं अत्थेगइयं वेएइ, अत्थेगइयं णो वेएइ। णायमेयं अरहया, सुयमेयं अरहया, विन्नायमेयं अरहया—इमं कम्मं अयं जीवे अब्भोवगमियाए वेयणाए वेदस्साइ, इमं कम्मं अयं जीवे उवक्कमियाए वेदणाए वेदेस्साइ अहाकम्म, अहाणिगरणं जहा जहा तं भगवया दिट्ठं तहा तहा तं विप्परिणमिस्सतीति! से तेणट्ठेणं गोयमा! नेरइयस्स वा जाव मुक्खो।

संस्कृत—छाया

स्मृतमेतदर्हता, विज्ञातमेतदर्हता इदं कर्माऽयं जीवः आभ्युपगामिकया वेदनया वेदयिष्यति। इदं कर्माऽयं जीव औपक्रमिकया वेदनया वेदयिस्यति। यथाकर्म यथानिकरणं यथा यथा तद् भगवती दृष्टं तथा तथा तत् विपरिणंस्यति इति। तत्तेनार्थेन गौतम! नैरयिकस्य वा यावत् मोक्षः।

प्रश्न–भगवन्! जो पाप कर्म किया है उसे भोगे बिना नारकी, तिर्यंच, मनुष्य या देव का मोक्ष नहीं होता?

उत्तर–हे गौतम! हां, कृत कर्म को भोगे बिना नारकी का, तिर्यंच का, मनुष्य का या देव का मोक्ष–छुटकारा नहीं होता।

प्रश्न–भगवन्! आप ऐसा किस कारण से कहते हैं कि– यावत् नारकी आदि का मोक्ष नहीं होता?

उत्तर–हे गौतम! यह निश्चित है कि मैंने कर्म के दो भेद कहे हैं। वह इस प्रकार--प्रदेश कर्म और अनुभाग कर्म। इनमें जो प्रदेश कर्म है वह अवश्य भोगना पड़ता है और जो अनुभाग कर्म है वह कुछ वेदा जाता है और कुछ नहीं भी वेदा जाता है। यह बात अर्हन्त द्वारा ज्ञात है, स्मृत है और विज्ञात है कि यह जीव इस कर्म को आभ्युपगमिक (स्वेच्छा से स्वीकृत) वेदना से वेदेगा, यह जीव इस कर्म को औपक्रमिक वेदना से वेदेगा। बांधे हुए कर्म के अनुसार, निकरणों के अनुसार जैसा–जैसा भगवान् ने देखा है, वैसे वैसे वह विपरिणाम पाएगा। इसलिए गौतम! इस हेतु से ऐसा कहता हूं कि–यावत् किये कर्मों को भोगे बिना नारकी का, तिर्यच का, मनुष्य का या देव का छुटकारा नहीं है।

व्याख्यान

पहले कर्म विशेष के संबंध में प्रश्नोत्तर हुए थे। अब कर्म सामान्य के संबंध में प्रश्न और उत्तर हैं। गौतम स्वामी का प्रश्न यह है कि नारकी, तिर्यंच मनुष्य और देव–इन चारों में से कोई भी क्यों न हो, जिसने पाप कर्म किये है, वह उन्हें भोगे बिना छुटकारा नहीं पा सकता? अर्थात् कृत कर्म क्या सबको अवश्य ही भोगने पड़ते हैं?

पाप कर्म का अर्थ है–अशुभ कर्म, जिनसे नरक आदि दुर्गति प्राप्त होती है। इस पर यह शंका उठती है कि जिन कर्मों से जीव देवगति पाता है, उन कर्मों को पाप कर्म–अशुभ कर्म कहा जाय या नहीं? इसका समाधान यह है कि सामान्य रूप से कर्म मात्र ही पाप है। कर्म मात्र दुष्ट हैं। जो मुक्ति मे व्याघात रूप हैं, उसे पाप कहने में कोई हानि नहीं है।

अशुभ कर्म तो पाप कहलाते ही हैं लेकिन यहां शुभ और अशुभ–दोनों प्रकार के कर्मों को पाप कहा है। जैसे सोने की बेड़ी और लोहे की बेड़ी–बंधन

की दृष्टि से समान हैं, उसी प्रकार मोक्ष के प्रतिबंधन के रूप पुण्य और पाप समान हैं। ममता होने पर सोना चाहे प्रिय लगे लेकिन ममता हट जाने पर पुद्गल की दृष्टि से पत्थर और सोना दोनों समान हैं। जिस प्रकार ज्ञानी की दृष्टि में पत्थर और सोना समान हैं उसी प्रकार पुण्य और पाप मोक्ष के लिए बंधन रूप होने से कदाचित् समान हैं। मगर यह नहीं भूलना चाहिए कि पुण्य और पाप में कथंचित् समानता होने पर भी मोक्ष मार्ग की साधना के लिहाज से दोनों में अन्तर भी है। नरक गति अशुभ कर्म प्रकृति है और मनुष्यभव पुण्यप्रकृति है। इनमें एकान्त समानता नहीं है। मनुष्यभव मोक्ष का निमित्त कारण है, जबकि नरक गति नहीं है। इस प्रकार अनेकान्तवाद का आश्रय लेने से ही सर्वत्र वस्तुतत्त्व निर्दोष सिद्ध होता है। अतएव यहां अशुभ और शुभ दोनों प्रकार के कर्मो को पाप में गिना है सो अपेक्षा–विशेष से ही समझना चाहिए।

संसार के प्राणी दुःख को दुःख और सुख को सुख मान कर सुख को चाहते हैं। लेकिन जब तक संसार के सुख की कामना बनी हुई है तब तक संसार के बंधन से छुटकारा नहीं मिल सकता। जब जीव संसार के दुःख और सुख दोनों को बंधन समझ लेता है तभी इस बंधन से निकलने का उपाय करता है। ऐसा होते हुए भी लोग दुःख को छोड़ना चाहते हैं, सुख को नहीं छोड़ना चाहते। बल्कि दुःख को छोड़ना उतना कठिन नहीं है जितना कठिन सुख को छोड़ना है। अर्थात् अशुभ कर्म को छोड़ने की अपेक्षा शुभ कर्म को छोड़ना कठिन हो जाता है।

मूलपाठ में पाप कर्म का स्पष्ट उल्लेख है, इसलिए पाप कर्म का ही ग्रहण करना उचित है। पाप कर्म कहने से पुण्य कर्म को ग्रहण करना आवश्यक नहीं है। इस प्रकार की आशंका करना ठीक नहीं है, क्योंकि जैसे पाप कर्म बिना भोगे नहीं छूटते उसी प्रकार पुण्य कर्म भी बिना भोगे नहीं छूटते। अगर यहां पुण्य कर्म का ग्रहण न किया जाय तो क्या वे बिना भोगे छूट जाते है? पुण्य कर्म भी पाप कर्म की भांति भोगने ही पड़ते हैं और उनके विषय में अलग प्रश्न नहीं किया गया है, अतएव पाप कर्म में पुण्य कर्म और पाप कर्म दोनों ही अन्तर्गत मानना चाहिए।

यहां यह आशंका हो सकती है–राजा परदेशी ने ऐसे घोर पाप कर्म किये थे कि एक–एक नरक में कई–कई बार जाने पर भी वे छूट नहीं पाते। फिर भी वह नरक में न जाकर स्वर्ग गया और महाविदेह क्षेत्र में उत्पन्न होकर मोक्ष जायेगा। उसका छुटकारा पाप कर्म भोगे बिना कैसे हो गया? इस प्रकार के और–और उदाहरण भी मिलते हैं। इस बात को लक्ष्य में लेकर गौतम स्वामी भगवान् से प्रश्न करते हैं–भगवन्! आप यह किस कारण से कहते हैं कि चारों योनियों के जीव कर्म भोगे बिना नहीं छूटते?

इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् कहते हैं–गौतम! निश्चय समझ कि मैंने दो प्रकार के कर्म बतलाये हैं–एक प्रदेश कर्म, दूसरा अनुभाग कर्म। प्रदेश कर्म को तो जीव निश्चय ही भोगेगा और अनुभाग कर्म कोई वेदा जाता है, कोई नहीं वेदा जाता।

मैंने दो प्रकार के कर्म बतलाये यह कहने का अभिप्राय यह है कि केवली किसी की कही हुई बात सुनकर नहीं कहते, किन्तु साक्षात् देखकर प्ररूपणा करते हैं। अर्थात् सर्वज्ञ की वाणी स्वावलंबिनी है। यही बात दर्शाने के लिए उक्त वावय कहा गया है।

जीव के प्रदेशों में ओत–प्रोत हुए कर्म पुद्गल, प्रदेश कर्म कहलाते है। अर्थात् जो पुद्गल आत्मा के साथ दूध–पानी की भांति एकमेक हो गये है, उन्हें प्रदेश कर्म कहते हैं। उन प्रदेश कर्मों का अनुभव में आने वाला रस अनुभाग कर्म कहलाता है।

माता–पिता बालक को कभी–कभी कोई ऐसी चीज खिलाते हैं जो तत्काल तो कोई फल नहीं दिखाती लेकिन जवानी आने पर फल देती है। यह बात लोक प्रसिद्ध है। प्रश्न यह है कि इतने दिनों तक वह चीज कहां रहती है ? इसका उत्तर यह है कि वह चीज बालक के खून में मिल गई थी। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का अनुकूल संयोग न मिलने से उसने अपना बल नहीं दिखलाया। जब अनुकूल संयोग मिला तो बल दिखलाया। फिर भी यह निश्चित है कि वह वस्तु बालक में विद्यमान थी। यही बात दोनों प्रकार के कर्मो के संबंध में है।

प्रदेश कर्म निश्चय ही भोगे जाते हैं। विपाक में न आ करके भी–अनुभव न होने पर भी प्रदेशकर्म का भोग होता है। आत्मप्रदेश उन कर्मो को अवश्य गिराता है।

यहां यह प्रश्न हो सकता है कि कोई–कोई कर्म अनुभव में क्यों नहीं आते? इसका उत्तर यह है कि–जैसे बालक को पूर्वोक्त चीज खिलाई लेकिन

उसके साथ ही उसका असर रोकने वाली दूसरी चीज खिलादी। उस दूसरी चीज के खिलाने से पहली वस्तु विपाक में नहीं आई लेकिन प्रदेश में तो वह वस्तु नष्ट हुई ही। यही बात विपाक और कर्म प्रदेश के विषय में है। विपाक में न आने पर भी प्रदेश में ही कर्मों का नाश हो जाता है लेकिन प्रदेश कर्म अवश्य भोगने पड़ते हैं।

विष खा लेने पर तत्काल ही उसका असर नहीं होता। यही कारण है कि विष का पूरा असर होने से पहले उसे दूर करने का प्रयत्न किया जाता है। कर्म का विष भी ऐसा ही है। विपाक में कर्म आने से पहले प्रदेश में ही क्षय कर देने से उनका असर मालूम नहीं होता लेकिन उन्हें भोगना अवश्य पड़ता है।

अगर कोई मनुष्य विष खा लेता है तो उसे उतारने का, उसका प्रभाव दूर करने का उपाय किया जाता है। इसी प्रकार कर्म–विष को उतारने का भी उपाय करना चाहिए। कर्मविष की ओर दुर्लक्ष्य नहीं होना चाहिए। जिस प्रकार सांप का विष उतारा जाता है और वह उतरता भी देखा जाता है, उसी प्रकार ज्ञानियों ने कर्म–विष उतारने का भी उपाय बताया है। वह उपाय करना चाहिए। यह समझना भूल है कि कर्म कर लिये सो कर लिये अब क्या हो सकता है। कृत कर्म नष्ट भी किये जा सकते हैं। राजा प्रदेशी का उदाहरण हमारे सामने हैं। राजा को केशी श्रमण का संयोग मिल गया और उनकी कृपा से राजा ने अपने कर्म प्रायः प्रदेशों में ही क्षय कर दिये। यद्यपि राजा प्रदेशी के कर्म प्रदेशों में ही क्षय हो गये लेकिन भोगने अवश्य पड़े।

अनुभाग कर्म कोई वेदा जाता है और कोई नहीं भी वेदा जाता। यथा–आत्मा जब मिथ्यात्व का क्षयोपशम करता है तब प्रदेश से तो वेदता है मगर अनुभाग से वेदना नहीं होती। यही बात अन्य कर्मों के विषय में समझी जा सकती है। सर्प के विष से कोई मरता है, कोई नहीं मरता। विष जिसके विपाक में आ जाता है और उपाय कारगर नहीं होता तब मर जाता है और विष जिसके विपाक में नहीं आता–उपाय लग जाता है वह नहीं मरता। उपाय

रूप धर्म की वस्तु में आत्मा का जितना बल लगाओगे, वस्तु उतनी ही अधिक गुणकारक होगी।

भगवान् ने कहा है–चारों गतियों के प्राणी किये हुए कर्म को भोगते अवश्य हैं परन्तु कोई विपाक से भोगता है, कोई केवल प्रदेश से ही भोगता है।

प्रदेशकर्म और अनुभाग कर्म की वेदना जिस प्रकार होती है उसे अर्हन्त भगवान् जानते हैं, छद्मस्थ नहीं जानते। शास्त्र में कहा है कि यह दोनों कर्म किन दो प्रकार से भोगे जाते हैं, यह बात भगवान् ने जानी है। और उन्होंने जैसा जाना है वैसा ही दूसरों को बताया है–स्मरण किया है और देश, काल आदि के भेद से विविध प्रकार से–विशेष रूप से भी जाना है।

यहां यह आशंका हो सकती है कि स्मृति, मतिज्ञान का भेद है और मतिज्ञान केवली में नहीं होता इसलिए स्मृति भी उनमें नहीं हो सकती। फिर यहां केवली का स्मरण करना क्यों कहा है? इसका समाधान यह है कि केवली में स्मृति का तो अभाव है–उन्हें किसी वस्तु का स्मरण नहीं करना पड़ता क्योंकि सब पदार्थ प्रत्यक्ष में प्रतिबिम्बित होते रहते हैं। फिर भी यहां स्मरण करना जो कहा गया है उसका कारण यह है कि भगवान् के ज्ञान के साथ स्मरण का अव्यभिचार के रूप में सादृश्य है। इसलिए 'सुय' इस पद से भगवान् में स्मृति का अस्तित्व नहीं समझना चाहिए।

भगवान् अपने केवलज्ञान से साक्षात् देखते हैं कि यह कर्म है और यह जीव है। दोनों के स्वरूप और संबंध को भगवान केवलज्ञान से स्पष्ट जानते हैं। भगवान् ने केवलज्ञान से भूतकाल को भी देखा है, भविष्यकाल को भी देखा है और वर्त्तमान को भी देखते हैं।

प्रदेशकर्म और अनुभाग कर्म–दो प्रकार से भोगे जाते हैं:–आभ्युपगमिक वेदना से और औपक्रमिक वेदना से। भगवान् प्रत्यक्ष देखते हैं कि जीव अमुक कर्म को आभ्युपगमिक वेदना से वेदेगा और अमुक को औपक्रमिक वेदना से।

आभ्युपगमिक वेदना– स्वेच्छापूर्वक, ज्ञानपूर्वक कर्मफल का भोगना आभ्युपगमिक वेदना कहलाती है। रूढ़ि में आभ्युपगमिक का अर्थ प्रव्रज्या है। दीक्षा लेकर ब्रह्मचर्य पालना, भूमि पर सोना, केशलोच करना, बाईस परीषह सहना तथा विविध प्रकार का तप करना इत्यादि वेदना जो ज्ञान पूर्वक स्वीकार की जाती है वह आभ्युपगमिक वेदना है। केवली यह जानते हैं कि जीव दीक्षा लेकर अपने कर्मों का इस प्रकार से क्षय करेगा।

यहां यह आशंका की जा सकती है कि केवली भगवान् सर्वज्ञ होने से तीनों कालों की सब बातें जानते हैं, फिर 'वेदेगा' इस प्रकार भविष्य के लिए ही क्यों निर्देश किया है? इसका उत्तर यह है कि भविष्यवाणी करना, भविष्य की घटनाओं को जान लेना महाज्ञानी का ही काम है। महाज्ञानी ही भविष्य कालीन बात अभ्रान्त रूप से समझ सकता है। भूत और वर्तमान काल की बात तो चाहे कोई भी समझता है। जैसे पुलिस वाले किसी व्यक्ति की चेष्टाएं एवं मुखाकृति देखकर ही उसे चोर समझ लेते हैं और वह वास्तव में चोर होता भी है। यद्यपि वह वर्तमान काल में चोरी नहीं कर रहा है फिर भी अनुमान से भूतकाल की घटना जान ली जाती है। इस प्रकार भूतकाल की बात जानी जाती है और वर्तमान काल की बात तो दिखती ही है। मगर सर्वसाधारण लोग भविष्य की बात नहीं जान सकते। उसे जानना ज्ञानियों का ही काम है। जो लोग शास्त्रों के आधार से भविष्यकालीन चन्द्रग्रहण आदि की घटनाओं को पहले ही जान लेते हैं, वह ज्ञानियों के वचनों के आधार से ही जानते हैं। उनका यह ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं है। महाज्ञानी भविष्य की बात वर्तमान की भांति स्पष्ट जानते हैं और उनका ज्ञान प्रत्यक्ष होता है। इस बात को स्पष्ट करने के लिए ही यह कहा गया है कि अमुक जीव, अमुक कर्म को, आभ्युपगमिकी वेदना से वेदेगा। यह बात केवली भगवान् जानते हैं।

दूसरे प्रकार की वेदना—औपक्रमिकी है। अज्ञानपूर्वक होने वाली वेदना औपक्रमिकी होती है। जो कर्म अपना अवाधा काल पूर्ण होने पर स्वयं ही उदय में आते हैं अथवा जिनकी उदीरणा की जाती है उनका फल भोगना औपक्रमिकी वेदना कहलाती है। अर्हन्त भगवान जानते हैं कि इस प्रकार जिस रूप से कर्म बांधे हैं, उसी रूप से जीव उन्हें भोगेगा।

'अहा कम्मं' का अर्थ है—यथाकर्म अर्थात् जिस रूप में कर्म बांधा है उसी रूप से तथा 'अहानिगरण' का अर्थ है—विपरिणाम के कारणभूत नियत देश, काल आदि कारणों की मर्यादा का उल्लंघन न करके—अर्थात् देश—काल आदि की मर्यादा के अनुसार जो कर्म जिस रूप में भगवान् ने देखा होगा, वह उसी रूप में परिणत होगा।

खाई हुई पहले पचती है। खाई हुई वस्तुओं का पाचन क्रम से होता है या क्रम का उल्लंघन करके होता है? यह देखा जाता है कि पहले किया हुआ भोजन बाद में और बाद में किया हुआ पहले भी पच जाता है। यथा—शाक का भोजन बाद में किया और हलुवा पहले खाया। फिर भी हलुवा गरिष्ठ होने के कारण देर से पचता है और शाक हल्का होने से पहले ही पच जाता है। कभी—कभी आगे—पीछे किया हुआ भोजन क्रम से आगे—पीछे ही पचता है। इसी प्रकार का भेद 'अहाकम्मं और 'अहानिगरणं' में बतलाया गया है। मगर आप आहार करते हैं, फिर भी उसके हजम होने का क्रम आपको मालूम नहीं रहता, तो अहाकम्मं और अहानिगरणं का भेद—आप कैसे समझ सकते हैं? यह तो अरिहंत भगवान ने जैसा देखा है वैसा ही परिणत—घटित होगा।

भगवान् फरमाते हैं—गौतम! चारो योनियों के जीव जो कर्म भोगते है, वे बिना भोगे नहीं छूटते। इसका विशेष तत्त्व भगवतों ने देखा है।

इस कथन से अगर कोई होनहार वाद (नियतिवाद) को सिद्ध करना चाहे तो तुम उसके चक्कर में मत फंसना। यह सही है कि ज्ञानियो ने अपने ज्ञान में जो देखा है, वह होगा ही लेकिन ज्ञानियों ने तुम्हारा पुरुषार्थ करना भी देखा है। इसलिए हे भव्य! तू पुरुषार्थ मत छोड़। भगवान् ने पुरुषार्थ को भी कारण बतलाया है।

पुद्गल

प्रश्न—एस णं भंते! पोग्गले अईयं, अणंतं, सासयं समयं भुवीइ वत्तव्वं सिया?

उत्तर—हंता, गोयमा! एस णं पोग्गले अईयं अणंतं, सासयं समयं भुवीइ वत्तव्वं सिया।

प्रश्न—एस णं भंते! पोग्गले पडुप्पण्णं सासयं समयं भवईति वत्तव्वं सिया?

उत्तर—हंता, गोयमा! तं चेव उच्चारे यव्वं।

प्रश्न—एस णं भंते! पोग्गले अणागयं अणंतं सासयं समयं भविस्साईति वत्तव्वं सिया?

उत्तर—हंता, गोयमा! तं चेव उच्चारे यव्वं। एवं खंधेण वि तिण्णि आलावगा। एवं जीवेण वि तिण्णि अलावगा भाणिअव्वा।

संस्कृत—छाया

प्रश्न—एष भगवन्। पुद्गलोऽतीतम्, अनन्ताम् शाश्वत समयम् 'अभूत्' इति वक्तव्यं स्यात्?

उत्तर—हन्त गौतम! एष पुद्गलोऽतीतम्, अनन्ताम् शाश्वतं समय 'अभूत्' इति वक्तव्यं स्यात्।

प्रश्न—एष भगवन्! पुद्गलः प्रत्युत्पन्नम्, शाश्वतं समयं 'भवति' इति वक्तव्यं स्यात्?

उत्तर—हन्त, गौतम! तच्चैव उच्चारयितव्यम्।

प्रश्न—एष भगवन्! पुद्गलोऽनागतम्, अनन्तम्, शाश्वतं समय 'भविष्यति' इति वक्तव्यं स्यात्?

उत्तर—हन्त, गौतम! तच्चैव उच्चारयितव्यम्। एवं स्कन्धेनापि त्रयः आलापकाः, एवं जीवेनापि त्रयः आलापकाः भणितव्याः।

प्रश्न–भगवन्! वह पुद्‌गल परिमाण रहित और सदा रहने वाले अतीत काल में था, यह कहा जा सकता है?

उत्तर–हे गौतम! यह पुद्‌गल परिमाण रहित और सदा रहने वाले अतीतकाल में था, ऐसा कहा जा सकता है।

प्रश्न–भगवन्! यह पुद्‌गल वर्तमान, शाश्वत–सदा रहने वाले काल में है; ऐसा कहा जा सकता है?

उत्तर–हे गौतम! हां, ऐसा कहा जा सकता है। (पहले उत्तर के समान ही उच्चारण करना चाहिए।

प्रश्न–भगवन्! यह पुद्‌गल अनंत और शाश्वत भविष्य काल में रहेगा, ऐसा कहा जा सकता है?

उत्तर–हे गौतम! हां, ऐसा कहा जा सकता है (पहले की तरह ही उच्चारण करना चाहिए।) इसी प्रकार स्कंध के साथ भी तीन आलापक कहने चाहिएं और जीव के साथ भी तीन आलापक कहने चाहिएं।

व्याख्यान

इससे पहले के सूत्र में कर्म का विचार किया गया है। कर्म पुद्‌गल रूप है। कार्मण वर्गणा के पुद्‌गल आत्मा के साथ चिपक कर कर्म कहलाने लगते है। वे कर्म पुद्‌गल परमाणु रूप कहलाते हैं। इसीलिए गौतम स्वामी अब परमाणु के विषय मे प्रश्न करते है।

गौतम स्वामी पूछते है–भगवन्! क्या यह कहा जा सकता है कि बीते हुए अनन्त और शाश्वतकाल में यह पुद्‌गल थे?

इस प्रश्न मे 'एष' यह सर्वनाम पुद्‌गल के लिए आया है। 'एष' यह 'एतत्' शब्द का प्रथमा विभक्ति का रूप है। 'एतत्' शब्द का प्रयोग तभी किया जाता है जब वस्तु अत्यन्त समीप मे हो। भगवान का ज्ञान तीन लोक मे व्याप्त है इस दृष्टि से उनके ज्ञान की अपेक्षा समस्त पुद्‌गल समीप ही हैं कोई उनके ज्ञान से दूर नही हैं। यह प्रकट करने के लिए 'एष' सर्वनाम का प्रयोग किया गया है।

यहां पुद्गल का अर्थ परमाणु मात्र लिया गया है। इस कारण यह शंका उठाई जा सकती है कि स्कंध, देश, प्रदेश और परमाणु यह चार प्रकार के पुद्गल होते हैं; फिर यहां सिर्फ परमाणु के विषय में ही प्रश्न क्यों किया गया है? इसका उत्तर यह है कि स्कंध के विषय में अलग प्रश्न किया गया है और स्कंध के अलग हो जाने पर केवल परमाणु ही रहते हैं। अतएव यहां परमाणु के विषय में ही प्रश्न किया गया है।

श्री गौतम स्वामी के प्रश्न का उत्तर भगवान् फरमाते हैं—हां, गौतम! ऐसा कहा जा सकता है कि परमाणु अनन्त एवं शाश्वत अतीत काल में थे।

इसके अनन्तर गौतम स्वामी फिर पूछते हैं—भगवन्! क्या यह कहा जा सकता है कि आप जिन पुद्गल परमाणुओं को ज्ञान में देख रहे हैं, वे वर्तमान शाश्वतकाल में भी हैं?

यहां वर्तमान काल को भी शाश्वत कहा है। इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि एक समय में जो वर्तमान काल है वही सदा वर्तमान काल बना रहता है। वर्तमान काल प्रतिक्षण भूतकाल के रूप में परिणत हो रहा है और भविष्यकाल प्रतिक्षण वर्तमान काल बनता जा रहा है। फिर भी सामान्य रूप से वर्तमानकाल सदा ही रहता है। ऐसा कोई अवसर नहीं आता जब भूत और भविष्य दो ही काल हों और वर्तमानकाल न हो। एक समय रूप वर्तमानकाल विद्यमान रहता है। अतः इसी दृष्टि से उसे शाश्वत कहा है।

भगवान् ने उत्तर दिया—हां गौतम! यह कहा जा सकता है कि पुद्गल—परमाणु वर्तमानकाल में भी हैं।

तत्पश्चात् गौतम स्वामी ने पूछा—प्रभो! क्या यह भी कहा जा सकता है कि पुद्गल—परमाणु अनन्त और शाश्वत भविष्य काल में भी रहेंगे ?

भगवान् ने उत्तर फरमाया—हां गौतम! यह भी कहा जा सकता है।

यहां यह तर्क उठाया जा सकता है कि परमाणु— तीनों कालों में रहेंगे, यह एक साधारण—सी बात है। फिर गौतम स्वामी जैसे ज्ञानी ने प्रश्न किस उद्देश्य से किये? इस तर्क का समाधान यह है कि पुद्गल—परमाणु का त्रैकालिक अस्तित्व एक साधारण बात नहीं है। इस संबंध में विभिन्न दर्शन शास्त्रों ने कई प्रकार की असत् कल्पनाएं कर रखी हैं। उनमें से कुछ इस प्रकार हैं :—

(2) 'एकं ब्रह्म द्वितीयो नास्ति' अर्थात् जगत् में एक मात्र ब्रह्म ही सत् है। ब्रह्म से भिन्न कोई भी पुद्गल आदि पदार्थ नहीं है। ऐसी अद्वैतवादी वेदान्ती की मान्यता है। इस मत में भी पुद्गल की स्वतंत्र सता नहीं है।

(3) बौद्धों का एक ज्ञानाद्वैतवादी सम्प्रदाय भी सिर्फ ज्ञान को स्वीकार करता है। ज्ञान के सिवाय और कोई पुद्गल आदि पदार्थ वह नहीं मानता।

(4) जो बौद्ध बाह्य पुद्गल आदि पदार्थो को मानते हैं, वे भी उन्हें क्षणिक मानते है। तीनों कालों में विद्यमान रहने वाला नहीं मानते।

(5) किसी–किसी दर्शन वाले सिर्फ परमाणु का ही अस्तित्व मानते है, स्कंध को वे नहीं मानते।

सारांश यह है कि इस विषय में इतनी विविध मान्यताएं हैं कि इस संबंध में स्पष्ट विवेचन किये बिना भ्रम दूर नहीं हो सकता। गौतम स्वामी ने सर्व साधारण का भ्रम निवारण करने के लिए ही यह प्रश्न किया। भगवान् ने जो उत्तर दिया है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि परमाणु और स्कंध दोनो का ही अस्तित्व है और वह अस्तित्व बौद्धमत के अनुसार क्षणस्थायी नहीं किन्तु त्रिकालस्थायी है। पुद्गल द्रव्य है और द्रव्य त्रिकालस्थायी है, न कभी उसकी उत्पति होती है न विनाश होता है। कहा भी है–

नासतो वियते भावो नाभावो विधते सतः।

अर्थात्–असत् कभी सत् नही बनता और सत् कभी असत् नही हो सकता।

इस प्रकार परमाणु के विषय में तीन काल सबंधी जो तीन प्रश्न किये गये है, इसी प्रकार तीन प्रश्न स्कंध के विषय मे भी समझना चाहिए। परमाणु की तरह स्कंध भी तीनो कालो मे रहता हैं। स्कन्ध तीनो कालो मे रहता है, इस कथन का यह अभिप्राय नही है कि प्रत्येक स्कंध तीनो कालो मे सदा रहता है। बल्कि इसका आशय यह है कि ऐसा कोई भी समय नही आता जब स्कंध न हो और समस्त जगत् परमाणुमय हो जाय।

यहां एक बात और विचारणीय है। यहां पुद्गल का प्रकरण था और पुद्गल मे अणु तथा स्कंध दोनो का समावेश हो जाता था फिर अलग–अलग दोनों का प्रश्न क्यो किया गया है?

हैं। लेकिन जैन शास्त्र कहते हैं कि परमाणु में चार स्पर्श हैं—मृदुल, कठोरता, हल्कापन और भारीपन। यह चार स्पर्श परमाणु में नहीं होते। जो तेल रेत के एक कण में नहीं है वह रेत के लाखों कणों में भी नहीं निकल सकता। जो लोग परमाणुओं से संसार मानते हैं उन्हें विचार करना चाहिए कि परमाणु चौस्पर्शी है और संसार आठ स्पर्शी है। आठ स्पर्शीपन कहां से आ गया?

शास्त्र कहते हैं—जैसे परमाणु अनादि हैं उसी प्रकार स्कंध भी अनादि हैं। परमाणुओं से स्कंध और स्कंध से परमाणु बनता अवश्य है लेकिन परमाणु और स्कंध दोनों ही अनादि काल से चले आये हैं। अगर स्कंध रहित परमाणुओं से जगत् की उत्पत्ति मानी जायगी तो जगत् की आदि माननी पड़ेगी। इसके सिवाय एक बात यह भी है कि परमाणु से परमाणु मिलने पर सूक्ष्म स्कंध ही बनता है, बादर स्कंध नहीं बनता। अतएव स्कंध अनादि है और यही प्रकट करने के लिए गौतम स्वामी ने इसके विषय में अलग प्रश्न किया है।

गौतम स्वामी के स्कंध विषयक प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने फरमाया—हे गौतम! परमाणु के विषय में जो कहा गया है, वही स्कंध के विषय में समझो अर्थात् स्कंध भी त्रिकाल में विद्यमान रहता है।

जम्बू द्वीप प्रज्ञप्ति में प्रश्न किया गया है कि सुमेरु पर्वत शाश्वत है या अशाश्वत? इसके उत्तर में कहा गया है कि सुमेरु शाश्वत भी है और अशाश्वत भी है। द्रव्यास्तिकनय की अपेक्षा नित्य होने से शाश्वत है और पर्यायास्तिक नय से अनित्य होने के कारण अशाश्वत है। यही बात स्वर्ग, नरक आदि प्रत्येक पदार्थ के विषय में समझनी चाहिए।

जो लोग स्कंध को नहीं मानते, उन्हें परमाणु भी नहीं मानना होगा और अद्वैतवादी की तरह सबको ब्रह्म रूप ही मानना होगा। लेकिन अद्वैतवादी जब ब्रह्म को नित्य मानते हैं तो स्कंध और परमाणु आदि पदार्थों को नित्य क्यों नहीं मानते? अगर वे इन पदार्थों को भी नित्य मानलें तो अद्वैतवाद की जड़ ही उखड़ जाती है।

वैसा ही फल देने के लिए सृष्टि में विचित्रता पाई जाती है तो इसका अर्थ यह हुआ कि ब्रह्म ने कर्म के नियम से सब कुछ बनाया है। उसने बिना किसी नियम के, अपनी इच्छा के अनुसार तो नहीं बनाया? अगर ऐसा है तो ईश्वर की स्वतंत्रता भी कायम नहीं रह सकती। ईश्वर/जीवों के, कर्म के अधीन हो जायगा।

इसके अतिरिक्त एक बात और भी विचारणीय है। वह यह है कि जीव ने कर्म अनादि से किये हैं या आदि से? अगर अनादि से कहा जाय तो ठीक नहीं, क्योंकि सृष्टि तो आदि काल से है और कर्म सृष्टि से पहले अनादिकालीन कैसे हो सकते हैं? अगर कर्म आदि हैं तो पहले-पहल जीवों के साथ वह कैसे लगे? अगर ईश्वर ने जबर्दस्ती लगा दिये तो ईश्वर को अत्याचारी मानना पड़ेगा।

इस प्रकार विचार करने पर कर्त्तृत्ववाद में अनेक बाधाएं उपस्थित होती है। अतएव ईश्वर को सृष्टि का रचने वाला नहीं माना जा सकता।

इस प्रकार के प्रश्नों के संबंध में आर्यसमाजी कहते है कि ईश्वर, जीव, आकाश और कुछ जड़ पदार्थ नित्य है। उनका यह भी कहना है कि जीव कर्म करने मे स्वतंत्र है परन्तु भोगने में परतंत्र है। कर्म तो जीव स्वेच्छा से कर लेता है मगर फल देना ईश्वर के अधीन है। वही सबके कर्मो की सजा देता है। इस पर प्रश्न यह उपस्थित होता है कि ईश्वर सजा देने के बदले सजा के योग्य कर्मो को रोकता क्यो नही है? वह सजा देने में जिस शक्ति का उपयोग करता है उसका उन कार्यों को रोकने मे क्यों नही करता? अगर ईश्वर को यह ज्ञान नही है कि कौन जीव क्या कर्म करने वाला है तो वह सर्वज्ञ कैसा? और फिर सजा देने के लिए सबके किये हुए कार्मो का हिसाब कैसे रखता है? अगर यह कहा जाय कि ईश्वर जानता सब कुछ है मगर कर्म करते समय जीवो को रोक नही सकता तो फिर ईश्वर आपके कथनानुसार सर्वशक्तिसम्पन्न कैसे हो सकेगा? अगर वह सब कुछ जानता है, रोकने की शक्ति होने पर भी रोकता नही है और पापकर्म करने देता है तो फिर उसे दयालु कौन कह सकता है? अतएव ईश्वर को जगत्कर्त्ता मानना ठीक नही है।

परमाणु, स्कंध और जीव संबंधी प्रश्न में सारे संसार का पाया रोप दिया गया है। जैन शास्त्र के अनुसार मूल दो ही वस्तुएं हैं—जड़ और चेतन। यह दोनों ही अनादि हैं। इस पर यह प्रश्न खड़ा किया जा सकता है कि अगर दोनों अनादि हैं तो एक को अविनाशी और दूसरे (पुद्‌गल) को नाशवान् क्यों कहते हैं? इसका उत्तर यह है कि पुद्‌गल भी वास्तव में नाशवान् नहीं हैं। फिर भी पुद्‌गल को नाशवान् कहने का कारण दूसरा ही है। जीव असंख्यात प्रदेशी है और तीनों कालों में सदा असंख्यात प्रदेशी ही रहता है। उसमें न एक भी प्रदेश की कमी होती है, न वृद्धि ही। पुद्‌गल ऐसा नहीं है। वह अनन्त प्रदेशी से घट कर कभी असंख्यात प्रदेशी बन जाता है। मिलना और बिछुड़ना पुद्‌गल का धर्म है। अतएव पुद्‌गल को नाशवान् कहते हैं। यही कारण है कि एक को अविनाशी और दूसरे को विनश्वर कहा जाता है।

मुक्ति

मूलपाठ–

प्रश्न–छउमत्थे णं भंते! मणुस्से अईयं, अणंतं, सासयं समयं केवलेणं संजमेणं, केवलेणं, संवरेणं, केवलेणं बंभचेरवासेणं, केवलाहिं पवयणमाईहिं सिज्झिसु, बुज्झिसुं, जाव–सव्वदुक्खाणं अंतं करिंसु?

उत्तर–गोयमा! णो इणट्ठे समट्ठे।

प्रश्न–से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्वइ–तं चेव जाव–अंतं करिंसु?

उत्तर–गोयमा! जे केइ अंतकरा, अंतिम सरीरिया वा सव्वदुक्खाणं अंतं करेंसु वा, करेंति वा, करिस्संति वा सव्वे ते उप्पण्ण णाण दंसणधरा, अरहा, जिणा, केवली, भवित्ता, तओ पच्छा सिज्झंति, बुज्झंति, मुच्चंति, परिणिव्वायंति, सव्वदुक्खाणं अंतं करें सुवा, करेंति वा, करिस्संति वा, से तेणट्ठेणं गोयमा! जाव–सव्वदुक्खाणं अंतं करेंसु, पडुप्पण्णे वि एवं चेव, णवरं 'सिज्झंति' भाणियव्वं, अणागए वि एवं चेव, णवरं 'सिज्झिस्संति' भा णयव्वं। जहा छउमत्थो तहा आहोहिओ वि, तहा परमाहोहिओ वि, तिण्णि तिण्णि आलावगा भाणिअव्वा।

प्रश्न–केवली णं भंते! मणूसे अईयं, अणंतं, सासयं समयं जाव अंतं करेंसु?

उत्तर–हंता, सिज्झिसु, जाव–अंतं करेंसु, एते तिण्णि अलावगा भाणियव्वा छउमत्थस्स जहा, णवरं सिज्झिसु, सिज्झंति, सिज्झिस्संति।

प्रश्न–से णूणं भंते! अइयं, अणंतं सासयं समयं, पडुप्पण्णं वा सासयं समयं, अणागयं अणंतं वा, सासयं समयं जे केइ अंतकरा वा, अंतिम सरीरिया वा, सव्वदुक्खाणं अंतं करेंसु वा, करेंति वा, करिस्संति

वा, सव्वे ते उप्पण्ण णाण दंसणधरा, अरहा, जिणा, केवली, भवित्ता तओ पच्छा सिज्झंति, जाव—अंतं करेस्संति वा?

उत्तर—हंता, गोयमा! अईयं अणंतं सासयं समयं जाव अन्तं करिस्संति वा।

प्रश्न—से णूणं भंते! उप्पण्ण णाण दंसणधरे, अरहा, जिणे, केवली 'अलमत्थु' त्ति वत्तव्वं सिया?

उत्तर—हंता, गोयमा! उप्पण्ण णाण—दंसणधरे अरहा, जिणे, केवली 'अलमत्थु' त्ति वत्तव्वं सिया।

सेवं भंते! सेवं भंते! त्ति।

संस्कृत—छाया

प्रश्न—छद्मस्थो भगवन्! मनुष्यः अतीतम्, अनन्ताम्, शाश्वतं समयं केवलेन संयमेन, केवलेन संवरेण, केवलेन ब्रह्मचर्यवासेन, केवलाभिः प्रवचनमातृभिररौत्सीत्, अबुद्ध, यावत् सर्वदुःखानायन्तमकार्षीत्?

उत्तर—गौतम! नायमर्थः समर्थ।

प्रश्न—तत् केनार्थेन भगवन्! एवमुच्यते—तच्चैव यावद न्तमकार्षीत्?

उत्तर—गौतम! ये केऽप्यन्तकराः, अन्तिमशरीरा वा सर्व दुःखानामन्तम्कार्षु वा, कुर्वन्ति वा, करिष्यन्ति वा सर्वे ते उत्पन्नज्ञानदर्शनधराः, अर्हाः, जिनाः, केवलिनो भूत्वा, ततः पश्चात् सिद्धयन्ति, बुध्यन्तो, मुच्यन्तो, परिनिवार्यन्तिः, सर्व दुःखानामन्तमकार्षुर्वा, कुर्वन्ति वा, करिष्यन्ति वा, तत् तेनार्थेन गौतम यावत्—सर्वदुःखानामन्तम् अकार्षुः, प्रत्युत्पन्नेऽपि एव चैव, नवर सिद्धयन्ति, भणितव्यम्, अनागतेऽपि एवं चैव नवर :'सेत्स्यन्ति' भणितव्यम्। यथा छद्मस्था तथा अधोऽवधिकोऽपि, तथा परमाऽधोवधिकोऽपि; त्रयः त्रयः आलापका भणितव्याः।

उत्तर–हन्त, गौतम! अतीतम् अनन्त, शाश्वतं समयं यावत्–अन्तं करिष्यन्ति वा।

प्रश्न–तद् नूनं भगवन्! उत्पन्नज्ञान–दर्शनधरः, अर्हः, जिनः केवली 'अलमस्तु' इति वक्तव्यं स्यात्?

उत्तर–हन्त गौतम! उत्पन्नज्ञान–दर्शनधराः, अर्हः, जिनः केवली 'अलमस्तु' अति वक्तव्यं स्यात्।

तदेवं भगवन! तदेवं भगवन्!

शब्दार्थ

प्रश्न–भगवन्! बीते हुए अनन्त शाश्वत काल में क्या छद्मस्थ मनुष्य केवल संयम से, केवल संवर से, केवल ब्रह्मचर्यवास से और केवल प्रवचन माता से सिद्ध हुआ है? बुद्ध हुआ है? और यावत् समस्त दुःखों का नाश करने वाला हुआ है?

उत्तर–गौतम! यह अर्थे समर्थ नहीं है।

प्रश्न–भगवन्! किस कारण से आप ऐसा कहते हैं कि– पहले के समान कहना चाहिए। पूर्वोक्त छद्मस्थ मनुष्य यावत् अंतकर नहीं हुआ?

उत्तर–हे गौतम! जो कोई अंत करने वाला और चरम शरीरी हुआ और जिसने दुःखों का नाश किया है, जो करता है अथवा करेगा, वह सब उत्पन्न ज्ञान–दर्शनधारी अरिहंत, जिन और केवली होकर, फिर सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हुए है, निर्वाण को प्राप्त हुए है और उन्होंने समस्त दुःखों का नाश किया है, वे ही करते है और वे ही करेंगे। इस कारण गौतम! इस हेतु से ऐसा कहा है कि यावत्–समस्त दुःखों का अन्त किया। वर्तमान काल में भी इसी प्रकार जानना। विशेषता यह है कि 'सिद्ध होते हैं' ऐसा बोलना। तथा भविष्यकाल में भी इसी प्रकार जानना। विशेषता यह कि 'सिद्ध होंगे' ऐसा बोलना। जैसा छद्मस्थ के विषय में कहा, वैसा ही आधोवधिक और परमाधोवधिक के विषय में समझना चाहिए और उसके तीन आलापक कहने चाहिएं।

प्रश्न–भगवन्! बीते हुए अनन्त शाश्वत काल में केवली मनुष्य ने यावत् समस्त दुःखो का अन्त किया?

उत्तर–हे गौतम! हां, वह सिद्ध हुआ, उसने सब दुःखों का अन्त किया, यहां भी छद्मस्थ के समान तीन आलापक कहना। विशेषता यह है कि सिद्ध हुआ, सिद्ध होता है और सिद्ध होगा, इस प्रकार के तीन आलापक कहने चाहिए।

प्रश्न–भगवन्! बीते हुए अनन्त शाश्वत काल में, वर्तमान शाश्वत काल में और अनन्त शाश्वत भविष्यकाल में जिन अंतकरों ने, चरम शरीर वालों ने, सब दुःखों का नाश किया, करते हैं और करेंगे, वह सब उत्पन्न ज्ञानदर्शनधारी अरिहंत, जिन और केवली होकर फिर सिद्ध होते हैं, यावत्–सब दुःखों का नाश करेंगे?

उत्तर–हे गौतम! हां, बीते हुए अनन्त शाश्वत काल में यावत् सब दुःखों का अन्त करेंगे।

प्रश्न–भगवन्! वह उत्पन्नज्ञान–दर्शनधर, अरिहंत, जिन और केवली 'अलमस्तु' अर्थात् पूर्ण हैं, ऐसा कहना चाहिए?

उत्तर–गौतम! हां, वह उत्पन्न ज्ञान–दर्शनधारी, अरिहंत, जिन और केवली पूर्ण हैं, ऐसा कहना चाहिएं।

भगवन्! ऐसा ही है! भगवन्! यह ऐसा ही है।

व्याख्यान

पहले प्रश्नोतर में परमाणु आदि जड़ पदार्थ का तथा जीव का अस्तित्व प्रकट किया गया था। यहां यह बतलाते हैं कि जीव अगर अनादि है तो वह भव–बंधन से कभी छूटता है या नहीं? यह जानने के लिए ही गौतम स्वामी प्रश्न करते हैं। कई लोगों की धारणा है कि जो वस्तु अनादि से है, उसका कभी अभाव नहीं होता। भव–बंधन भी अनादि है अतएव उसका कभी अभाव नहीं हो सकता। भवबंधन का अभाव न होने से मोक्ष होना सम्भव नहीं है। हां, मोक्ष को थोड़े समय के लिए विश्रामस्थान भले ही मान लिया जाय। इस बात को स्पष्ट करने के लिए गौतम स्वामी प्रश्न करते हैं।

अगर यह मान लिया जाय कि अनादि संबंध कभी टूटता ही नहीं है तो अज्ञान अनादिकाल से है या आदि काल से? अगर अनादिकाल से है तो ज्ञान कभी होना ही नहीं चाहिए। अनादि अज्ञान का आत्मा के साथ जो संबंध है वह टूटकर ज्ञान कभी हो ही नहीं सकता। लेकिन अज्ञान का नाश होता है और ज्ञान की प्राप्ति भी होती है, इसी प्रकार मोक्ष भी प्राप्त हो सकता है। अनादिकालीन प्रागभाव का नाश होता है, यह प्रायः सर्व सम्मत है।

छद्मस्थ शब्द का अर्थ है—ढ़का हुआ। अर्थात् जिनका ज्ञान किसी आवरण से आच्छादित हो रहा है—दब रहा है— वह छद्मस्थ कहलाता है।

अवधिज्ञान वाले मनुष्य का ज्ञान भी आवरण से ढ़का होता है, तथापि यहां उसका ग्रहण नहीं करना चाहिए। जिसे अवधिज्ञान नहीं है, उसे ही यहां छद्मस्थ समझना चाहिए, क्योंकि आगे अवधिज्ञानी के लिए अलग प्रश्न किया गया है। अगर यहां अवधिज्ञानी भी छद्मस्थ पद से ले लिया जाय तो वह प्रश्न निरर्थक हो जायेगा। जिन्हें केवलज्ञान नहीं है, ऐसे सभी जीव छद्मस्थ पद में अन्यत्र समझे जाते हैं परन्तु यहां अवधिज्ञान से भी रहित जीवों को छद्मस्थ समझना चाहिए।

भाषाशास्त्र के अनुसार जो अर्थ एक सूत्र में गर्भित हो जाता है, उस अर्थ को प्रकट करने वाला दूसरा सूत्र निरर्थक हो जाता है। जब दूसरा सूत्र मौजूद हो तो उसके लिए जगह रखनी चाहिए। कल्पना कीजिए—किसी आदमी ने दो मनुष्यों को आमंत्रण देकर बुलाया। उनमें से एक पहले आ गया। वह आसन पर बैठ गया। दूसरा आदमी बाद में आया तो पहले आने वाले को चाहिए कि आसन पर जगह करके उसे भी बैठने दे। अन्यथा इस दूसरे आदमी का आना निरर्थक हो जायगा। इसी प्रकार जब अवधिज्ञानी का वर्णन अलग है और छद्मस्थ के वर्णन में भी अवधिज्ञानी का वर्णन कर दिया जायेगा तो अवधिज्ञानी वाला सूत्र निरर्थक हो जायेगा। अतएव छद्मस्थ के वर्णन में अवधिज्ञानी का वर्णन नहीं करना चाहिए किन्तु अवधिज्ञानी का वर्णन अवधिज्ञानी वाले सूत्र के लिए सुरक्षित रखना चाहिए। अवधिज्ञानी वाला सूत्र निरर्थक न हो इसीलिए टीकाकार ने कहा कि—यहां छद्मस्थ का अर्थ अवधिज्ञानी को छोड़कर है।

यहां केवल का अर्थ है—सिर्फ, अकेला, दूसरे की सहायता के बिना ही। यद्यपि 'केवल' शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। जैसे—

केवलमेगं सुद्धं वा सगलमसाहरणं अणंतं च।

अर्थात्—अकेला, शुद्ध, सम्पूर्ण, असाधारण और अनन्त इन अर्थों में केवल शब्द का प्रयोग होता है।

असाधारण संयम। श्री गौतम स्वामी पूछते हैं कि इस प्रकार का संयम पालने वाला छद्मस्थ अतीत काल में सिद्ध हुआ है?

संयम के बाद 'केवल संवर' के विषय में प्रश्न किया है। इन्द्रियों और कषायों को रोकना संवर कहलाता है। केवल शब्द का अर्थ वही है जो पहले बतलाया जा चुका है। केवल संयम के साथ ही गौतम स्वामी पूछते हैं–केवल संवर करने वाला छद्मस्थ भूत काल में सिद्ध हुआ है?

केवल ब्रह्मचर्यवास और केवल प्रवचन माता अर्थात् पांच समितियां और तीन गुप्तियां–इन दो पदों का अर्थ स्पष्ट ही है।

उपशान्त मोहनीय नामक ग्यारहवें गुणस्थान में सम्पूर्ण कषाय का विजय और सम्पूर्ण इन्द्रियों का निरोध होकर यथाख्यात चरित्र होता है। इस अवस्था में विशुद्ध संयम आदि विद्यमान हैं और विशुद्ध संयम ही मुक्ति का साधन है। यह विशुद्ध संयम उपशान्त मोह वाले में मौजूद है और वह छद्मस्थ है, तो क्या वह उसी भव में मोक्ष प्राप्त कर लेता है? इसी प्रकार बारहवें क्षीणमोहनीय गुणस्थान में विशुद्ध संयम आदि है लेकिन उस गुणस्थान वाला मनुष्य छद्मस्थ है तो क्या वह उसी गुणस्थान से मुक्ति प्राप्त कर सकता है?

वास्तव में यह प्रश्नोत्तर ज्ञान और क्रिया–दोनों को मोक्ष का साधन प्रकट करने के लिए है। दोनों में से एक के अभाव में मुक्ति नहीं मिलती। मगर कई लोग अकेली क्रिया से मोक्ष मानते हैं और कई अकेले ज्ञान से। दोनों

है, जो करते हैं या करेंगे, वे सब उत्पन्न ज्ञान–दर्शन को धारण करने वाले अर्हन्त, जिन, केवली होकर ही सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हुए हैं, होते हैं और होंगे।

जिन्हें अनादि–सिद्ध ज्ञान नहीं किन्तु जो उत्पन्न हुए ज्ञान और दर्शन को धारण करने वाले हैं उन्हें 'उत्पन्नज्ञान दर्शनधर' कहते हैं। इस विशेषता से अनादि मुक्तात्मा मानने वाले मत का निराकरण किया गया है। कई लोगों का यह कथन है कि ईश्वर अनादिकाल से, स्वतः सिद्ध ज्ञानवान है। उसे कर्मक्षय की आवश्यकता नहीं है। लेकिन जैनशास्त्र का सिद्धान्त यह है कि समस्त ज्ञानियों को कर्मक्षय करने के पश्चात् ही केवल ज्ञान व दर्शन प्राप्त होता है।

अर्हा का अर्थ है–पूजा के योग्य। जैसा पूज्य होता है वैसी ही उसकी पूजा की जाती है। लोक में भी किसी देव की पूजा तेल–सिंदूर से की जाती है, किसी की केसर–चन्दन से। केसर से पूजने योग्य देव की पूजा अगर तेल–सिंदूर से करें तो वह पूजित नहीं समझा जाता और यही कहा जाता है कि जैसा देव वैसी पूजा होनी चाहिए। यही बात अर्हन्त के लिए है। अर्हन्त किस प्रकार की पूजा के योग्य है यह समझने की बात है। अर्हन्त की पूजा सबसे पहले गणधर ही करते हैं। आगे के पाठ में आया है कि गौतम स्वामी ने भगवान् की पूजा की, तो क्या उन्होंने पुष्प चढ़ाकर उनकी पूजा की थी? कदाचित् यह कहा जाय कि गौतम स्वामी मुनि थे और मुनियों को सचित्त पदार्थ का स्पर्श करना भी नहीं कल्पता है मगर हम लोग गृहस्थ हैं इसलिए हमें ऐसी पूजा करने की छूट है; तो इसके लिए चरितानुयोग देखना चाहिए। कोणिक राजा ने भी भगवान् की पूजा की थी। कोणिक भगवान् के पास सचित्त वस्तु–फूल–फल आदि तथा शस्त्र लेकर नहीं गया था। उसने मन, वचन, काय से पूजा की थी। अर्हन्त भगवान् पर एकान्त भाव धारण करना, उन्हें ही आराध्य देव मानकर सब तरफ से मन को हटा लेना, मन से पूजा करना कहलाता है। भगवान् के वचन को तथ्य है, सत्य है आदि कहना और उनकी स्तुति करना वचन से पूजा है तथा पंचांग नमाकर नमन करना कायिक पूजा है। इस प्रकार की पूजा के योग्य जो है उन्हें अर्हन्त या अर्ह कहते हैं। यही भगवान् की उत्कृष्ट एवं आदर्श पूजा है।

भगवान् ने फरमाया—हे गौतम! छद्मस्थ मोक्ष नहीं गये हैं, न जाते हैं, न जावेंगे किन्तु जो अर्हन्त, जिन और केवली होते हैं, वही मोक्ष गये हैं, जाते हैं और जाते रहेंगे।

इस सूत्र से यह स्पष्ट हो गया कि मुक्ति प्राप्त करने के लिए ज्ञान और क्रिया—दोनों की आवश्यकता है। पूर्ण ज्ञान और पूर्ण क्रिया होने पर ही मोक्ष होता है। ज्ञान और क्रिया दोनों के बिना काम नहीं चलता। 'नह्येक चक्रेण रथः प्रयाती' अर्थात् एक पहिये से रथ नहीं चलता। इसी प्रकार अकेले ज्ञान और अकेली क्रिया कार्य साधन नहीं है। दो पहियों से रथ चलता है। इसी प्रकार ज्ञान और क्रिया से मोक्ष प्राप्त होता है।

छद्मस्थ के विषय में प्रश्न के पश्चात् गौतम स्वामी अवधिज्ञानी के संबंध में पूछते हैं कि—प्रभो! अवधिज्ञानधारी मनुष्य, जिसे एक देश मुख्य प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न हो गया है, क्या अकेले संयम से, अकेले संवर से, अकेले ब्रह्मचर्य से और अकेली प्रवचनमाता की आराधना से सिद्ध हुआ है, सिद्ध होता है या सिद्ध होगा?

भगवान् उत्तर फरमाते हैं—हे गौतम! यह अर्थ समर्थ नहीं है अर्थात् ऐसा नहीं हो सकता। केवल ज्ञानी होने पर ही मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है।

अवधिज्ञान के अनेक भेद—प्रभेद हैं। कोई अवधिज्ञानी अंगुल के असंख्यात भाग को ही जानते हैं और कोई सम्पूर्ण लोक को तथा लोक के बराबर असंख्यात खंड अलोक को भी जानने की शक्ति रखते हैं। इतना प्रबल अवधिज्ञान होने पर तथा यथाख्यात संयम का बल होने पर ही केवल संवर, ब्रह्मचर्यवास और केवल प्रवचनमाता की आराधना से मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता। केवली होने पर ही मुक्ति प्राप्त की जा सकती है।

इसके अनन्तर गौतम स्वामी पूछते हैं–भगवन्! बीते हुए अनन्त शाश्वत काल में केवली मनुष्य ने सब दुःखों का नाश किया है?

भगवान् फरमाते हैं–हे गौतम! हां, केवली मनुष्य सिद्ध हुए हैं, उन्होंने सब कर्मों का नाश किया है। इसी प्रकार करते हैं और करेंगे।

यहां यह शंका हो सकती है कि छद्मस्थ संबंधी उत्तर में भगवान् ने फरमा दिया था कि केवली ही मोक्ष जाते हैं, तब केवली के विषय में यह प्रश्न अलग क्यों किया गया है?

इसका ठीक कारण तो पूर्णज्ञानी ही जानें लेकिन पुनः प्रश्न करने का प्रयोजन यह मालूम होता है कि एक ही प्रश्न को दूसरी बार पूछने से और भगवान् का उत्तर सुनने से ज्ञान में विशेष विकास और दृढ़ता आती है। इस अभिप्राय के सिवाय और क्या गंभीर अभिप्राय था। यह नहीं कहा जा सकता।※

जितने भी सिद्ध हुए हैं, वे सब मनुष्यभव से ही हुए हैं। मनुष्य के सिवा और कोई जीव चरम शरीरी नहीं हो सकता। चरम शरीरी हुए बिना केवली नही हो सकता और केवली हुए बिना मोक्ष होना असम्भव है। इस पर यह प्रश्न किया जा सकता है कि अगर ऐसा है तो मोक्ष की आदि होनी चाहिए। अर्थात् कोई खास समय ऐसा होना चाहिए जब मनुष्य पहले– पहल मोक्ष गया और उससे पहले कोई मोक्ष नहीं गया था। क्या यह सत्य है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि यह नतीजा निकालना ठीक नहीं है, क्योंकि मनुष्य अनादिकाल से चला आता है अतएव मोक्ष भी अनादिकाल से ही है। जैसे

※ दुबारा प्रश्न करने के सम्भवतः दो उद्देश्य और हो सकते हैं। प्रथम यह कि छद्मस्थ वाले प्रश्न में निषेध प्रधान है और केवली वाले प्रश्न में विधि प्रधान है। अर्थात् पहले उत्तर की मुख्य ध्वनि यह है कि छद्मस्थ मोक्ष नहीं पा सकता और दूसरे उत्तर का मुख्य लक्ष्य यह है कि केवली अवश्य ही मोक्ष प्राप्त करता है। तात्पर्य यह है कि पहले प्रश्न के उत्तर से यह प्रकट हो गया था कि छद्मस्थ मोक्ष नही जाते, केवली ही मोक्ष जाते हैं। दूसरे प्रश्न के उत्तर मे यह सूचित किया गया है कि केवली मोक्ष ही जाते है, अन्यत्र नहीं जा सकते। दूसरे कई लोग मुक्ति नही मानते, कई मानते तो हैं मगर मुक्ति को सास्वत (शाश्वत) नही मानते, उनका निषेध करने के अभिप्राय से यह प्रश्न पूछा गया हो, यह बहुत कुछ सम्भव है। –सम्पादक

काल अनादि और अनन्त है उसी प्रकार प्रवाह रूप से मनुष्य भी अनादि और अनन्त है। इस कारण मोक्ष भी अनादि अनन्त है। इसीलिए गौतम स्वामी ने शाश्वत काल के विषय में प्रश्न किया है।

भगवान् फरमाते हैं–केवली भूतकाल में भी मोक्ष गये हैं, भविष्य में भी मोक्ष जाएंगे और वर्तमान में भी जाते हैं।

अब भूत, भविष्य और वर्तमान, इन तीनों कालों को मिलाकर गौतम स्वामी प्रश्न करते हैं–भगवन्! बीते हुए अनन्त शाश्वत काल में, वर्तमान शाश्वत काल में और अनन्त शाश्वत भविष्य काल में अन्त करने वालों ने अन्तिम शरीर वालों ने सब दुःखों का अंत किया है, करते हैं या करेंगे? वे सब उत्पन्न ज्ञान–दर्शनधर; अर्हन्त, जिन तथा केवली होकर ही सिद्ध होते हैं, सब दुःखों का अन्त करते हैं?

इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने फरमाया–हां, गौतम! ऐसा ही है।

इसके पश्चात्! गौतम स्वमी पूछते हैं–भगवन्! उत्पन्न ज्ञानदर्शनधर, अरिहंत, जिन और केवली 'अलमस्तु' कहलाते हैं?

अलमस्तु का अर्थ है–पूर्ण। जिन्होंने प्राप्त करने योग्य सब ज्ञानादि गुण प्राप्त कर लिये हैं, कुछ भी प्राप्त करने योग्य शेष नहीं रहा है वे पूर्ण या अलमस्तु कहलाते हैं।

गौतम स्वामी के प्रश्न के उतर में भगवान् ने फरमाया– हां, गौतम! उत्पन्न ज्ञान–दर्शनधर, जिन और केवली अलमस्तु कहलाते हैं।

इस प्रश्नोतर से यह भी प्रतीत हो जाता है कि मुक्तात्माओं को फिर कभी संसार में अवतार नहीं लेना पड़ता। जैसा कि आजीवक आदि अनेक मत वाले मानते हैं। मुक्ति शाश्वत है। गाथा–

सेवं भंते! सेवं भंते! गौतम बोल्या सांई।
श्री वीरजी रा वचनां में सन्देह नहीं।
हाथ जोड़ी मान मोड़ी गौतम बोल्या सांई।
श्री वीरजी रा वचनां में सन्देह नहीं।

श्री जवाहर विद्यापीठ, भीनासर

— एक परिचय —

स्थानकवासी जैन परम्परा में आचार्यश्री जवाहरलालजी म.सा. एक महान् क्रांतिकारी संत हुए हैं। आषाढ़ शुक्ला अष्टमी, संवत् 2000 को भीनासर में सेठ हर्मीरमलजी बांठिया स्थानकवासी जैन पौषधशाला में उन्होंने संथारापूर्वक अपनी देह का त्याग किया। उनकी महाप्रयाण यात्रा के वाद चतुर्विध संघ की एक श्रद्धांजलि सभा आयोजित की गई, जिसमें उनके अनन्य भक्त भीनासर के सेठ श्री चम्पालालजी बांठिया ने उनकी स्मृति में भीनासर में ज्ञान–दर्शन–चारित्र की आराधना हेतु एक जीवन्त स्मारक बनाने की अपील की। तदनुसार दिनांक 29.4.1944 को श्री जवाहर विद्यापीठ के रूप में इस स्मारक ने मूर्त रूप लिया।

महिलाओं को स्वावलम्बी बनाने हेतु संस्था द्वारा सिलाई, बुनाई, कढाई–प्रशिक्षण–केन्द्र का संचालन किया जाता है, जिसमें योग्य अध्यापिकाओं द्वारा महिलाओं व छात्राओं को सिलाई, बुनाई, कढ़ाई व पेन्टिंग कार्य का प्रशिक्षण दिया जाता है। इससे वे अपने गृहस्थी के कार्यों में योगदान दे सकती हैं और आवश्यकता पड़ने पर इस कार्य के सहारे जीवन में स्वावलम्बी भी बन सकती हैं।

संस्था के संस्थापक स्वर्गीय सेठ श्री चम्पालालजी बांठिया की जन्म जयन्ती पर प्रत्येक वर्ष उनकी स्मृति में एक व्याख्यानमाला का आयोजन किया जाता है जिसमें उच्च कोटि के विद्वानों को बुलाकर प्रत्येक वर्ष अलग–अलग धार्मिक, सामाजिक विषयों पर प्रवचन आयोजित किए जाते हैं।

उपरोक्त के अलावा प्रदीपकुमारजी रामपुरिया–स्मृति–पुरस्कार के अन्तर्गत भी प्रतिवर्ष स्नातकस्तरीय कला, विज्ञान एवं वाणिज्य संकाय में बीकानेर विश्वविद्यालय में प्रथम व द्वितीय स्थान प्राप्त करने वाले विद्यार्थियों को नकद राशि, प्रशस्ति–पत्र एवं प्रतीक–चिह्न देकर सम्मानित किया जाता है एवं स्नातकोत्तर शिक्षा में बीकानेर विश्वविद्यालय में सर्वाधिक अंक प्राप्त करने वाले एक विद्यार्थी को विशेष योग्यता पुरस्कार के रूप में प्रशस्ति–पत्र एवं प्रतीक–चिह्न देकर सम्मानित किया जाता हैं।

विद्यापीठ द्वारा ठण्डे, मीठे जल की प्याऊ का संचालन किया जाता है। जनसाधारण के लिए इसकी उपयोगिता स्वयंसिद्ध है। इस प्रकार अपने बहुआयामी कार्यों से श्री जवाहर विद्यापीठ निरन्तर प्रगति–पथ पर अग्रसर है।

श्री जवाहर विद्यापीठ, भीनासर की स्थापना हुई। संस्था जवाहर–साहित्य को लागत मूल्य पर जन–जन को सुलभ करा रही है और पण्डित शोभाचन्द्रजी भारिल्ल के सम्पादकत्व में सेठजी ने 33 जवाहर किरणावलियों का प्रकाशन कर एक उल्लेखनीय कार्य किया है। बाद में संस्था की स्वर्णजयन्ती के पावन अवसर पर श्री बालचन्दजी सेठिया व श्री खेमचन्दजी छल्लाणी के अथक प्रयासों से किरणावलियों की संख्या बढ़ाकर 53 कर दी गई। आज यह सैट प्रायः बिक जाने पर श्री जवाहर विद्यापीठ में यह निर्णय किया गया कि किरणावलियों को नया रूप दिया जावे। इसके लिए संस्था के सहमंत्री श्री तोलाराम बोथरा ने परिश्रम करके विषय–अनुसार कई किरणावलियों को एक साथ समाहित किया और पुनः सभी किरणावलियों को 32 किरणों में प्रकाशित करने का निर्णय किया गया।

ज्योतिर्धर श्री जवाहराचार्यजी म.सा. के साहित्य के प्रचार–प्रसार में जवाहर विद्यापीठ, भीनासर की पहल को सार्थक और भारत तथा विश्वव्यापी बनाने में श्री अ.भा. साधुमार्गी जैन संघ, बीकानेर की महती भूमिका रही। संघ ने अपने राष्ट्रव्यापी प्रभावी संगठन और कार्यकर्ताओं के बल पर जवाहर किरणावलियों के प्रचार–प्रसार और विक्रय–प्रबन्धन में अप्रतिम योगदान प्रदान किया है। आज संघ के प्रयासों से यह जीवन–निर्माणकारी साहित्य जैन–जैनेतर ही नहीं, अपितु विश्व–धरोहर बन चुका है। संघ के इस योगदान के प्रति हम आभारी हैं।

धर्मनिष्ठ, सुश्राविका श्रीमती राजकुंवर बाई मालू धर्मपत्नी स्व. डालचन्दजी मालू द्वारा आरम्भ में समस्त जवाहर–साहित्य–प्रकाशन के लिए 60,000 रु. एक साथ प्रदान किये गये थे जिससे पूर्व में लगभग सभी किरणावलियाँ उनके सौजन्य से प्रकाशित की गई थीं। सत्साहित्य–प्रकाशन के लिए बहिनश्री की अनन्य निष्ठा चिरस्मरणीय रहेगी।

प्रस्तुत किरणावली का पिछला संस्करण श्री गोकुलचन्द जी सिपानी, बैंगलोर एवं श्री भंवरलालजी दस्साणी कलकता के सौजन्य से प्रकाशित किया गया और प्रस्तुत किरण 29 (भगवती सूत्र व्याख्यान भाग 3 एवं 4) के अर्थ–सहयोगी श्रीमान् प्रेमचन्दजी व्होरा, बदनावर हैं। संस्था सभी अर्थ–सहयोगियों के प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करती है।

निवेदक

चम्पालाल डागा — *अध्यक्ष*

सुमतिलाल बांठिया — *मंत्री*

आचार्य श्री जवाहरलालजी म.सा.

जीवन–तथ्य

जन्म स्थान	:	थांदला, मध्यप्रदेश
जन्म तिथि	:	वि.सं. 1932, कार्तिक शुक्ला चतुर्थी
पिता	:	श्री जीवराजजी कवाड़
माता	:	श्रीमती नाथीबाई
दीक्षा स्थान	:	लिमड़ी (म.प्र.)
दीक्षा तिथि	:	वि.सं. 1948, माघ शुक्ला द्वितीया
युवाचार्य पद स्थान	:	रतलाम (म.प्र.)
युवाचार्य पद तिथि	:	वि.सं. 1976, चैत्र कृष्णा नवमी
आचार्य पद स्थान	:	जैतारण (राजस्थान)
आचार्य पद तिथि	:	वि.सं. 1976, आषाढ़ शुक्ला तृतीया
स्वर्गवास स्थान	:	भीनासर (राज.)
स्वर्गवास तिथि	:	वि.सं. 2000, आषाढ़ शुक्ला अष्टमी

आचार्य श्री जवाहरलालजी म. सा.

1. देश मालवा गल गम्भीर उपने वीर जवाहर धीर
2. प्रभु चरणों की नौका में
3. तृतीयाचार्य का आशीर्वाद एवं ज्ञानाभ्यास प्रारम्भ
4. नई शैली
5. मैं उदयपुर के लिए जवाहरात की पेटी भेज दूंगा
6. जोधपुर का उत्साही चातुर्मास, दयादान के प्रचार का शंखनाद
7. जनकल्याण की गंगा बहाते चले
8. कामधेनु की तरह वरदायिनी बने कॉन्फ्रेंस
9. धर्म का आधार– समाज–सुधार
10. महत्त्व पदार्थ का नहीं, भावना का है
11. दक्षिण प्रवास में राष्ट्रीय जागरण की क्रांतिकारी धारा
12. वैतनिक पण्डितों द्वारा अध्ययन प्रारम्भ
13. युवाचार्य पद महोत्सव में सहज विनम्रता के दर्शन
14. आपश्री का आचार्यकाल– अज्ञान–निवारण के अभियान से आरम्भ
15. लोहे से सोना बनाने के बाद पारसमणि बिछुड़ ही जाती है
16. रोग का आक्रमण
17. राष्ट्रीय विचारों का प्रबल पोषण एवं धर्म–सिद्धांतों का नव विश्लेषण
18. थली प्रदेश की ओर प्रस्थान तथा 'सद्धर्ममंडन' एवं 'अनुकम्पाविचार' की रचना
19. देश की राजधानी दिल्ली में अहिंसात्मक स्वातंत्र्य–आंदोलन को सम्बल
20. अजमेर के जैन साधु सम्मेलन में आचार्यश्री के मौलिक सुझाव
21. उत्तराधिकारी का चयन–मिश्री के कूंजे की तरह बनने की सीख
22. रूढ़ विचारों पर सचोट प्रहार और आध्यात्मिक नव–जागृति
23. महात्मा गांधी एवं सरदार पटेल का आगमन
24. काठियावाड़–प्रवास में आचार्यश्री की प्राभाविकता शिखर पर
25. अस्वस्थता के वर्ष, दिव्य सहनशीलता और भीनासर में स्वर्गवास
26. सारा देश शोक–सागर में डूब गया और अर्पित हुए अपार श्रद्धा–सुमन परिशिष्ट सं. 1, 2, 3, 4, 5, 6, 7

आचार्यश्री जवाहर–ज्योतिकण

+ विपत्तियों के तमिस्र गुफाओं के पार जिसने संयम–साधना का राजमार्ग स्वीकार किया था।
+ ज्ञानार्जन की अतृप्त लालसा ने जिनके भीतर ज्ञान का अभिनव आलोक निरंतर अभिवर्द्धित किया।
+ संयमीय साधना के साथ वैचारिक क्रांति का शंखनाद कर जिसने भू–मण्डल को चमत्कृत कर दिया।
+ उत्सूत्र सिद्धांतों का उन्मूलन करने, आगम–सम्मत सिद्धांतों की प्रतिष्ठापना करने के लिए जिसने शास्त्रार्थों में विजयश्री प्राप्त की।
+ परतंत्र भारत को स्वतंत्र बनाने के लिए जिसने गांव–गांव, नगर–नगर पाद–विहार कर अपने तेजस्वी प्रवचनों द्वारा जन–जन के मन को जागृत किया।
+ शुद्ध खादी के परिवेश में खादी–अभियान चलाकर जिसने जन–मानस में खादी–धारण करने की भावना उत्पन्न कर दी।
+ अल्पारंभ–महारंभ जैसी अनेकों पेचीदी समस्याओं का जिसने अपनी प्रखर प्रतिभा द्वारा आगम–सम्मत सचोट समाधान प्रस्तुत किया।

"हुक्म संघ के आचार्य"

1. **आचार्य श्री हुक्मीचंदजी म.सा. – दीक्षा वि.स. 1870, स्वर्गवास वि.स. 1917**
   ज्ञान-सम्मत क्रियोद्धारक, साधुमार्गी परम्परा के आसन्न उपकारी।
2. **आचार्य श्री शिवलालजी म.सा. – दीक्षा वि.स. 1891, स्वर्गवास वि.स. 1933**
   प्रतिभा–सम्पन्न प्रकाण्ड विद्वान, परम तपस्वी, महान शिवपथानुयायी।
3. **आचार्य श्री उदय सागरजी म.सा. – दीक्षा 1918, स्वर्गवास वि.स. 1954**
   विलक्षण प्रतिभा के धनी, वादी–मान–मर्दक, विरक्तों के आदर्श विलक्षण।
4. **आचार्य श्री चौथमलजी म.सा. – दीक्षा 1909, स्वर्गवास वि.स. 1957**
   महान क्रियावान, सागर सम गंभीर, संयम के सशक्त पालक, शांत–दांत, निरहंकारी, निर्ग्रन्थ–शिरोमणि।
5. **आचार्य श्री श्रीलालजी म.सा. – दीक्षा 1944, स्वर्गवास वि.स. 1977**
   सुरा–सुरेन्द्र–दुर्जय कामविजेता, अद्‌भुत स्मृति के धारक, जीव–दया के प्राण।
6. **आचार्य श्री जवाहरलालजी म.सा. – दीक्षा 1947, स्वर्गवास वि.स. 2000**
   ज्योतिर्धर, महान क्रांतिकारी, क्रांतदृष्टा, युगपुरुष।
7. **आचार्य श्री गणेशीलालजी म.सा. – दीक्षा 1962, स्वर्गवास वि.स. 2019**
   शांत क्रांति के जन्मदाता, सरलता की सजीव मूर्ति।
8. **आचार्य श्री नानालालजी म.सा. – दीक्षा 1996, स्वर्गवास वि.स. 2056**
   समता–विभूति, विद्वद्‌शिरोमणि, जिनशासन–प्रद्योतक, धर्मपाल–प्रतिबोधक, समीक्षण–ध्यानयोगी।
9. **आचार्य श्री रामलालजी म.सा. – दीक्षा 2031, आचार्य वि.सं. 2056 से**
   आगमज्ञ, तरुण तपस्वी, तपोमूर्ति, उग्रविहारी, सिरीवाल–प्रतिबोधक, व्यसनमुक्ति के प्रबल प्रेरक, बालब्रह्मचारी, प्रशांतमना।

आसक्ति से ऊपर उठकर पत्नी वियोग को सहन कर आपने अपना जीवन धर्ममय बना लिया। उत्तम धार्मिक संस्कारों से निर्मित आपके परिवार ने एक भाई स्व. श्री नरेन्द्रकुमार व्होरा–लीलादेवी व्होरा एवं 5 बहिनें स्व. श्रीमती रतनबाई–श्री फूलचंदजी वोहरा, इन्दौर, श्रीमती जतनबाई–स्व. श्री कुशलकुमारजी छाजेड़, बड़नगर, श्रीमती चंदाबाई–श्री मिश्रीलालजी नवलखा, खाचरौद, श्री मती राजलबाई–श्री पुखराजजी चोपड़ा, इन्दौर श्रीमती अंगूरबाला–श्री सुजानमलजी सेठिया, रतलाम एवं आपके 2 पुत्र मनोज कुमार–निशादेवी, प्रदीपकुमार–सुनीता देवी,पुत्री संगीता–तरुणकुमार गोखरू, इन्दौर एवं 2 पौत्र, 2 पौत्रियां एवं दो नातियों से भरा–पूरा परिवार है।

आपकी कुशल कार्यक्षमता को देखते हुये वर्तमान में आप श्री अ.भा. साधुमार्गी जैन संघ के राष्ट्रीय उपाध्यक्ष पद एवं साधुमार्गी जैन संघ मध्यप्रदेश ईकाई के अध्यक्ष पद पर सुशोभित है। पद एवं प्रतिष्ठा से कोसो दूर श्री व्होराजी निरन्तर संघ, समाज की सेवा में संलग्न है। आपकी स्व. आचार्यश्री नानालालजी म.सा. एवं वर्तमान आचार्यश्री रामलालजी म.सा. पर अटूट श्रद्धा, आस्था एवं समर्पणा है। समय–समय पर आप पूज्य आचार्य प्रवर के दर्शन, प्रवचन एवं जिनवाणी का लाभ लेते हुए संघ एवं समाज में सक्रिय भूमिका निभा रहे हैं।

युगदृष्टा, युगपुरुष आचार्यश्री जवाहरलालजी म.सा. के प्रवचनों की श्रृंखला जवाहर किरणावली के उक्त भाग के सहयोगी के रूप में आपने जो सहयोग प्रदान किया है यह आपकी उदारदृष्टि एवं संघनिष्ठा का अनुपम उदाहरण है। समाज को आपसे काफी आशाएं है आशा है भविष्य में भी आपका सहयोग इसी प्रकार प्राप्त होता रहेगा इन्हीं मंगल भावनाओं के साथ।

भगवती सूत्र भाग–4

आत्मारम्भ परारम्भ आदि का वर्णन

तृतीय भागः

मूल पाठ–

प्रश्न– जीवाणं भंते! किं आयारंभा, परारंभा, तदुभयारंभा, अणारंभा?

उत्तर– गोयमा! अत्थेगइया जीवा आयारंभा वि, परारंभा वि, तदुभयारंभा; णो अणारंभा। अत्थेगइया जीवाणो आयारंभा, नो परारंभा, नो तदुभयारंभा, अनारंभा।

प्रश्न– से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ, अत्थेगइया जीवा आयारंभा वि' एवं पडिउच्चारेयव्वं?

उत्तर– गोयमा! जीवा दुविहा पण्णत्ता, तंजहा– संसारसमावन्नगा य, असंसारसमा– वण्णगा य। तत्थ णं जे ते असंसारसमावन्नगा ते णं सिद्धा, सिद्धा णं नो आयारंभा 3 जाव–अणारंभा। तत्थ णं जे ते संसार–समावण्णगा ते दुविहा पण्णत्ता, तं जहा–पमत्त–संजया य, अप्पमत्तसंजया य। तत्थ णं जे ते अप्पमत्तसंजया ते णं नो आयारंभा नो परारंभा, जाव–अणारंभा। तत्थ णं जे ते पमत्तसंजया ते सुहं जोगं पडुच्च नो आयारंभा, नो परारंभा जाव, अणारंभा। असुभंजोगं पडुच्च आयारंभा वि, जाव–णो–अणारंभा। से तेणट्ठेणं गोयमा! एवं वुच्चइ 'अत्थेगइया जीवा जाव अणारंभा।

उत्तर– गौतम! सन्त्येकका जीवा आत्मारम्भा अपि, परारम्भ अपि, तदुभयारम्भा अपि, नो अनारम्भाः। सन्त्येकका जीवा नो आत्मारम्भाः, नो परारम्भाः, नो उभयारम्भाः, अनारम्भाः।

प्रश्न– तत् केनार्थेन भगवन्! एवमुच्यते सन्त्येका जीवा आत्मारम्भा अपि, 'एवं प्रत्युच्चारयितव्यम्'?

उत्तर– गौतम! जीवा द्विविधाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा– संसारसमा पन्नकाश्च, असंसारसमापन्नकाश्च। तत्र ये ते असंसारसमापन्नकास्ते सिद्धाः, सिद्धा नो आत्मारम्भाः यावत् अनारंभाः। तत्र ये ते संसारसमापन्नकास्ते द्विविधाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा– संयताश्च, असंयताश्च। तत्र ये ते संयतास्ते द्विविधाः प्रज्ञप्ताः। तद्यथा प्रमत्तसंयताश्च, अप्रमत्तसंयताश्च। तत्र ये ते अप्रमत्तसंयतास्ते नो आत्मारम्भाः, नो परारम्भाः, यावत अनारम्भाः। तत्र ये ते प्रमत्तसंयास्ते शुभं योगं प्रतीत्य नो आत्मारम्भाः, नो परारम्भाः, यावत् अनारम्भाः, यावत् अनारम्भाः। अशुभं योगं प्रतीत्य आत्मारम्भा अपि, यावत् नो अनारम्भाः। तत्र ये ते असंयतास्ते अविरति प्रतीत्य आत्मारम्भा अपि, यावत् नो अनारम्भाः। तत् तेनार्थेन गौतम! एवमुच्यते– 'सन्त्येकका जीवा यावत् अनारम्भाः'

मूलार्थ– प्रश्न– भगवन्! क्या जीव आत्मारम्भ है, परारम्भ है, उभयारम्भ है, या अनारंभ है?

उत्तर– गौतम! कितनेक जीव आत्मारंभ भी हैं, परारंभ भी हैं और उभयारंभ भी हैं, पर अनारंभ नहीं हैं; तथा कुछ जीव आत्मारंभ नहीं हैं, परारंभ नहीं है, उभयारंभ नहीं है, पर अनारंभ हैं।

प्रश्न– भगवन्! इस प्रकार किस हेतु से कहते हैं कि 'कितनेक जीव आत्मारंभ भी हैं', इत्यादिक पूर्वोक्त प्रश्न फिर से उच्चारण करना चाहिए?

उत्तर– गौतम! जीव दो प्रकार के कहे गये हैं। वे इस प्रकार हैं– संसारसमापन्नक और असंसारसमापन्नक। उन में जो जीव असंसारसमापन्नक हैं, वे सिद्ध हैं और वे आत्मारंभ, परारंभ या उभयारंभ नहीं हैं, पर अनारंभ हैं। उनमें से जो संसारसमापन्नक हैं, वे दो प्रकार के कहे गये हैं। वह इस प्रकार संयत और असंयत। उनमें जो संयत हैं; वे दो प्रकार के हैं। वह इस प्रकार प्रमत्त संयत और अप्रमत्त संयत। उनमें जो अप्रमत्त संयत हैं वे आत्मारंभ, परारंभ या उभयारंभ नहीं हैं, पर अनारंभ हैं। उनमें जो प्रमत्तसंयत हैं, वे शुभ योग की अपेक्षा आत्मारंभ, परारंभ यावत् उभयारंभ नहीं, पर अनारंभ हैं और वे अशुभ योग की अपेक्षा आत्मारंभ भी हैं, यावत् अनारंभ नहीं हैं और जो असंयत हैं, वे अविरति की अपेक्षा से आत्मारंभ भी हैं और यावत् अनारंभ नहीं

है। इसलिए हे गौतम! इस हेतु से ऐसा कहा जाता है कि 'कितनेक जीव आत्मारंभ भी हैं यावत् अनारंभ भी है।'

व्याख्यान– गौतम स्वामी भगवान से प्रश्न करते हैं– भगवन्! जीव आत्मारंभी हैं, परारंभी हैं, तदुभयारंभी अर्थात् आत्मारंभी और परारंभी हैं, या अनारंभी हैं?

आरंभ शब्द अनेक अर्थों में प्रचलित है। किसी कार्य को शुरू करना भी आरंभ कहलाता है। लेकिन यहां यह अभिप्राय नही है। यहां आरंभ का अर्थ है– ऐसा सावद्य कार्य करना, जिससे किसी जीव को कष्ट पहुंचता हो या उसके प्राणो का घात होता हो। अर्थात् आस्रव द्वार मे प्रवृत्ति करना आरंभ कहलाता है।

मानना पड़ेगा कि कोई जीव स्वभाव से निरंजन, निर्विकार हैं और कोई स्वभाव से संसारी होते हैं। ऐसा माने बिना दो भेद किस प्रकार हो सकते हैं?

यह प्रश्न ऊपर से अटपटा जान पड़ता है, लेकिन वास्तव में अटपटा नहीं है। ज्ञानी जनों का कथन है कि जीव अनादिकाल से, स्वभाव से, निश्चयनय की अपेक्षा असंसारी ही है किन्तु कर्म–रूप उपाधि के संसर्ग से संसारी बना हुआ है यद्यपि जीवों के मौलिक स्वभाव में तनिक भी भेद नहीं है, मगर शुद्धि–अशुद्धि के कारण भेद हो गया है।

थोड़ी देर के लिए मान लिया जाय कि जीव अनादिकाल से असंसारी है तो यह सवाल खड़ा होता है कि संसार कब से है?

'अनादिकाल से!'

जब संसार अनादिकाल से है, तो जीव कर्म नाश करने का उपाय भी तभी से कर रहा है, ऐसी स्थिति में सिद्ध जीव की आदि किस प्रकार होगी? कल्पना कीजिए, एक नगर में दो मुहल्ले हैं। एक मुहल्ले के रहने वाले दूसरे मुहल्ले में गये हैं अब प्रश्न यह है कि शहर कब से है?

'अनादि से!'

अगर नगर को अनादि से मानोगे तो दोनों मुहल्ले और एक मुहल्ले से दूसरे मुहल्ले में जाना अनादि से मानना पड़ेगा। ऐसा न मानने पर नगर को भी अनादि नहीं माना जा सकता।

कल का भविष्य काल पहले वर्तमान के रूप में आया; तब भूतकाल हुआ है। आगे के हजार, लाख और करोड़ वर्ष भी इसी प्रकार समझ लीजिए। लेकिन भूतकाल कितना बीता, इसकी कोई सीमा है? नहीं!

जब भूतकाल, कभी न कभी वर्तमान के रूप में रह चुका है और वर्तमान के बाद ही भूतकाल बना है, तब उसे अनादि क्यों कहा जाता है? इसलिए कि उसकी आदि का पता नहीं है। इसी प्रकार कोई भी जीव, बिना संसारी अवस्था के सिद्ध नहीं हुआ है लेकिन कब से संसारी सिद्ध हो रहे हैं इस बात का पता नहीं लगाया जा सकता।

तात्पर्य यह है कि जीव दो प्रकार के हैं– संसारी और असंसारी। संसारी जीव आत्मारंभी, परारंभी, उभयारंभी और अनारंभी भी हैं तथा असंसारी निरारंभी ही हैं। असंसारी किसी भी प्रकार का आरंभ नहीं करते। संसारी जीव आरंभ करते हैं, इसी कारण वे संसार में हैं और आरम्भ का सर्वथा परित्याग कर देने पर असंसारी हो जाते हैं।

परिणाम यह आ रहा है कि लोग निरारम्भी तो हो नहीं पाते और महारम्भ में पड़े रहते हैं। गांधीजी ने आज जिस अहिंसा का उपदेश दिया है, वह यही है कि महारम्भ से बचो। महारम्भ से निकलने वाला अहिंसावादी ही माना जायेगा।

एक कपड़ा चर्खे से बना हुआ है और एक मिल से बना हुआ होता है। चर्खे से बने कपड़े में अल्पारम्भ है और मिल के बने कपड़े में महारम्भ है। अगर वस्त्र के बिना ही निर्वाह हो सके, तब तो दोनों ही प्रकार के आरम्भ उठ जाएं, लेकिन वस्त्र के बिना नहीं रहा जाता, अतएव महारम्भ की जगह अल्पारम्भ से काम चलाना श्रेयस्कर है।

तात्पर्य यह है कि अल्पारम्भ और महारम्भ दो बातें हैं। नग्न रहना शक्य नहीं है, अतएव वस्त्र की आवश्यकता हुई। वस्त्र बिना आरम्भ होने देना, या अल्पारम्भ से ही काम चलाना, इस विषय पर विवेक के साथ विचार करने की आवश्यकता है। कदाचित् आप का यह ख्याल हो कि जैसे शालिभद्र के लिए स्वर्ग से पेटियां आती थीं, उसी प्रकार हम लोगों के लिए मैनचेस्टर से गांठें आती हैं और बिना आरम्भ किये ही हमें वस्त्र मिल जाते हैं। मगर आप को यह भी ध्यान रखना चाहिए कि शालिभद्र ने उन वस्त्रों को भी बन्धनकारक समझकर त्याग दिया था। उसने कहा था– यह वस्त्र हमें नीचे गिराने वाले हैं, ऊंचे चढ़ाने वाले नहीं। अतएव शालिभद्र ने स्वर्गीय वस्त्रों को त्याग कर, मुनि बनकर देश की खादी धारण की थी। यह विचारणीय है कि जब स्वर्ग के वस्त्र भी बन्धनकारक हैं तो मिल के वस्त्र, जो महारम्भ से बने हैं, अधोगति के कारण क्यों न होंगे।

मुझे मिलों से द्वेष नहीं है। अल्पारम्भ और महारम्भ की मीमांसा करना और आपको बतलाना मेरा कर्त्तव्य है। अगर नग्न न रह सके और अल्पारम्भी वस्त्र भी धारण न किये तो महारम्भ में पड़ना ही पड़ेगा।

कहा जा सकता है कि वस्त्र–वस्त्र सब समान हैं। कौन वस्त्र कहां बना है, इस पचड़े में पड़ने की हमें क्या आवश्यकता है? हमें तो तन ढंकने से प्रयोजन है। लेकिन अगर मांसभक्षी भी यह कहने लगें कि हमें तो पेट भरने से मतलब है। अन्न हो या मांस हो, हमें इस पचड़े में पड़ने की क्या आवश्यकता है? तो क्या उसका कहना ठीक होगा? अतएव वस्त्र–वस्त्र सब समान है यह समझना और अल्पारम्भ, महारम्भ का विचार न करना धर्मज्ञता का लक्षण नहीं है।

संसार का पतन असहज कर्म से हुआ है, सहज कर्म से नहीं हुआ। बालक माता का दूध पीता है, यह सहज कर्म है और रक्त पीना असहज कर्म है। उचित यह समझा जाता है कि बड़ा होने पर बालक सहज कर्म दूध पीना भी छोड़ दे। लेकिन जब तक बड़ा नहीं हुआ है, तब तक रक्त पीने का असहज कर्म तो न करे!

बच्चा कभी मां के स्तन में दांत लगा देता है तो मां उसे थप्पड़ मारती है। यह इसलिए कि बालक को माता का दूध पीने का अधिकार है, रक्त पीने का हक नहीं है। इसी प्रकार यह पृथ्वी माता है। इस पर दूध पीने के समान अधिकारमय कार्य जब तक होते रहे तब तक इसका सौन्दर्य नहीं बिगड़ा था, लेकिन खून पीने के समान महारम्भ के कार्यों से इसका सौन्दर्य नष्ट हो रहा है। कोयलों के लिए जंगल वीरान हो गये, जिससे अनेक हानियां हुईं। इसी प्रकार धुएं से प्रकृति बिगड़ी। इन सब के बदले मिला क्या? केवल [illegible]

महारम्भ का त्याग करके अल्पारम्भी होना ही निरारम्भी होने का मार्ग है। आज महारम्भ का त्याग करोगे तो कल अल्पारम्भ को भी त्याग कर निरारम्भी हो सकोगे और अन्त में सिद्ध हो जाओगे।

आप लोग सन्देह ही सन्देह में पड़े रहते हैं। सुनते हैं, यूरोपियन लोग जब तक न जानें, तब तक तो चाहे न करेंगे, मगर जान लेने पर करने में देरी नहीं लगाते। आप लोग समझते हैं, बुरे को बुरा जान लिया तो बस हो गया, मिथ्यात्व का पाप टल गया। लेकिन पर–स्त्री को, पर–स्त्री समझते हुए कुकर्म करने वाला क्या पाप का भागी नहीं होता? इसी प्रकार महारंभ और अल्पारंभ को जानते हुए भी अगर महारम्भ को न छोड़ा तो यह जानना कैसा! इस जानने का फल क्या है?

एक गृहस्थ के घर में चोर घुसे। चोर जब घर में थे, तभी सेठानी की निद्रा भंग हो गई। सेठानी ने सेठजी को जगाया, सावधान किया और कहा– घर में चोर घुसे हैं, माल लिये जा रहे हैं। सेठजी ने उत्तर दिया– 'ठीक है, मालूम हो गया।' सेठानी ने फिर सेठ को चेताया, मगर उत्तर वही– 'जानता हूं, मालूम है।' अन्त में सेठजी 'जानता हूं, जानता हूं,' करते रहे और चोर माल असबाव उठा ले गये।

इसी प्रकार देश सेवक आपको चेतावनी दे रहे हैं कि जागो, संभलो, देखो, धन चला जा रहा है। अभी कुछ विशेष नहीं बिगड़ा है। अभी थोड़े ही पराक्रम का काम है, और वह भी सिर्फ इतना ही कि महारंभ को त्याग दीजिए। विदेशी खान–पान और वृथा व्यय से मुंह मोड़ लीजिए। उन्नति के कार्यों में जुट जाइए। आप विवाह आदि अवसरों पर जो वृथा व्यय करते हैं, वही अगर देश और जाति के उत्कर्ष में करें तो क्या आपको बदला नहीं मिलेगा? आप समझते हैं, विवाह में अधिक खर्च करने से समाज में सम्मान मिलता है,मगर क्या आप यह भी जानते हैं कि इससे कौन सम्मान देता है?

'मूर्ख लोग!'

तो इन मूर्खों द्वारा प्राप्त होने वाले सम्मान को तो आप मानते हैं, लेकिन देश सेवकों द्वारा मिलने वाले सम्मान को क्या आप सम्मान नहीं समझते! आप जो फिजूल खर्च करते हैं सो आप अपनी समझ में अपना खर्च करते हैं; लेकिन देश–सेवकों का कहना है कि आप भारतवर्ष के धन से होली खेल रहे हैं। आप ऐसा करके भारत का गला दबोच रहे हैं। कदाचित् आप देश और समाज की उन्नति में खर्च न करें, सिर्फ विवाह–शादियों और विदेशी वस्तुओं में खर्च करना वन्द कर दें, तो भी वह धन बचा तो रह सकेगा! अगर

सेठ की तरह 'जानूं हूं, जानूं हूं' करते रहे और जानकर भी आलस्य में पड़े रहे तो पूर्वोक्त सेठ की भांति लुट जाओगे और सेठानी के धिक्कार के पात्र बनोगे।

धन कभी किसी के यहां स्थायी नही रहा। आज है, कल चला जायेगा। इसलिये उससे सुकृत कर लो। आप जैन हैं, जैनधर्म का प्रभाव अपने उच्च चरित्र द्वारा बढ़ाइये। जैनधर्म को कलंकित करने वाला कोई काम न कीजिये।

अब मूल विषय पर आइए। यह कहा जा चुका है कि आरम्भ का सरल अर्थ है जीव को कष्ट पहुचाना। लेकिन इस अर्थ मे यह शंका हो सकती है कि जीव सदा–सर्वदा तो दूसरे को कष्ट पहुंचाता नही है, सब समय आरम्भ नही करता है। अतएव जीवों को कभी आरम्भ करने वाले और कभी आरम्भ न करने वाले कहना चाहिए। यह शंका उत्पन्न न हो, इसलिए आरम्भ का समुच्चय मे अर्थ किया गया है– आस्रव–द्वार मे प्रवृत्ति करना आरम्भ है क्योंकि सातवे गुणस्थान से आगे आरम्भिया क्रिया नही है।

यह प्रश्न इसलिए किया गया है कि ठाणांग सूत्र में आत्मा को एक कहा है। अतएव या तो सभी आरंभी हों या सभी निरारंभी हों। इसके अतिरिक्त मूल रूप में आत्मा अरूपी है। सो क्या आत्मा आरंभ करता है या सांख्य के कथनानुसार प्रकृति आरंभ करती है और आत्मा भोगता है? इत्यादि बातों को लक्ष्य में रखकर ही यह प्रश्न किया गया है।

इस प्रश्न का उत्तर भगवान ने यह दिया है कि –गौतम! कई जीव आत्मारंभी हैं, कई परारंभी हैं, कई उभयारंभी हैं, पर निरारंभी नहीं हैं। कई जीव ऐसे भी हैं जो न आत्मारंभी हैं, न परारंभी हैं, न उभयारंभी हैं, किन्तु निरारंभी हैं।

ठाणांगसूत्र में आत्मा को एक कहा गया है, वह शुद्ध संग्रहनय की अपेक्षा से ही। व्यवहारनय से जीव दो प्रकार के हैं– संसारी और सिद्ध।

संसरणं संसारः। अर्थात् एक गति से दूसरी गति में जाना संसार है। आत्मा की चंचल दशा ही संसार है। जो आत्मा चंचल दशा में है; वह संसारी है और जो चंचल दशा में नहीं है वह असंसारी या मुक्त है। इन्हीं को सिद्ध कहते हैं।

अष्टकर्म रूपी काष्ठ को या जीव के आस्रव आदि के हेतुओं को शुक्ल ध्यान की अग्नि से जलाकर, आवागमन,– रहित होने वाले को सिद्ध कहते हैं। गीता में कहा है–

'यत्र गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम'

अर्थात्– जिस स्थिति में पहुंच जाने पर फिर लौट कर नहीं आना पड़ता, उस स्थिति को सिद्ध गति कहते हैं। जो यह स्थिति प्राप्त करते हैं, वह सिद्ध कहलाते हैं।

सिद्ध भगवान् न आत्मारंभी हैं, न परारंभी हैं और न उभयारंभी हैं। वे सर्वथा निरारंभी हैं।

कुछ लोगों का कथन है कि जो शक्ति ईश्वर मानी गई है, वही जगत का कर्ता है। अगर यह कथन मान लिया तो ईश्वर को भी आरंभी मानना पड़ेगा। इस हालत में संसारी जीवों से उसमें कोई विशेषता न रह जायेगी। अतः जैन–धर्म ऐसा नहीं मानता। जैन धर्म के अनुसार सिद्ध कृतकृत्य होते हैं, उन्हें कोई भी काम करना शेष नहीं रहा है। बिना इच्छा के जगत् निर्माण होना संभव नहीं है और ईश्वर में इच्छा शेष नहीं रहती।

जो लोग ईश्वर को कर्ता मानते हैं, उनसे यह पूछना चाहिए कि आप ईश्वर को पूर्णतया कर्ता मानते हैं या अंशतया? अगर ईश्वर पूर्णतया कर्ता है,

तो हम लोग कुछ भी करने–धरने वाले नहीं रहे। जो कुछ किया, ईश्वर ने ही किया। खिलाना, पिलाना, चलाना आदि हमारी समस्त क्रियाओं का कर्ता भी ईश्वर ही ठहरता है। सभी भले–बुरे काम उसके ही कर्त्तव्य हैं। अगर यह सत्य है तो जीवों को भिन्न–भिन्न फल क्यों भोगने पड़ते हैं? मान लीजिए, एक बादशाह की प्रेरणा से पांच आदमियों ने पांच काम किये। जब पांचो बादशाह के बताये हुए काम करके लौटे, तो बादशाह ने उनमें से एक को वजीर बनाया, एक को दूसरा कोई ओहदा दिया, एक को पुरस्कार दिया, एक की सम्पत्ति छीन ली और एक को जेल में डाल दिया। सभी ने बादशाह की इच्छा से, प्रेरणा से, उसके बतलाए काम किए, फिर किसी को पुरस्कार और किसी को दंड क्यों? ऐसा करने वाला बादशाह क्या न्यायी कहला सकता है? नहीं।

डालेगा तो उसे मिठास आप ही आएगी। यह मिठास ईश्वर ने दी या मिश्री में ही मिठास का गुण है? मिर्च खाने वाले का मुंह जलेगा। सो ईश्वर उसका मुंह जलाने आयेगा या मिर्च में ही मुंह जलाने का गुण है। मिश्री अगर मिठास नहीं देती और मिर्च मुंह नहीं जलाती, तो वह मिश्री या मिर्च ही नहीं है। इसी प्रकार कर्म में अगर शुभाशुभ फल देने की शक्ति न हो तो वह कर्म ही नहीं है। जिस प्रकार मुंह को मीठा करने और जलाने का गुण मिश्री और मिर्च में है, उसी प्रकार शुभ और अशुभ फल देने की शक्ति कर्म में है।

तब प्रश्न होता है कि क्या ईश्वर को कर्त्ता न माना जाय?

हम प्रार्थना में ईश्वर को कर्त्ता मानते हैं, लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं है कि ईश्वर के सिर पर संसार रचने का भार लादते हैं और उसे संसार-कार्य में प्रवृत्त करते हैं। भगवान् ने अपने ज्ञान में सब जीवों को देखा है। जीव स्वयम् तो अपने कार्यों को नहीं जानते, परन्तु ईश्वर को अपने विशिष्ट ज्ञान द्वारा सबके कार्यों का पता है। इसलिए उन्होंने गौतम स्वामी को अपना वजीर बना कर सब हाल बतला दिया कि जीव इस प्रकार आत्मारंभी, इस प्रकार परारंभी और इस प्रकार उभयारंभी या निरारंभी होते हैं। ऐसा प्रकट करके भगवान् ने जगत् को सन्मार्ग दिखलाया है। सन्मार्ग प्रदर्शक होने से भगवान् कर्त्ता है। हम परमात्मा से प्रार्थना करते हैं-

आरुग्गबोहिलाभं, समाहिवरमुत्तमं दिन्तु।

अर्थात्- रोग रहित बोधि और श्रेष्ठतम समाधि दीजिए।

अगर परमात्मा कुछ न देता होता तो उससे यह याचना क्यों की जाती? इससे प्रकट है कि परमात्मा निमित्त रूप से कर्त्ता है। वह समस्त आत्मगुणों को प्रकट करने वाला है। यद्यपि हाथ से लिखा जाता है, तथापि प्रकाश के अभाव में लिखना शक्य नहीं है। लेखन-क्रिया में हाथ कर्त्ता है, लेकिन प्रकाश भी निमित्त कर्त्ता है। जैसे सूर्य आंख को प्रकाश देता है, उसी प्रकार ईश्वर हृदय को प्रकाश देता है। अतः ईश्वर को निमित्त-कर्त्ता मानने में कोई हानि नहीं है। स्तुति में भी कहा है-

कारण पद कर्त्तापणे रे, करि आरोप अभेद।
निज-पद अर्थी प्रभु थकी रे, करे अनेक उमेद।
अजित जिन! तारजो रे।।

जिसे कारण कहते हैं, उसे कर्त्ता मान कर, अभेद रूप से उसकी स्तुति करते हैं। अपने आत्मा की स्वतंत्रता चाहने वाला प्राणी, उस परमात्मा से अनेक उम्मीदें करता है और कहता है- प्रभो! मुझे तारो।

अपेक्षा से निरारंभी नहीं कह सकते। अतएव यहां शुभ योग का अर्थ सिर्फ मन, वचन, काय का योग नहीं है, किन्तु उपयोग लगाकर कार्य करना है।

टीकाकार लिखते हैं– शुभ योग वाला प्रमत्तसंयत निरारंभी है, इसका अर्थ यह है कि वह उपयोग सहित जो कार्य करता है, उस सोपयोग कार्य की अपेक्षा से वह निरारंभी है। उपयोगपूर्वक योग की प्रवृत्ति को शुभयोग कहते हैं। उदाहरण के लिए प्रतिलेखन क्रिया को लीजिए। अगर वह उपयोग सहित प्रतिलेखन करता है तो निरारम्भी है; अगर वह उपयोग के विना ही 'प्रतिलेखन करता है तो उसके अशुभयोग हैं। इसका प्रमाण यह है–

पुढवी–आउक्काए तेऊ वाऊ–वणस्सइ–तसाणं।
पडिलेहणापमत्तो, छण्हं पि विराहओ होइ।।

अर्थात्– प्रतिलेखना में प्रमाद करने वाला– उपयोग रहित होकर प्रतिलेखना करने वाला पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय– छहों कायों की विराधना करता है।

यद्यपि प्रतिलेखन करते समय छहों कायों के जीव वहां नहीं आते, लेकिन जहां उपयोग है वहीं दया है। उपयोग न रखना ही हिंसा है।

ऊपर जो गाथा प्रमाण रूप से उद्घृत की गई है, उसका व्यतिरेक रूप से अर्थ किया जाय तो यह स्पष्ट है कि उपयोग शुद्ध हो और प्रतिलेखन करे तो छहों कायों की दया करता है। अतएव यहां योग का अर्थ सामान्य योग नहीं लिया गया है, किन्तु उपयोग के अर्थ में योग शब्द का व्यवहार किया गया है। मन, वचन, काय की प्रवृत्ति रूप योग यहां लिया जाय तो बड़ी गड़बड़ी होगी।

सातवें से दसवें गुणस्थान में योग के नौ भेद माने जाते हैं। मगर तेरहपंथियों ने नौ भेद मिटा कर उनके स्थान पर पांच ही भेद रख दिये हैं। शुभ योग मिथ्यात्वी और अभव्य जीवन के भी होता है, मगर उनके उपयोग–यतना–नहीं होने के कारण उन्हें निरारम्भी नहीं कहा जा सकता।

सार यह है कि प्रमादी साधु छठे गुणस्थान में हैं। शब्द नय के अनुसार जिसमें उपयोग है, वह साधु है और जिसमें उपयोग नहीं है, वह साधु नहीं है। अनारंभी होने का कारण उपयोग है।

शरीर के योग से तेरहवें गुणस्थान तक हिंसा होती है। लेकिन उपयोग होने से वह हिंसा, हिंसा नहीं मानी जाती। प्रतिलेखन करते समय भी हलन–चलन होता है और उससे जीवघात भी होता है, लेकिन वहां उपयोग युक्त शुभ योग है, इसलिए हिंसा नहीं है। ऐसा साधु शुभयोगी होने

के कारण अनारम्भी है। इसके विपरीत हलन–चलन न करने वाले का योग भी अगर अशुभ है तो वह आरंभी ही माना जायेगा।

जैनधर्म में हिंसा और अहिंसा क्या है, यह देखने योग्य है। कई लोग यह तर्क किया करते है कि जैनशास्त्रों में एकेन्द्रिय जीव के घात को भी हिंसा कहा गया है। उधर साधु को पूर्ण अहिंसक भी माना है। यह कैसे संभव हो सकता है? मुनि से वायुकाय के जीवों की हिंसा होती है, चलने–फिरने में हिंसा होती है, बिना हिंसा किए कोई जीव जीवित नहीं रह सकता, ऐसी स्थिति मे साधु भी पूर्ण अहिंसक कैसे हो सकते हैं? कदाचित् और क्रियाएं बंद हो जाए तो भी जीवन के लिए श्वासोच्छ्वास अनिवार्य है। थोड़ा बहुत हलन–चलन भी अनिवार्य है। इसमे जीवघात होता है। फिर पूर्ण अहिंसा की साधना कैसे संभव हो सकती है? अतएव या तो इतनी सूक्ष्म हिंसा को हिंसा ही न समझा जाय या अहिंसा को अव्यवहार्य माना जाय।

जैन शास्त्रो में हिंसा का जो स्वरूप बतलाया गया है, उस पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने से इस प्रश्न का समाधान सहज ही हो जाता है। हिंसा का लक्षण इस प्रकार है–

प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा।

अप्रमादी कोटि के अन्तर्गत हैं। प्रमादी संयत भी दो प्रकार के हैं— एक शुभयोगी, दूसरे अशुभयोगी। शुभयोगी के विषय में पहले ही कहा जा चुका है। विस्तार के भय से उस पर और अधिक विचार नहीं किया जा सकता। जो शुभ योगी नहीं है, अर्थात जो साधु हो गये हैं मगर यतना को भूले हुए हैं, जिन्होंने आरम्भ का त्याग तो कर दिया है मगर सावधान—जागरूक नहीं हैं, वे शब्दनय से आत्मारंभी हैं, परारंभी हैं, उभयारंभी हैं, किन्तु निरारंभी नहीं हैं।

साधुओं! इस प्रश्नोत्तर से आपके लिए एक बात स्पष्ट हो जाती है। आप यह न समझें कि आपने तीन करण, तीन योग से पाप का त्याग कर दिया सो आप एकदम निष्पाप अवस्था में पहुंच गये हैं। अब कोई भी पाप आपको स्पर्श नहीं कर सकता। त्याग की प्रतिज्ञा का शाब्दिक उच्चारण करने से ही त्याग नहीं हो जाता। वास्तविक त्यागी और निरारंभी बनने के लिए सावधानी रखने की आवश्यकता है। जिस श्रद्धा के साथ संसार का परित्याग किया है, वही श्रद्धा आजीवन स्थिर रहे, बल्कि बढ़ती जाये, ऐसा प्रयत्न सदैव करना चाहिए। इसी प्रयोजन से भगवान् ने गौतम को क्षण भर भी प्रमाद न करने के लिए कहा है। प्रमाद ही आरंभ है। अतएव आरंभ का त्याग कर देने पर भी संयम में सावधानी न रखने से आरंभ होता है।

प्रश्न हो सकता है कि जो निरारंभी नहीं हैं, उन्हें साधु कैसे कहा जा सकता है? इसका समाधान यह है कि उनमें गफलत आ गई है, पर उस गफलत को मिटाने की इच्छा उनमें है और उनकी लेश्या शुद्ध है। अन्तःकरण में लेश्या की अशुद्धि नहीं है, इसलिए वे साधु पद में ही गिने जाते हैं। ऐसा व्यक्ति शीघ्र ही शुद्ध हो सकता है। जिसकी लेश्या बिगड़ जाएगी, वह लिंगधारी होने पर भी साधु नहीं है। भेष होने पर भी मिथ्यात्व होता है।

तात्पर्य यह है कि प्रमादी संयमी अशुभ योग की अपेक्षा तो आत्मारंभी हैं, परारंभी हैं, उभयारंभी हैं— अनारंभी नहीं हैं, और शुभ योग की अपेक्षा न आत्मारंभी, न परारंभी, न उभयारंभी हैं, वरन् अनारंभी हैं।

यह हुई संयत की बात। असंयत के विषय में भगवान् कहते हैं— असंयतों में जो अविरत है, वे आत्मारंभी भी हैं, परारंभी भी हैं और उभयारंभी भी हैं। वे अनारंभी नहीं है। असंयत में भले ही शुभ योग की प्रवृत्ति हो जाय, तब भी त्याग—दशा में होने वाली सावधानी उसमें नहीं है, अतएव वह अनारंभी नहीं है।

गौतम स्वामी भगवान से कहते हैं कि हे देवाधिदेव! आपकी अमृत अमृतवाणी सुनने से मुझे तृप्ति नहीं होती, इसलिए मैं फिर प्रश्न करता हूं। भगवान ने भी गौतम स्वामी को लक्ष्य करके बाल जीवों के कल्याण के लिए सब बातें कही हैं। बड़े आदमी को अमृत मिलता है तो वह सब को बांट देता है। इस नियम के अनुसार गौतम स्वामी ने जो प्रश्न किये हैं, वे सारे संसार के लिए हैं।

नारकी आदि चौबीस दंडक के जीव आरम्भी हैं?

मूलपाठ–

प्रश्न– नेरइया णं भंते! किं आयारंभा, परारंभा, तदुभयारंभा, अणारंभा?

उत्तर– गोयमा! नेरइया आयारंभा वि, जाव णो अणारंभा।

प्रश्न– से केणट्णेणं?

उत्तर–गोयमा! अविरतिं पडुच्च, ते तेणठ्ठेणं, जाव 'नो अणारंभा' एवं जाव असुरकुमारा वि। पंचिदियातिरिक्खजोणियावि।

मणस्सा जहा जीवा, णवरं सिद्धविरहिया भाणियव्वा।

वाणमंतरा जाव— वेमाणिया, जहानेरइया।

सलेस्सा जहा ओहिया। कण्हलेसस्स, नीललेसस्स, काउलेसस्स जहा ओहिया जीवा, नवरं पमत्त अप्पमत्ता न भाणियव्वा। तेउलेसस्स, पम्हलेसस्स, सुक्कलेसस्स जहा ओहिया जीवा, नवरं सिद्धा न भाणियव्वा।

संस्कृत–छाया–प्रश्न–नैरयिकाः भगवन्! किमात्मारम्भाः, परारम्भाः, तदुभयारम्भाः, अनारम्भाः?

उत्तर– गौतम! नैरयिका आत्मारम्भा अपि, यावत् नो अनारम्भाः।

प्रश्न– तत्केनार्थेन?

उत्तर– गौतम! अविरतिं प्रतीत्य, तत् तेनार्थेन, यावद् 'नो अनारम्भाः' एवं यावद् असुरकुमारा अपि। पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकाः, मनुष्या यथा जीवाः, नवरं सिद्धविरहिता भीणतव्याः।

वानव्यन्तरा यावद् वैमानिकाः, यथा नैरयिकाः।

सलेश्या यथा औधिकाः। कृष्णलेश्यस्य, नीललेश्यस्य, कापोतलेश्यस्य यथा औधिका जीवाः, नवरं प्रमत्ताऽप्रमत्ता न भणितव्याः। तेजोलेश्यस्य, पद्मलेश्यस्य, शुक्लेश्यस्य, यथा औधिका जीवा, नवरं सिद्धा न भणितव्याः।

मूलार्थ—प्रश्न—भगवन्! नारकी जीव क्या आत्मारंभी है, परारंभी है, तदुभयारंभी है, या अनारंभी है?

उत्तर— गौतम! नारकी आत्मारंभी भी है; यावत् अनारंभी नहीं है।

प्रश्न— भगवन्! किस कारण से?

उत्तर— गौतम! अविरति की अपेक्षा से— इसलिए अविरति रूप हेतु से नारकी यावत् अनारंभी नही है। इसी प्रकार यावत् असुरकुमार भी। पूर्वोक्त सामान्य जीवो की भांति पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनि वाले तक जानना चाहिए। मनुष्यो मे ज्यो समुच्चय जीव का कहा वैसे कहना। विशेषता यह है कि सामान्य जीवो मे सिद्ध कहे हैं सो यहां नही कहना चाहिए।

नैरयिको की तरह वान—व्यन्तर यावत वैमानिक समझना।

यह कथन करके भगवान् ने सावधान किया है कि हे साधुओं! ए मनुष्यों! जो योग देवों को भी प्राप्त नहीं हो सकता, वह योग तुम्हें प्राप्त है। इस दुर्लभ योग को प्रमादी होकर वृथा न खोओ। देवता भी निरारंभी नहीं हो सकते। तुम निरारंभी हो सकते हो। इसलिए व्रतों का पालन करने में असावधान मत रहना।

पृथ्वीकाय के जीव एकेन्द्रिय हैं, हिलते—डुलते नहीं हैं, न कुछ क्रिया ही करते हैं। वे इतने स्थिर हैं कि साधु भी उतना स्थिर नहीं दिखाई देता। साधुओं को पृथ्वी के समान बनने के लिए कहा जाता है। फिर भी वह वैसे नहीं हो पाते। पृथ्वी अच्छे—बुरे सभी व्यवहारों को समान भाव से सहन करती है। तो क्या पृथ्वी के जीव निरारंभी हैं? इस प्रश्न के उत्तर में भी भगवान् ने यही कहा है कि वे भी निरारंभी नहीं हैं, क्योंकि आत्मा की शुद्ध दशा की धारणा और आत्मा की जागृति व्रत से है। पृथ्वीकाय के जीवों में व्रत नहीं है, इसलिए वे निरारंभी नहीं कहला सकते। केवल ऊपर से काया सिकोड़ने से ही निरारंभी कोई नहीं हो सकता।

अपकाय, तेजकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय के लिए भी यही बात है। वे आत्मारम्भी हैं, परारंभी हैं, उभयारंभी हैं, निरारंभी नहीं हैं।

तिर्यंच पंचेन्द्रियों में से किसी—किसी में भावना जागृत हुई है, इनमें से श्रावक भी हुए हैं, परन्तु सम्पूर्ण व्रत का वहां भी संभव नहीं है। अतएव पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च भी आत्मारंभी हैं, परारंभी हैं, उभयारंभी हैं, किन्तु निरारंभी नहीं हैं।

मनुष्य संयत और असंयत के भेद से दो प्रकार के हैं। यों तो उनमें संयतासंयत नाम का तीसरा भेद भी है, पर यहां आरंभ का प्रकरण होने से दो ही भेद किये गये हैं। संयत के प्रमादी और अप्रमादी के भेद से दो प्रकार हैं। जीव के विषय में पहले समुच्चय रूप से जो कहा है वही यहां समझना चाहिए।

वाण—व्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक के विषय में नारकी जीवों के समान ही समझना चाहिए, क्योंकि अव्रत की दृष्टि से नारकी और देवता समान हैं।

साधुओं को ऐसी प्राप्ति हुई है जो सर्वार्थ सिद्धि के देवों को भी नसीब नहीं है। इतने पर भी अगर साधु शुद्ध उपयोग से भ्रष्ट होता है तो फिर नरक के जीवों की कक्षा में बैठना होगा।

सर्वार्थसिद्धि के देव बहुत सुखी हैं। वेदना–विकार उन्हें पीड़ित नहीं कर सकता। फिर भी वे साधु वृत्ति नहीं धारण कर सकते। मुनियों की आत्म–दशा उनसे भी उच्चतर है। इसका कारण क्या है? मुनियों को अनेक कष्ट सहने पड़ते हैं। कई बार उन्हें भोजन–पानी भी प्राप्त नहीं होता। कभी उनके शरीर की खाल उतार ली जाती है, नाना प्रकार के परिषह और उपसर्ग उन्हें सहन करने पड़ते हैं, फिर भी वह सर्वार्थ–सिद्ध के देवों की अपेक्षा अधिक सुखी क्यों हैं? इस प्रश्न के समाधान के लिए निराले ही चक्षु से देखने की आवश्यकता है। चर्म–चक्षु यहां काम नहीं देती। एक उदाहरण द्वारा यह बात समझाने का प्रयत्न किया जाता है।

एक बुद्धिमान धनिक को कोई रोग हो गया। उसकी जी घबड़ानेलगा और सिर मे पीड़ा होने लगी। उसके पास एक हीरा था। किसी जानकार पुरुष ने उससे कहा– मै औषध देकर तुम्हारी बीमारी हटा दूंगा, तुम अपना हीरा मुझे दे देना; क्या वह आदमी अपना हीरा देगा?

'नही!'

सम्बन्ध में है। कोई कोई दुःख, दुःख को वढ़ाने वाला होता है, कोई दुःख आत्मा को चिर सुखी वनाता है।

गौतम स्वामी भगवान् से पूछते हैं– भगवन्! सलेश्यलेश्या वाले जीव आत्मारंभी हैं, परारंभी हैं, उभयारंभी हैं या अनारंभी हैं?

इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् फरमाते हैं– लेश्या वाले जीव के विषय में वही उत्तर समझ लो, जो जीव के विषय में दिया गया है। कृष्ण, नील और कापोत लेश्या वाले जीवों को औधिक समझो। इतनी विशेषता अवश्य है कि इनमें प्रमादी, अप्रमादी तथा संयत, असंयत का भेद नहीं है; क्योंकि जिनमें यह तीन लेश्याएं होती हैं, वे संयत (साधु) नहीं होते। शेष आगे की तीन लेश्या वालों में यह भेद होते हैं। जहां लेश्या पद आवे वहां सिद्धों को छोड़ देना चाहिए, क्योंकि सिद्धों में लेश्या नहीं होती।

कृष्ण आदि द्रव्यों के निमित्त से जीव के जो परिणाम होते हैं, उन्हें लेश्या कहते हैं। कहा भी है:–

कृष्णादिद्रव्य साचिव्यात्, परिणामो य आत्मनः।
स्फटिकस्येव तत्राऽयं, लेश्याशब्दः प्रयुज्यते।।

आचार्य– रचित इस श्लोक का अर्थ यह है कि– कृष्ण आदि द्रव्यों की सन्निकटता से आत्मा में जो परिणाम उद्‌भूत होते हैं, उसे लेश्या कहते हैं। जैसे स्फटिक के नीचे काले रंग की वस्तु रखने से स्फटिक काला दिखाई देता है, वैसे ही लेश्या से आत्मा हो जाता है।

लेश्यावाले जीवों का जहां निरूपण करना हो वहां संसारसमापन्नक और असंसारसमापन्नक भेद नहीं करना चाहिए; क्योंकि लेश्यावाले संसारसमापन्नक ही होते हैं, असंसारसमापन्नक नहीं होते।

'हे भगवन्! क्या लेश्यावाले जीव आत्मारंभी हैं?' यह लेश्या का प्रश्न–क्रम है। इसी तरह के छह प्रश्न छह लेश्याओं के सम्बन्ध में और समझ लेने चाहिए। अतः लेश्या सम्बन्धी सात प्रश्न होते हैं। इनके उत्तर में कृष्ण, नील और कापोत लेश्या में जीव सामान्य के समान समझना चाहिए, सिर्फ प्रमादी और अप्रमादी के भेद छोड़ देने चाहिएं। संयत, असंयत का भी भेद नहीं करना चाहिए; क्योंकि इन लेश्याओं में संयम नहीं हो सकता।

शंका– भगवती सूत्र के 25वें शतक में कषाय कुशील संयमी को छहों लेश्याएं कही हैं, फिर यहां आप तीन अप्रशस्त लेश्याओं में संयम का निषेध कैसे करते हैं? सामायिक चारित्र और छेदोपस्थापना चारित्र तथा मनःपर्यय ज्ञान में छहों लेश्याएं वताई गई हैं, फिर यहां सिर्फ तीन लेश्यावालों में ही

साधुपन होता है, ऐसा क्यों कहते हैं? अतएव यहां प्रमादी, अप्रमादी के भेद का जो निषेध किया है सो उचित नहीं जान पड़ता। हां, यह कहा जा सकता है कि कृष्ण आदि तीन लेश्या वाले प्रमादी ही हैं; अप्रमादी नहीं।

समाधान– यदि प्रमादी होने के कारण ही अप्रशस्त लेश्याओं का होना कहते हो तो पुलाक–नियंठा (निर्ग्रन्थ–साधु) मूल गुण और उत्तर गुण के प्रतिसेवी है और लब्धि फोड़ने पर उनमें तीन शुद्ध लेश्याएं ही कही हैं। अगर इनमे अप्रशस्त लेश्याएं भी होती, तो फिर तीन प्रशस्त लेश्याएं ही क्यों कही है? इसी प्रकार बकुश नियंठा मे भी तीन ही लेश्याएं कही है।

कोई अपने मे दोष लगाना नही चाहता, फिर भी दोष लग गया है। किन्तु दोष लगने मात्र से लेश्या बुरी नही हो सकती। एक आदमी संकट में पड़ कर विवशता से बुरा काम करता है और दूसरा स्वेच्छा से– प्रसन्नतापूर्वक। इन दोनो मे कुछ भेद है या नही? अवश्य है। पहला मनुष्य बुरा काम करता हुआ भी विचार से शुद्ध है। दूसरा काम से और विचार से भी अशुद्ध है। अगर दोनो की लेश्याएं समान मानी जाए तो दोनो समान रूप से पापी समझे जाएगे।

भगवान् में शुद्ध लेश्या कही गई है। मगर तेरहपंथी गौशालक को बचाने के कारण भगवान् को पाप लगना कहना चाहते थे, इसलिए उन्होंने भगवान् को लेश्याएं भी छह कह दी हैं।

तात्पर्य यह है कि अशुद्ध लेश्याओं में साधुता नहीं रहती। वल्कि गोम्मटसार ग्रन्थ में तथा अन्य ग्रन्थों में तो अशुद्ध लेश्या में श्रावकपन भी नहीं माना हैं। इस पर यह प्रश्न किया जा सकता है कि श्रावक संसार सम्बन्धी कार्य करता है फिर उसमें शुद्ध लेश्या कैसे रह सकती है? इसका उत्तर यह है कि साधु लब्धि फोड़कर दूसरे को सजा देने पर भी जैसे विराधक नहीं है, उसी प्रकार श्रावक संसार सम्बन्धी कार्य करता हुआ भी, भावना की अशुद्धता के न होने के कारण अप्रशस्त लेश्या वाला नहीं है। व्रत का पालन शुद्ध लेश्या के अन्तर्गत है। यह कहा जा सकता है कि श्रावक आरंभ करता है, मगर यह भी नहीं भूलना चाहिए कि जहां वह हल्का आरम्भ करता है वहां व्रतों का पालन भी करता है। श्रावक के परिणाम सदा अच्छे रहते हैं, इसलिए उसकी लेश्या भी शुद्ध ही है।

तात्पर्य यह है कि कृष्ण, नील और कापोत लेश्या का एक दंडक कर लीजिए। यह तीन औधिक हैं। इनमें प्रमादी, अप्रमादी का भेद नहीं है, क्योंकि कृष्ण नील और कापोत लेश्या में साधुता नहीं है। जहां साधु में छह लेश्याएं कही गई हों वहां तीन द्रव्य लेश्याएं समझनी चाहिएं, भाव लेश्याएं नहीं। यह बात टीकाओं और टब्बों में स्पष्ट कर दी गई है। अतएव अशुद्ध लेश्याओं में प्रमादी और अप्रमादी का भेद नहीं रहता।

प्रश्न–सूत्र का उच्चारण किस प्रकार करना चाहिए? यह विधि बतलाते हैं। वह इस प्रकार है– भगवन्, कृष्ण–लेश्या वाले जीव आत्मारंभी हैं, परारंभी हैं, उभयारंगी हैं, या अनारंभी हैं? इसका उत्तर है– गौतम! आत्मारंभी हैं, परारंभी हैं, उभयारंभी हैं, अनारंभी नहीं हैं।

इससे यह सिद्ध हुआ कि कृष्णलेश्या वाला जीव जब अनारंभी होता ही नहीं है, तब उसमें प्रमादी और अप्रमादी का भेद कहां से आएगा?

गौतम स्वामी पूछते हैं– भगवन्! आपने जो निरूपण किया है सो किस हेतु से? इसका उत्तर भगवान देते हैं– अव्रत की अपेक्षा से कृष्णलेश्या वाले जीव आत्मारंभी होते हैं, परारंभी होते हैं, उभयारंभी होते हैं, किन्तु अनारंभी नहीं होते।

शास्त्रकारों ने विरताविरत (एकदेशविरत–श्रावक) में तीन अशुद्ध लेश्याएं भी मानी हैं, लेकिन कई ग्रंथ इससे सहमत नहीं हैं। गोम्मटसार में, श्रावक

में तीन शुद्ध लेश्याएं ही बताई हैं। इसके अनुसार खोटी लेश्यावाला श्रावक भी नहीं हो सकता।

जैसा प्रश्न और उत्तर कृष्णलेश्या के विषय में ऊपर लिखा गया है, वैसा ही नील और कापोत लेश्या में भी समझना चाहिए।

तेजोलेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या के प्रश्नोत्तर वैसे ही समझना चाहिए, जैसे समुच्चय जीव के विषय में है। इन लेश्याओं में संयत, असंयत, प्रमादी और अप्रमादी का भेद भी है।

प्रमादी मे भी तेजोलेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या होती है। उसमें शुभयोग और अशुभयोग भी होता है। अगर वह उपयोगपूर्वक प्रवृत्ति करता है तो अनारंभी है अगर ऐसा नही करता तो अनारंभी नहीं है।

तेजोलेश्या आदि मे समुच्चय जीव की अपेक्षा इतनी विशेषता है कि इनमे असंसारसमापन्नक (सिद्ध) नही कहना चाहिए, क्योंकि सिद्ध अलेश्य है।

संसार परिभ्रमण का हेतु आरंभ माना गया है। जितने आरंभ हैं सब दोषयुक्त है। मुक्ति पूर्ण निर्दोष को प्राप्त होती है, दोषी को नहीं। [illegible] में भी कहा है कि–

ज्ञान, दर्शन, चारित्र सम्बन्धी

प्रश्नोत्तर

मूलपाठ–

प्रश्न– इहभविए भंते! णाणे, परभविए नाणे, तदुभयभविए नाणे?

उत्तर–गोयमा! इहभविए वि नाणे, परभविए वि नाणे, तदुभयभविए वि नाणे। दंसणं पि एवमेव।

प्रश्न–इहभविए भंते! चरित्ते, परभविए चरित्ते, तदुभयभविए चरित्ते?

उत्तर– गोयमा! इहभविए चरित्ते, नो परभविए चरित्ते, नो तदुभयभविए चरित्ते। एवं तवे, संजमे।

संस्कृत–छाया–प्रश्न–ऐहभविकं! भगवन्! ज्ञानं, पारभविकं ज्ञानं, तदुभयभविकं ज्ञानम्?

उत्तर– गौतम! ऐहभविकमपि ज्ञानं, पारभविकमपि ज्ञानं, तदुभयभविकमपि ज्ञानम्। दर्शनमपि एवमेव।

प्रश्न– ऐहभविकं भगवन्! चारित्रं पारभविकं चारित्रं, तदुभयभविकं चारित्रम्?

उत्तर– गौतम! ऐहभविकं चारित्रं, नो पारभविकं चारित्रं, नो तदुभयभविकं चारित्रम्। एवं तपः, संयमः।

मूलार्थ– प्रश्न–भगवन्! क्या ज्ञान ऐहभविक हैं? पारभाविक हैं या उभयभविक हैं?

उत्तर– गौतम! ज्ञान ऐहभविक भी है; पारभविक भी है और उभयभविक भी है। इसी प्रकार दर्शन भी।

प्रश्न– भगवन्! चारित्र ऐहभविक है, पारभविक है या उभयभविक है?

उत्तर– गौतम! चारित्र ऐहभविक है, पारभविक नहीं है तथा उभयभविक भी नहीं है। इसी प्रकार तप और संयम भी समझना चाहिए।

व्याख्यान– सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र, यह तीनों मोक्ष के मार्ग हैं। इनके विषय में गौतम स्वामी प्रश्न करते हैं–

हे भगवन्! मोक्ष के अंग ज्ञान आदि को आत्मा जब एक बार प्राप्त कर लेता है, तब यह भवान्तर में साथ रहते हैं, या इसी भव में रह जाते हैं? अर्थात् यह अगले भव में साथ जाते हैं या नहीं?

जीव वर्तमान काल में जो भव भोग रहा है वह इहभव कहलाता है। इहभव का ज्ञान आगामी भव में जायेगा या नहीं?

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि ज्ञान तीनों तरह का है। कोई ज्ञान ऐहभविक है अर्थात् वर्तमान भव में ही रहता है, परभव में साथ नहीं जाता। कोई ज्ञान पारभविक है अर्थात् आगामी जन्म में भी आत्मा के साथ जाता है और कोई ज्ञान उभयभविक है अर्थात् इस भव और परभव में साथ रहता है।

उभयभविक ज्ञान एक प्रकार से पारभविक ज्ञान ही है; मगर यहां उसे अलग ग्रहण किया है। अतएव उभयभविक ज्ञान का अर्थ इह पर भविक ज्ञान लेना चाहिए। तात्पर्य यह है कि कोई–कोई ज्ञान अगले जन्म से भी अगले जन्म में साथ रहता है। उसे यहां उभयभविक ज्ञान कहा है।

इस वर्णन से निम्नलिखित बातें स्पष्ट हो जाती है–

(1) इस भव में ज्ञान नहीं है, इस कारण परभव में भी ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता, यह बात नहीं है।
(2) परलोक में ज्ञान जाता है। ज्ञान–उपार्जन करने के लिए जो प्रयास किया गया है, उसका फल इसी जन्म में समाप्त नहीं हो जाता। एक जन्म का प्रयास अनेक जन्मों तक फलदायक होता है।
(3) जिसने इस जन्म में ज्ञान का अध्ययन नहीं किया, उसे परभव में भी पश्चात्ताप करना पड़ता है। ठाणांग सूत्र में कहा है– जो साधु, शिक्षक का योग मिलने पर भी और भिक्षा आदि की असुविधा न होने पर भी ज्ञान की आराधना नही करता, वह देवभव में जाकर पश्चात्ताप करता है।

जो वस्तु परलोक में साथ जाने वाली नहीं है, उसके लिए लोग प्रयत्न करते है, यहां तक कि ऐसी वस्तुओं के लिए ही सम्पूर्ण जीवन व्यतीत कर देते है। मगर जो साथ जाने वाली है, उसी के लिए प्रयत्न कम करते हैं अथवा करते ही नही हैं। जो वस्तु इस भव मे भी शायद ही पूरा साथ देती है, जो पल भर मे नष्ट–भ्रष्ट या पराई बन जाती है, जो थोड़ी ही देर तक रुचिकर प्रतीत होती है और थोडी देर मे अरुचिकर बन जाती हैं, इसी तुच्छ चीज के

लिए जीवन निछावर कर देना और परभव में भी आनन्द देने वाली वस्तु की ओर उपेक्षा रखना, कितने अविवेक की बात है!

प्रतिदिन थोड़ा–थोड़ा ज्ञान प्राप्त किया जाय तो कुछ ही दिनों में बहुत सा ज्ञान हो सकता है; लेकिन इस ओर कौन ध्यान देता है?

इस प्रश्नोत्तर में उनका भी समाधान हो गया है, जो आत्मा को ज्ञानशून्य मानते हैं, अर्थात् जिनके मत के अनुसार मोक्ष में ज्ञान का अभाव हो जाता है।

बौद्ध लोग आत्मा को क्षणिक मानते हैं। उनके मत के अनुसार परलोक में अनुयायी आत्मा नहीं है। इस प्रश्नोत्तर से उनके मत का भी खंडन हो जाता है। अगर आत्मा परलोक में न जाता तो आत्मा का ज्ञान–गुण भी कैसे जा सकता है?

इस प्रकार गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने फरमाया– हे गौतम! ज्ञान इस भव में भी साथ रहता है, परभव में भी साथ रहता है और परतरभव में भी साथ रहता है।

दर्शन का अर्थ यहां सम्यक्त्व है; क्योंकि मोक्ष–मार्ग का प्रकरण है। मोक्षमार्ग के प्रकरण में दर्शन का अर्थ सम्यक्त्व ही लिया जाता है। दर्शन के विषय में भी वही उत्तर समझना चाहिए, जो ज्ञान के सम्बन्ध में दिया गया है।

यहां यह प्रश्न हो सकता है कि तत्त्वार्थ सूत्र में 'सम्यग्–दर्शन–ज्ञान–चारित्राणि मोक्षमार्गः' इस सूत्र में पहले सम्यग्–दर्शन और उसके अनन्तर ज्ञान का उल्लेख किया है; मगर यहां पहले ज्ञान का और फिर दर्शन का उल्लेख किया है। इन दो क्रमों में से कौन–सा क्रम ठीक माना जाय? इसका समाधान यह है कि वास्तविक रीति से पहले सम्यग्दर्शन ही आता है, मगर उपकार की दृष्टि से पहले सम्यग्ज्ञान का ही उल्लेख किया जायेगा। मेघ हटने पर सूर्य जब उदित होता है तो उसका प्रताप और प्रकाश एक साथ ही प्रकट होता है, उसी प्रकार जब मिथ्यात्व–मोहनीय रूपी मेघ पटल का विनाश होता है तब सम्यग् दर्शन और सम्यग्ज्ञान एक ही साथ आत्मा में प्रकट होते हैं। उनमें क्रम की कल्पना नहीं की जा सकती। इसी प्रकार ज्ञान और दर्शन सहभावी हैं। जहां ज्ञान है, वहां दर्शन है, जहां दर्शन है वहां ज्ञान भी है। ऐसा होने पर भी ज्ञान को सम्यक् बनाने वाला दर्शन है। अतएव कहीं–कहीं दर्शन को प्रथम स्थान दिया गया है। मगर ज्ञान के बिना श्रद्धा (सम्यक्त्व) नहीं जानी जा सकती, इसलिए ज्ञान की महत्ता प्रदर्शित करने के लिए यहां उसे प्रथम स्थान दिया गया है।

अब चारित्र का प्रश्न उपस्थित होता है। गौतम स्वामी पूछते हैं– भगवन्! चारित्र ऐहभविक है, पारभविक है या उभयभविक है? भगवान् इसका उत्तर देते हैं– गौतम! चारित्र इसी भव में रहता है, परभव में साथ नहीं जाता।

चारित्र की ही तरह तप और संयम का भी प्रश्नोत्तर है। अर्थात् जैसे चारित्र परभव में साथ नहीं जाता, उसी प्रकार तप और संयम भी नहीं जाता।

चारित्रवान् पुरुष, इस भव में जिस चारित्र से चारित्री हुआ था, परभव में भी उसी चारित्र से चारित्री हो या वही चारित्र परलोक में भी साथ जाय, यह बात नहीं है। इसी कारण चारित्र धारणा करते समय यावज्जीवन की प्रतिज्ञा ली जाती है, जन्मान्तर की नहीं। चारित्र की अवधि मृत्यु हो जाने पर पूर्ण हो जाती है।

प्रश्न होता है कि अगर इस भव का चारित्र परभव में साथ नहीं जाता तो न सही, परभव में नया चारित्र उत्पन्न होता है या नहीं? इसका उत्तर यह है कि मुनि सर्वचारित्री हैं और श्रावक देशचारित्री हैं। इस जन्म के पश्चात् यह दोनों ही देवगति में जाते है और देवगति में चारित्र का अभाव है। अतः परभव में चारित्र उत्पन्न नहीं होता।

जो साधु मोक्ष जाते हैं, उनमें भी चारित्र की उत्पत्ति असंभव है, क्योंकि कर्मो का क्षय करने के लिए ही चारित्र का अनुष्ठान किया जाता है और कर्मों का क्षय हो जाने पर ही मोक्ष प्राप्त होता है, इसलिए मोक्ष में चारित्र की कोई उपयोगिता ही नहीं है। चारित्र धारण करते समय जीवनपर्यन्त की प्रतिज्ञा ली थी, वह पूर्ण हो गई और मोक्ष में नया चारित्र उत्पन्न नहीं होता। इस प्रकार मोक्ष में भी चारित्र नहीं है। यहां स्वरूप–रमण रूप चारित्र का ग्रहण नहीं किया, मगर अनुष्ठान रूप–क्रियास्वरूप–चारित्र लिया गया है।

शंका–चारित्रमोहनीय कर्म के क्षय से उत्पन्न होने वाला चारित्र मोक्ष मे क्यो नही है?

समाधान– इस शंका का समाधान पहले ही हो गया है। अनुष्ठान रूप चारित्र की मर्यादा पूर्ण हो गई, अतएव वह मोक्ष मे नहीं रहा। हां, आत्मा का सत् चित्–आनन्द रूप सहज चारित्र मोक्ष मे भी विद्यमान रहता है।

इसके अतिरिक्त क्रिया शरीर से होती है और सिद्ध शरीर–रहित होते है। अतएव सिद्ध भगवान् न चारित्री हैं, न अचारित्री ही कहे जा सकते हैं। अव्रत का अभाव होने से उन्हें अचारित्री नही कहा जा सकता।

अब प्रश्न यह है कि तप इस भव में है, परभव में है, या दोनों भवों में है? इस प्रश्न का उत्तर चारित्र के समान ही है।

तेरहपंथियों की यह मान्यता है कि अहिंसा, संयम और तप, इस क्रम में से संयम तो ऊपर के गुणस्थान वालों में ही होता है, लेकिन तप मिथ्यात्वी को भी होता है। मगर यह मान्यता भ्रमपूर्ण है, क्योंकि तप, चारित्र से अलग नहीं है। चारित्र में ही तप का अन्तर्भाव होता है।

अनन्तानुबन्धी चौकड़ी (क्रोध, मान, माया, लोभ) का क्षयोपशम या क्षय होने पर सम्यग्दृष्टि होती है और अप्रत्याख्यान– चौकड़ी का क्षयोपशम या क्षय होने पर– देश चारित्र होता है। उदाहरणार्थ– जिसकी अप्रत्याख्यानी चौकड़ी का क्षय या क्षयोपशम नहीं हुआ है, उसने अगर तेला किया, तो वह तेला चारित्र के अंश रूप तप के अन्तर्गत नहीं होगा, अपितु अभिग्रह रूप होगा। इस प्रकार तप और संयम चारित्र के ही अंग होने से उनके सम्बन्ध में प्रश्न और उत्तर भी उसी प्रकार के होंगे, जो चारित्र के विषय में हैं।

किसी–किसी का कथन है कि दर्शन से भ्रष्ट होने वाला सिद्ध नहीं हो सकता, किन्तु चारित्रभ्रष्ट सिद्ध हो सकता है। अतएव चारित्र की अपेक्षा दर्शन अधिक वांछनीय हैं और दर्शन की अपेक्षा चारित्र सामान्य वस्तु है। यह कथन शास्त्रकार को स्वीकार नहीं है। अतएव जिनका ऐसा कथन है, उन्हें गौतम! स्वामी और भगवान् महावीर के प्रश्नोत्तर में शिक्षा दी जाती है।

असंवृत अनगार सम्बन्धी

प्रश्नोत्तर–

मूलपाठ–

प्रश्न–असंवुडे णं भंते! अणगारे किं सिज्झइ, बुज्झइ, मुच्चइ, परिनिव्वाइ, सव्वदुक्खाणं अंतं करेइ?

उत्तर– गोयमा! णो इणट्ठे समट्ठे?

प्रश्न– से केणट्ठेणं, जाव–नो अंतं करेइ?

उत्तर– गोयमा! अंसंवुडे अणगारे आउवज्जाओ सत्तकम्मपगडीओ सिढिअबंधणबद्धाओ धणियबंधणबद्धाओ पकरइ; हस्सकालठिइयाओ दीहकालठियाओ पकरेइ, मंदाणुभावाओ तिव्वाणुभावाओ पकरेइ, अप्पपएसग्गाओ बहुप्पएसग्गाओ पकरेइ; आउयं च णं कम्मं सिय बंधइ, सियनो बंधइ। अस्सायावेयणिज्जं च णं कम्मं भुज्जो भुज्जो उवचिणइ, अणाइयं च णं अणवयग्गं दीहमद्धं चाउरंत–संसारकंतारं अणुपरिट्टइ। से तेणट्ठेणं गोयमा! असंवुडे अणगारे णो सिझइ, जावणो अंतं करेइ।

असातावेदनीयं च कर्म भूयो भूय उपचिनौति, अनादिकं च अनवनताग्रं, दीर्घाध्वम्, च तुरन्तसंसारकान्तारमनुपर्यटति। तत् तेनार्थेन गौतम! असंवृतोऽनगारो नो सिध्यति, यावत् नो अन्तं करोति।

मूलार्थ–प्रश्न–भगवन्! क्या असंवृत अनगार सिद्ध होता है, बुद्ध होता है, मुक्त होता है, निर्वाण प्राप्त करता है, सव दुःखों का अन्त करता है?

उत्तर– गौतम! यह अर्थ समर्थ–ठीक नहीं है।

प्रश्न– भगवन्! सो किस कारण से यावत् दुःखों का अंत नहीं करता?

उत्तर– गौतम! असंवृत अनगार आयु को छोड़कर शिथिल वंध से वांधी हुई सात कर्म–प्रकृतियों को धन रूप से वांधना आरंभ करता है, अल्पकालीन स्थिति वाली प्रकृतियों को दीर्घकालीन स्थिति वाली करता है, मंद अनुभाग वाली प्रकृतियों को तीव्र अनुभाग वाली करता है और थोड़े प्रदेश वाली प्रकृतियों को बहुत प्रदेश वाली बनाता है और आयु कर्म को कभी बांधता है, कभी नहीं भी बांधता। असाता वेदनीय कर्म को बारंबार उपार्जन करता है, तथा अनादि, अनंत, दीर्घ मार्ग वाले, चतुर्गति रूप संसार रूपी अरण्य में बार–वार पर्यटन करता है। इस कारण हे गौतम! असंवृत अनगार सिद्ध नहीं होता, यावत्–सर्व दुःखों का अन्त नहीं करता।

व्याख्यान– श्री गौतम स्वामी प्रश्न करते हैं कि– हे भगवन्, असंवृत अनगार क्या सिद्ध गति को प्राप्त करता है? वह क्या बुद्ध होता है? मुक्त होता है? निर्वाण पाता है? समस्त दुःखों का अन्त करता है?

इस प्रश्न का उत्तर समझने से पहले यह जान लेना आवश्यक है कि असंवृत अनगार किसे कहते हैं? जिसने आस्रवद्वार को नहीं रोका है, अर्थात् जो कर्म का आस्रव करने वाली क्रियाएं करता है जिसकी प्रवृत्ति हिंसा और मृषावाद आदि में है, जो अदत्त को ग्रहण करता है, जो ब्रह्मचर्य का भी भलीभांति पालन नहीं करता, जो अपरिग्रही भी नहीं है, फिर भी जो अनगार कहलाता है, उसे असंवृत अनगार समझना चाहिए।

प्रश्न होता है कि जिसमें साधु के अहिंसा आदि लक्षण ही नहीं पाये जाते, उसे अनगार या साधु क्यों कहा जाय? इसका उत्तर यह है कि यद्यपि वह वास्तव में साधु नहीं है, फिर भी अपने आपको साधु के रूप में प्रसिद्ध करता है, बाह्य चिह्न भी वह साधु के ही रखता है, इस कारण लोक में वह साधु कहलाता है। मगर क्योंकि वह साधु के सम्पूर्ण आचार का पालन नहीं करता, इसलिए केवल नाम और भेष के उस साधु को यहां असंवृत (असंवुड) अनगार कहा है। ऐसा साधु क्या मुक्ति प्राप्त करता है? यह गौतम स्वामी का प्रश्न है।

चरम भव–अन्तिम जन्म की प्राप्ति होने पर सिद्धि प्राप्त होती है। अतएव 'सिद्ध होता है' इस क्रियापद का अर्थ यहां यह समझना चाहिए– 'चरम भव प्राप्त करके मोक्ष के योग्य होता है।'

चरम भव प्राप्त करने पर भी बुद्ध सब नहीं होते। जिन्हें केवल ज्ञान प्राप्त हो जाता है, उन्हें बुद्ध कहते हैं। तात्पर्य यह है कि चरम शरीरी मनुष्य को भावी नय की अपेक्षा से सिद्ध कह सकते हैं, लेकिन बुद्ध तभी कहेंगे जब केवल ज्ञान प्राप्त हो जाय। अतएव यहां बुद्ध होने का अर्थ केवल ज्ञानी होता है।

मूल पाठ में तीसरा पद 'मुच्चइ' है, जिस जीव को केवल ज्ञान प्राप्त हो चुका है– जो बुद्ध हो गया है– उसके सिर्फ भवोपग्राही कर्म शेष रहते हैं। जब वह भवोपग्राही कर्म को प्रतिक्षण छोड़ता है, तब 'मुक्त' कहलाता है।

चौथा पद 'परिनिव्वाइ' है। 'भवोपग्राही' कर्म को प्रतिक्षण छोड़ने वाला वह महापुरुष कर्मपुद्गलों को ज्यों–ज्यों क्षीण करता जाता है, त्यों–त्यों शीतल होता जाता है। इस प्रकार की शीतलता प्राप्त करना ही निर्वाण प्राप्त करना कहलाता है।

निर्वाण के विषय में बौद्धों की मान्यता कुछ विलक्षण ही है। एक बार बुद्ध से पूछा गया– 'मुक्त जीव कहां जाता है?' इस प्रश्न के उत्तर में बुद्ध ने प्रश्न किया– 'दीपक बुझ कर कहा जाता है?' जब उनसे यह कहा गया कि दीपक बुझने पर कुछ शेष नहीं रहता– दीपक शून्य रूप में परिणत हो जाता है; तब बुद्ध ने कहा– इसी प्रकार मुक्त होने पर जीव शून्य हो जाता है, कुछ भी नही रह जाता। मगर वास्तविक बात यह नहीं है। किसी भी सत् वस्तु का सर्वथा नाश नही होता। जो है, वह सदा रहेगी ही। उसकी अवस्थाओ मे परिवर्तन तो होगा, मगर उसका सर्वथा नाश होना संभव नहीं है। दीपक का भी सर्वथा नाश नही हो जाता है। दीपक तेज के परमाणुओं का समुदाय है। जब वह बुझता है तो तेज के परमाणु अन्धकार के परमाणुओं के रूप मे परिणत हो जाते है– सर्वथा नष्ट नहीं हो सकते। तेज और अन्धकार, दोनो पौद्गलिक हैं और उनमें यह अवस्था–भेद होता रहता है। अतएव दीपक द्रव्य रूप से कायम रहता है।

इस विषय का विस्तारपूर्वक विचार न्यायशास्त्र मे किया गया है। वह जरा गहन विचार है, अतएव यहां उसे छोड़ देते है। तात्पर्य यह है कि जैसे दीपक बुझ जाने पर भी सर्वथा नष्ट नही होता– तामस परमाणुओं के रूप मे पलट जाता है और द्रव्य रूप से विद्यमान रहता है, उसी प्रकार मुक्त जीव

भी, द्रव्य दृष्टि से विद्यमान रहता है। उसकी पहले की अवस्था बदलती है, नवीन अवस्था उत्पन्न होती है, मगर द्रव्य से आत्मा नष्ट नहीं होता।

जिस जीव ने चरम भव प्राप्त किया, केवलज्ञान भी पा लिया, जो भवोपग्राही कर्मों को क्षीण कर रहा है, वही जीव अपने चरम भव के अन्त में जब सब कर्म–अंशों को क्षय कर चुकता है, तब उसके समस्त दुःखों का अन्त होता है। दुःखों का सर्वथा अन्त होने पर शद्धु सुख ही सुख शेष रह जाता है।

यहां यह स्मरण रखना चाहिए कि वास्तव में कर्म ही दुःख हैं। वह कर्म भले ही उच्च गति के कारण हों, लेकिन हैं दुःख रूप ही। सब कर्मो से मुक्त होना ही सब दुःखों का अन्त करना कहलाता है। कर्म की उपाधि से मिलने वाला सुख वास्तविक रूप में दुःख ही है। कर्म के उदय से प्राप्त होने वाले दुःख को तो सभी दुःख मानते हैं, मगर ज्ञानी जन कर्म से प्राप्त होने वाले सुख को भी दुःख रूप ही मानते हैं। अगर ऐसा न माना जाय तो आत्मा का विकास नहीं हो सकता और सहज–सिद्ध शाश्वत सुख की प्राप्ति भी नहीं हो सकती।

गौतम स्वामी का प्रश्न है कि असंवृत अनगार क्या इस गति को प्राप्त करता है? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् फरमाते हैं– हे गौतम! ऐसी बात नहीं है, अर्थात् असंवृत अनगार मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता।

भगवान् का संक्षिप्त उत्तर सुनकर गौतम स्वामी फिर पूछते हैं– प्रभो! असंवृत अनगार मुक्ति क्यों प्राप्त नहीं कर सकते? वह भी तो अनगार हुए हैं। भगवान् फर्माते हैं– गौतम, बाह्य अनगारपन ही मोक्ष का कारण नहीं है। आस्रव का त्याग ही वास्तविक अनगारपन है और वही मोक्ष का हेतु है। केवल घर–द्वार का त्याग कर देने से ही कोई सच्चा अनगार नहीं हो जाता और न मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

हे गौतम! अनगार हो करके भी जो आस्रव को नहीं रोकता है, उसकी क्या स्थिति होती है, वह ध्यानपूर्वक सुन। वह असंवृत अनगार आयु कर्म के सिवाय सात कर्मों को पुष्ट करता है।

भगवान् ने यह उत्तर क्यों दिया है, इस सम्बन्ध में टीकाकार कहते हैं– इस सम्बन्ध में आगे विचार किया जायेगा। असंवृत अनगार की मोक्ष–प्राप्ति अनेक दोष रूपी मुद्गरों से चूर्ण हो जाती है। अर्थात् असंवृत को मोक्ष मानने से अनेक प्रबल दोष आते हैं। उन पर आगे प्रकाश डाला गया है।

जो लोग चारित्र भ्रष्ट को भी मोक्ष मानते हैं, उनकी मान्यता को दूषित करने के लिए यह कथन किया गया है।

यहां आयुकर्म को पृथक् कर दिया है, क्योंकि वह बार–बार नहीं बंधता, बल्कि एक भव में एक बार ही बंधता है और वह भी एक अन्तर्मुहूर्त्त में ही बंध जाता है। शेष सात कर्मों को, अगर वे शिथिल बंधे हों तो मजबूत रूप से बांध लेता है। मोक्ष कर्मों का सर्वथा नाश होने पर होता है और असंवृत अनगार कर्मों को और अधिक सुदृढ़ बनाता है। ऐसी स्थिति में उसे मोक्ष कैसे प्राप्त हो सकता है?

असंवृत अनगार ढीले कर्मों को मजबूत करता है, रूखे कर्मों को चिकने करता है, अर्थात् आत्मप्रदेशों के साथ कर्मों का प्रगाढ़ सम्बन्ध कर लेता है।

यहां शुभ कर्म का ग्रहण न करके अशुभ कर्म का ही ग्रहण करना चाहिए। क्योंकि यहां असंवृत अनगार की निन्दा का प्रकरण है। तात्पर्य यह है कि असंवृत अनगार अशुभ कर्मों को ही मजबूत करता है, शुभ कर्मों को नहीं। असंवृत अनगार पहले के अशुभ कर्म के बंध को निधत्त कर लेता है और निधत्त को निकाचित के रूप में परिणत करता है।

'पकरेइ' पद में जो 'प्र' उपसर्ग है, वह प्रारंभ का सूचक है। असंवृत अनगार कर्मों को प्रगाढ़ बंधन में बांधना आरंभ करता है। इसी प्रकार अन्यत्र समझना चाहिए।

असंवृत अनगार की आस्रव में जो प्रवृत्ति होती है वह प्रकृति बंध रूप है क्योंकि असंवृतपन अशुभ योग रूप होता है और योग से प्रकृतिबंध होता है। कहा भी है–

जोगा पयडिपएसं

अर्थात्– योग से प्रकृतिबंध और प्रदेशबंध होता है।

असंवृत अनगार थोड़ी स्थिति वाली कर्म प्रकृतियों को दीर्घकाल की स्थिति वाली बना लेता है, क्योंकि असंवृतपन कषायरूप भी है और कषाय स्थितिबंध का कारण है। इस सम्बन्ध में कहा है–

ठिइ अणुभागं कसायओ कुणइ।

अर्थात्– स्थितिबंध और अनुभागबंध कषाय से होते हैं।

अनुभाग का अर्थ है– रस। असंवृत अनगार मंद रस वाली कर्म–प्रकृतियों को तीव्र रस वाली बनाना आरंभ करता है। अर्थात् पतले रस वाले कर्मों को गाढ़े रस वाले बनाता है। जैसे नीम के पत्ते का रस पतला होता है। उसे औटाया तो वह गाढ़ा हो गया। वह जितना गाढ़ा होगा, उतना ही अधिक कटुक होगा। इसी प्रकार असंवृत अनगार पतले रस वाले कर्मों को गाढ़े रस वाले करता है, जिससे कि उन कर्मों में तीव्र फल देने की शक्ति आ जाती